

# भारतीय समाज और समाजशास्त्र

- 1.1 परिचय
- 1.2 समाज के लिए दृष्टिकोण
- 1.3 समाज की आधारभूत अवधारणा
- 1.4 सामुदायिक संघ
- 1.5 संस्थान वर्ग
- 1.6 जाति
- 1.7 आचार विचार
- 1.8 लोक साहित्य
- 1.9 सामाजिक संघ : शादी, परिवार, जाति धर्म
- 1.10 राजनैतिक व आर्थिक प्रणाली तथा कानून
- 1.11 सामाजिक समूह : संकल्पना, प्रकार
- 1.12 सामाजिक प्रक्रियाएं : संकल्पना समूह के प्रकार
- 1.13 सामाजिक प्रक्रियाएं : सहयोग प्रतियोगिता सामंजस्य संघर्ष और मिलन

---

## 1.1 परिचय

---

एक मानव दृष्टिकोण मानव व्यवहार को समझने के लिए कई सैद्धांतिक दृष्टिकोणों पर जोर देता है; हालांकि, चार मुख्य दृष्टिकोण हैं : स्ट्रक्चरल-फंक्शनलिज्म, सोशल-कॉन्फ्लिक्ट, सिंबोलिक-इंटरैक्शनलिज्म और फेमिनिज्म। एक अर्ध समूह एक समुच्चय अथवा संयोजन होता है, जिसमें संरचना अथवा संगठन की कमी होती है, और जिसके सदस्य समूह के अस्तित्व के प्रति अनभिज्ञ या कम जागरूक होते हैं। पुराने परंपरागत और कृषक जीवन की नए आधुनिक और शहरी जीवन से उनके विभिन्न सामाजिक संबंधों और जीवन-शैली के आधार पर तुलना करने का विचार शास्त्रीय समाजशास्त्रियों के लेखन की ओर ले जाता है। समुदाय का तात्पर्य व्यक्तियों के ऐसे समूह से है, जो किसी निश्चित भू-क्षेत्र में रहते हैं तथा सभी व्यक्ति आर्थिक एवं राजनैतिक क्रियाओं में एक साथ भाग लेते हैं एवं एक स्वायत्त इकाई का निर्माण करते हैं। जाति पर आधारित स्तरीकरण व्यवस्था में व्यक्ति की स्थिति पूरी तरह से जन्म द्वारा मिली हुई प्रस्थिति पर आधारित होती है न कि उन पदों पर जो व्यक्ति ने अपने

जीवन में प्राप्त किए होते हैं। फिर भी यह एक उदाहरण है जिससे पता चलता है कि एक समाज के अनुभवों पर आधारित प्रवृत्ति का सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता है।

## 1.2 समाज के लिए दृष्टिकोण

समाजशास्त्र समाज के भीतर व्यक्ति और समूह के व्यवहार का वैज्ञानिक अध्ययन है। एक मानव दृष्टिकोण मानव व्यवहार को समझने के लिए कई सैद्धांतिक दृष्टिकोणों पर जोर देता है; हालांकि, चार मुख्य दृष्टिकोण हैं : स्ट्रक्चरल-फंक्शनलिज्म, सोशल-कॉन्फ्लिक्ट, सिंबोलिक-इंटरैक्शनलिज्म और फेमिनिज्म। उत्तर आधुनिकतावाद भी समाजशास्त्र की एक सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य विशेषता है, हालांकि अक्सर एक प्रमुख परिप्रेक्ष्य नहीं माना जाता है फिर भी एकाग्रता के अध्ययन का एक क्षेत्र है, जिसमें अनुसंधान और मानव व्यवहार को समझने की समाजशास्त्रीय परंपरा में व्यापक जड़ें हैं। समाजशास्त्री सामाजिक संरचनाओं के बीच गतिशील अंतराल पर जोर देते हैं जो हमारे अनुभव और अभिनेताओं के जानबूझकर कार्यों को प्रभावित करते हैं जो कभी-कभी सामाजिक संरचनाओं को बदल देते हैं।

**स्ट्रक्चरल-फंक्शनलिज्म** को अक्सर फंक्शनलिज्म के रूप में जाना जाता है और इसे समाज के संदर्भ में मानव व्यवहार के व्यापक पहलुओं को समझने का एक उद्देश्य माना जाता है। यह सिद्धान्त इस धारणा को अपनाता है कि समाज उन हिस्सों से बना है जो समाज में स्थिरता में योगदान करते हैं। इस प्रकार समाज को एक पूरी इकाई माना जाता है, जिसमें कई हिस्से परस्पर जुड़े होते हैं और एक साथ कार्य करते हैं।

**एमिल दुर्खीम** को व्यवहार के पैटर्न को प्रभावित करने वाली उद्देश्य सामाजिक स्थितियों को उजागर करने के लिए “सामाजिक तथ्यों” का उपयोग करने की धारणा को अपनाने का श्रेय दिया जाता है।

**सामाजिक संघर्ष** को अक्सर “संघर्ष सिद्धान्त” या “द्विधात्मक” परिप्रेक्ष्य के रूप में संदर्भित किया जाता है, जिसे समाजशास्त्र के असमानता, अर्थात् असमानता के प्रमुख पहलुओं को संबोधित करने वाला प्रमुख सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य माना जाता है। सिद्धान्त इस धारणा को अपनाता है कि एक “वर्ग” संघर्ष है जो उन लोगों के बीच मौजूद है जो “उत्पादन साधन” (पूँजीवादी) और श्रमिक हैं। पूँजीपतियों को अक्सर “बुर्जुआजी” के रूप में जाना जाता है, जबकि श्रमिकों को “सर्वहारा वर्ग” नाम दिया गया है। इस सिद्धान्त का मुख्य विचार “भौतिकवाद” की धारणा में निहित है। यद्यपि अधिकतर जटिल, सरल शब्दों में, भौतिकवाद की धारणा का अर्थ है कि सामाजिक जीवन के भौतिक पहलू को समझने के माध्यम से समाज को समझा जा सकता है।

**सांकेतिक आदान-प्रदान का रास्ता**—प्रतीकात्मक अंतःक्रियावाद को अक्सर “सामाजिक व्यवहारवाद”, या “व्यावहारिकता” के रूप में जाना जाता है। मुख्य रूप से सूक्ष्म सैद्धांतिक दृष्टिकोण के रूप में एकाग्रता व्यक्तिपरक अनुभवों पर है क्योंकि यह हमें समाज के संदर्भ में व्यक्तिगत व्यवहारों को समझने में सक्षम बनाता है। यह परिप्रेक्ष्य “प्रतीकों” (इशारों, शब्दों, चीजों और लोगों को कुछ नाम देने के लिए) पर केन्द्रित है, जिसे हम सामाजिक जीवन के मूल के रूप में अर्थ देते हैं।

इस परिप्रेक्ष्य को आमतौर पर दो विशिष्ट क्षेत्रों में विभाजित किया जाता है : “सामाजिक व्यवहारवाद” या “नाटकीयता”। सामाजिक व्यवहारवाद के जनक हर्बर्ट मीड हैं। नाट्यविद्या के जनक एरिंग गोफमैन हैं।

**पोस्ट-आधुनिकतावाद**—पोस्ट-मॉडर्निज्म की जाँच मैक्रो और माइक्रो दोनों दृष्टिकोण से की जा सकती है। कभी-कभी, इस परिप्रेक्ष्य को “पोस्ट स्ट्रक्चरलिज्म” के रूप में संदर्भित किया जाता है और सांस्कृतिक अध्ययनों की “प्रवचन विश्लेषण” विशेषता को अपनाता है। यह सिद्धान्त “सरकारिता” और “जोखिम विश्लेषण” की भूमिका को आधुनिक युग की विशेषता के रूप में देखता है या कुछ के रूप में आधुनिक युग को देखता है।

---

### 1.3 समाज की आधारभूत अवधारणा

---

समाजशास्त्र मानव के सामाजिक जीवन का अध्ययन है। मानवीय जीवन की एक पारिभाषिक विशेषता यह है कि मनुष्य परस्पर अंतःक्रिया करता है, संवाद करता है और सामाजिक सामूहिकता को बनाता भी है। समाजशास्त्र का तुलनात्मक और ऐतिहासिक दृष्टिकोण दो स्पष्ट अहानिकारक तथ्यों को सामने लाता है। पहला यह है कि प्रत्येक समाज में चाहे वह प्राचीन या सामंतीय अथवा आधुनिक हो, एशियन या यूरोपियन या अफ्रीकन हो, मानवीय समूह और सामूहिकताएँ विद्यमान रहती हैं। दूसरा यह है कि विभिन्न समाजों में समूहों और सामूहिकताओं के प्रकार अलग-अलग होते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि किसी भी तरह से लोगों का इकट्ठा होना एक सामाजिक समूह बनाए। समुच्चय सिर्फ लोगों का जमावड़ा होता है जो एक समय में एक ही स्थान पर एकत्र होते हैं लेकिन एक दूसरे से कोई निश्चित संबंध नहीं रखते। एक रेलवे स्टेशन या हवाई अड्डे या बस स्टॉप पर प्रतीक्षा करते यात्री या सिनेमा दर्शक समुच्चय के उदाहरण हैं। समुच्चय को अक्सर अर्ध समूहों का नाम दिया जाता है।

एक अर्ध समूह एक समुच्चय अथवा संयोजन होता है, जिसमें संरचना अथवा संगठन की कमी होती है, और जिसके सदस्य समूह के अस्तित्व के प्रति अनभिज्ञ या कम जागरूक होते हैं। सामाजिक वर्गों, प्रस्थिति समूहों, आयु एवं लिंग समूहों, भीड़ को अर्ध समूह के उदाहरणों के रूप में देखा जा सकता है। जैसा कि ये उदाहरण दर्शाते हैं, अर्ध समूह समय और विशेष परिस्थितियों में सामाजिक समूह बन सकते हैं। उदाहरणार्थ यह संभव है कि एक विशेष सामाजिक वर्ग या जाति अथवा समुदाय से संबंधित व्यक्ति एक सामूहिक निकाय के रूप में संगठित न हो। उनमें अभी ‘हम’ की भावना आनी बाकी हो। परंतु वर्ग और जाति ने समय बीतने के साथ-साथ राजनीतिक दलों को जन्म दिया है। उसी प्रकार भारत के विभिन्न समुदायों के लोगों ने लंबे उपनिवेश-विरोधी संघर्ष के साथ-साथ अपनी पहचान एक सामूहिकता और समूह के रूप में विकसित की है—एक राष्ट्र जिसका मिला-जुला अतीत और साझा भविष्य है। महिला आंदोलन ने महिलाओं के समूह और संगठनों का विचार सामने रखा। ये सभी उदाहरण इस बात की तरफ ध्यान खींचते हैं कि किस प्रकार सामाजिक समूह उभरते हैं, परिवर्तित होते हैं और संशोधित होते हैं।

---

### 1.4 सामुदायिक संघ

---

पुराने परंपरागत और कृषक जीवन की नए आधुनिक और शहरी जीवन से उनके विभिन्न सामाजिक संबंधों और जीवन-शैली के आधार पर तुलना करने का विचार शास्त्रीय समाजशास्त्रियों के लेखन की ओर ले जाता है। ‘समुदाय’ से तात्पर्य उन मानव संबंधों से है, जो बहुत अधिक वैयक्तिक, घनिष्ठ और चिरस्थायी होते हैं, जहाँ एक व्यक्ति की भागीदारी सच्चे मित्रों अथवा एक सुगठित समूह में भले ही परिवार जितनी नहीं परंतु महत्वपूर्ण होती है।

‘समाज’ अथवा ‘संघ’ का तात्पर्य हर तरह से ‘समुदाय’ के विपरीत है, विशेषतः आधुनिक नगरीय जीवन के स्पष्टतः अवैयक्तिक, बाहरी और अस्थायी संबंध। वाणिज्य और उद्योग की आवश्यकता यह है कि एक व्यक्ति का व्यवहार दूसरे व्यक्ति से नपा-तुला, युक्तिसंगत एवं निजी हितों के अनुसार हो। हम एक-दूसरे को जानने की अपेक्षा करार अथवा समझौता करते हैं। आप समुदाय और प्राथमिक समूह को समान मान सकते हैं और संघ व द्वितीयक समूह को समतुल्य मान सकते हैं। अंतःसमूह एवं बाह्य समूह संबंधित होने की भावना अंतःसमूह की पहचान बनाती है। यह भावना ‘हमें’ या ‘हम’ को ‘उन्हें’ अथवा ‘वे’ से अलग करती है। एक स्कूल में पढ़ने वाले बच्चे, उस स्कूल में नहीं पढ़ने वाले बच्चों के विरुद्ध एक अंतःसमूह बना सकते हैं। क्या आप ऐसे किन्हीं दूसरे समूहों के बारे में सोच सकते हैं? इसके विपरीत, एक बाह्य समूह वह होता है जिससे एक अंतःसमूह के सदस्य संबंधित नहीं होते। एक बाह्य समूह के सदस्यों को अंतःसमूह के सदस्यों की ओर से प्रतिकूल व्यवहार का सामना करना पड़ सकता है। प्रवासियों को अकसर बाह्य समूह माना जाता है। हालाँकि, यहाँ भी कौन संबंधित है और कौन संबंधित नहीं की वास्तविक परिभाषा, समय और सामाजिक संदर्भों के साथ बदलती रहती है। प्रख्यात समाजशास्त्री एम.एन. श्रीनिवास ने 1948 में रामपुरा में जनगणना करते समय देखा कि किस प्रकार नए और पुराने प्रवासियों के बीच भेदभाव किया गया था। वे लिखते हैं—

मैंने ग्रामीणों को दो कथनों का प्रयोग करते सुना जो मुझे महत्वपूर्ण प्रतीत हुए—नए प्रवासियों का लगभग तिरस्कृत रूप से नन्ने मुन्ने बंदावरतु कहकर वर्णन किया जाता था जबकि पुराने प्रवासियों का वर्णन अरशेयिंदा बंदावारू या खादीम कुलागालू (पुराने वंश) के रूप में किया गया था।

---

## 1.5 संस्थान वर्ग

---

समुदाय का तात्पर्य व्यक्तियों के ऐसे समूह से है, जो किसी निश्चित भू-क्षेत्र में रहते हैं तथा सभी व्यक्ति आर्थिक एवं राजनैतिक क्रियाओं में एक साथ भाग लेते हैं एवं एक स्वायत्त इकाई का निर्माण करते हैं। समुदाय का एक साझा मूल्य होता है जिससे वे एक-दूसरे से जुड़े रहने की अनुभूति करते हैं। जैसे—गाँव, टोला, पड़ोस, कस्बा आदि। **किंग्सले डेविस** के अनुसार “समुदाय वह सबसे छोटा क्षेत्रीय समूह जिसके अंतर्गत जीवन के सभी पहलू आ जाते हैं।”

**गिन्सबर्ग** के अनुसार समुदाय एक निश्चित भू-भाग में रहने वाली वह समस्त जनसंख्या है, जो सामान्य नियमों की व्यवस्था द्वारा जीवन की अंतःक्रिया को प्रभावित कर साथ-साथ रहते हैं।

समुदाय में सामाजिक संबंधों का होना आवश्यक नहीं है, इसमें अंतःक्रिया या संबंध हो भी सकता है और नहीं भी। वस्तुतः समुदाय निर्माण का मुख्य आधार **स्वजातीय चेतना** या **हम की भावना** होती है।

स्वजातीय चेतना उस चेतना को कहते हैं जिसके द्वारा समुदाय के सदस्य यह अनुभव करते हैं कि वे साझे रूप से सामान विचारों, लक्षणों तथा परिस्थितियों से बंधे हैं। किसी एक पर समस्या या खतरा पूरे समूह या समुदाय के संकट के रूप में महसूस किया जाने लगता है। उदाहरण के लिए यदि गाँव में किसी के यहाँ चोरी या डकैती होती है तो गाँव के सभी लोग संकट या डर महसूस करने लगते हैं। यही कारण है कि समुदाय में “हम की भावना” पायी जाती है।

**समुदाय की विशेषताएँ**—1. व्यक्तियों का समूह—समुदाय व्यक्तियों का समूह होता है। अतः यह एक मूर्त संगठन है, जिसमें एक-दूसरे की सहायता से सभी के सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

2. निश्चित भू-भाग—प्रत्येक समुदाय का एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र होता है, इसे मैकाइवर स्थानीय क्षेत्र कहते हैं। कभी-कभी इस क्षेत्र में परिवर्तन भी होता है, जैसे उद्योग में वृद्धि होने से किसी गाँव की जनसंख्या में वृद्धि हो जाय, और उसके भू-क्षेत्र में विस्तार हो जाए।

3. सामुदायिक भावना—इसे हम की भावना भी कहते हैं। निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में लोगों के एक-दूसरे के साथ रहने एवं जीवन की सामान्य गतिविधियों में भाग लेने से सामूहिक लगाव हो जाता है एवं समुदाय को व्यक्ति स्वयं से जोड़ लेता है। इसे ही सामुदायिक भावना कहते हैं।

**सीमिति**—मनुष्य अपने दिन-प्रतिदिन की सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति समुदाय से कर लेता है, किंतु उसके विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति समुदाय से नहीं हो पाती है। अतः विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जब कुछ लोग संगठन बनाकर प्रयत्न करते हैं, तो ऐसे संगठन को सीमिति कहा जाता है। सीमिति में संगठित सामाजिक संबंध पाया जाता है एवं यह शक्ति के विभाजन पर आधारित होता है, जैसे किसी सीमिति का अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, कोषाध्यक्ष अन्य सदस्य आदि। सीमिति के सदस्यों के उद्देश्य समान होते हैं। इस तरह सीमिति आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, मनोरंजनात्मक उद्देश्यों के लिए कि प्राप्ति के लिए हो सकती है।

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार “सीमिति मनुष्यों का एक समूह है जिसे किसी सामान्य उद्देश्य या उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए संगठित किया जाता है।”

**सीमिति की विशेषताएँ**—1. व्यक्तियों का समूह—सीमिति का निर्माण कुछ लोग अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए साथ मिलकर करते हैं। इस तरह यह एक मूर्त संगठन भी है।

2. निश्चित उद्देश्य—उद्देश्य के निर्धारण के बाद ही सीमिति का निर्माण किया जाता है। किसी भी उद्देश्यहीन समूह को सीमिति नहीं कहा जा सकता है।

3. एक औपचारिक संगठन—सीमिति के सदस्यों का कार्य निश्चित नियमों के अनुसार निर्धारित कर दिया जाता है एवं प्रत्येक सदस्य शक्ति के विभाजन के आधार पर औपचारिक रूप से संगठित होकर कार्य करते हैं।

4. ऐच्छिक सदस्यता—किसी भी सीमिति का सदस्य बनना या न बनना पूर्णतः व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करता है। व्यक्ति अपने हित या रुचि के अनुसार सीमिति का सदस्य बन सकता है एवं अपनी इच्छानुसार सदस्यता से त्यागपत्र दे सकता है।

**समुदाय एवं सीमिति में अंतर**—समुदाय के द्वारा व्यक्ति की सामान्य आवश्यकता की पूर्ति होती है। लेकिन विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति समुदाय द्वारा नहीं हो पाती है, इस पूर्ति के लिए जब व्यक्ति अपने जैसे हित वाले व्यक्तियों के साथ तालमेल करता है एवं परस्पर सहयोग कर संगठित रूप से हितों को पूरा करने के लिए समूह का निर्माण करता है तो इसे सीमिति कहते हैं, जैसे क्रिकेट खेलने में रुचि लेने वाले व्यक्ति क्लब बनाकर सदस्य बन जाते हैं।

1. समुदाय एक बड़ा मानव समूह होता है जबकि सीमिति में अपेक्षाकृत कम सदस्य होते हैं।

2. समुदाय का एक निश्चित भू-क्षेत्र होता है, जबकि सीमिति भू-क्षेत्र से बंधी नहीं होती है।

3. समुदाय का विकास स्वतः होता है, जबकि सीमिति को विशेष उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कृत्रिम रूप से बनाया जाता है।
4. समुदाय की सदस्यता अनिवार्य होती है जबकि सीमिति की सदस्यता ऐच्छिक होती है।
5. समुदाय, प्रथाओं एवं परंपराओं के माध्यम से कार्य करती है, जबकि सीमिति निर्मित नियम के माध्यम से कार्य करती है।
6. समुदाय में हम कि भावना प्रमुख तत्व होता है, जबकि सीमिति से हम की भावना आवश्यक नहीं है।
7. समुदाय में व्यक्ति के समग्र जीवन का एक बड़ा भाग शामिल होता है, जबकि सीमिति में समग्र जीवन का छोटा भाग शामिल होता है।

---

## 1.6 जाति

---

जाति पर आधारित स्तरीकरण व्यवस्था में व्यक्ति की स्थिति पूरी तरह से जन्म द्वारा मिली हुई प्रस्थिति पर आधारित होती है न कि उन पदों पर जो व्यक्ति ने अपने जीवन में प्राप्त किए होते हैं। कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि एक वर्ग समाज में उपलब्धि पर कोई योजनाबद्ध प्रतिबंध नहीं होता जो कि प्रजाति और लिंग सरीखी प्रदत्त प्रस्थिति द्वारा थोपा जाता है। हालाँकि एक जातिवादी समाज में जन्म द्वारा प्रदत्त प्रस्थिति एक व्यक्ति की स्थिति को, एक वर्ग समाज की तुलना में ज्यादा पूर्ण ढंग से परिभाषित करती है। परंपरागत भारत में, विभिन्न जातियाँ सामाजिक श्रेष्ठता का अधिक्रम बनाती थी। जाति संरचना में प्रत्येक स्थान दूसरों के संबंध में इसकी शुद्धता या अपवित्रता के द्वारा परिभाषित था। इसके पीछे यह विश्वास था कि पुरोहित जाति ब्राह्मण जोकि सबसे अधिक पवित्र हैं, बाकी सबसे श्रेष्ठ हैं और पंचम, जिनको कई बार 'बाह्य जाति' कहा गया, सबसे निम्न हैं। परंपरागत व्यवस्था को सामान्यतः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के चार वर्णों के रूप में संकल्पित किया गया है। वास्तविकता में, व्यवसाय- आधारित अनगिनत जाति समूह होते हैं जिन्हें जाति कहा जाता है। भारत में जाति व्यवस्था में समय के साथ-साथ बहुत से परिवर्तन आए हैं। कथित उच्च जातियों की पवित्रता को बनाए रखने के लिए अंतःविवाह और अनुष्ठानों में कथित निम्न जाति के सदस्यों की अनुपस्थिति बहुत आवश्यक मानी जाती थी। नगरीकरण द्वारा लाए गए परिवर्तनों ने इसे अनिवार्य रूप से चुनौती दी। प्रसिद्ध समाजशास्त्री ए.आर.देसाई के निम्न प्रेक्षण को पढ़ें। हालाँकि परिवर्तन हुआ था, परंतु भेदभाव को दूर करना इतना आसान नहीं था, जैसाकि उपरोक्त कथन कहता है। मिल में, उस प्रकार का खुला भेदभाव न हो जैसाकि गाँवों में होता है, परंतु निजी अंतःक्रिया के अनुभव दूसरी कहानी बताते हैं। परमार ने देखा...

वे हमारे हाथों से पानी भी नहीं पीते और हमसे व्यवहार करते समय कई बार गाली-गलौजवाली भाषा का प्रयोग करते हैं। ये इसलिए है क्योंकि वे यह महसूस करते हैं और विश्वास रखते हैं कि वे श्रेष्ठ हैं। वर्षों से ऐसा ही चला आ रहा है। हम कितनी भी अच्छी वेशभूषा धारण करें, उससे कोई फर्क नहीं पड़ता। वे कुछ चीजों को अपनाने के लिए तैयार नहीं हैं। आज भी बहुत अधिक जातिगत भेदभाव उपस्थित है। पर साथ ही लोकतंत्र की कार्य प्रणाली ने जाति व्यवस्था को प्रभावित किया है। जाति हित समूह के रूप में मजबूत हुई है। हमने भेदभावग्रस्त जातियों को समाज में अपने लोकतंत्रीय अधिकारों के प्रयोग के लिए संघर्ष करते भी देखा है।

## 1.7 आचार विचार

सामाजिक आदर्श, या बस आदर्श, यकीनन समाजशास्त्र में सबसे महत्वपूर्ण अवधारणा है। समाजशास्त्री मानते हैं कि मानदंडों हमें क्या सोचना चाहिए पर अंतर्निहित और स्पष्ट मार्गदर्शन देकर हमारे जीवन को नियंत्रित करने और विश्वास करते हैं, कैसे व्यवहार करने के लिए, और कैसे अन्य लोगों के साथ बातचीत करने के लिए। हम सेटिंग्स की एक किस्म में और हमारे परिवार, सहित विभिन्न लोगों, से मानदंडों जानने के हमारे शिक्षकों और साथियों स्कूल में, और मीडिया के सदस्यों वहां गुंजाइश और पहुंच जाते हैं, महत्व और महत्व के भिन्न स्तरों के साथ नियमों के चार प्रमुख प्रकार, और प्रवर्तन के तरीके हैं। इन मानदंडों बढ़ती महत्व, रीति-रिवाजों, वर्जनाओं और कानून के क्रम में, कर रहे हैं।

रीति-रिवाजों, की तुलना में अधिक सख्त हैं के रूप में वे निर्धारित क्या नैतिक और नैतिक व्यवहार माना जाता है, वे सही और गलत के बीच का अंतर की संरचना करें। लोग संस्कृति की दृढ़ इच्छा रखते हैं और उन्हें उल्लंघन करने आमतौर पर अस्वीकृति या का परिणाम है। जैसे, रीति-रिवाजों की तुलना में हमारे मूल्यों, विश्वासों, व्यवहार और बातचीत को आकार देने में एक बड़ा आक्रामक बल सटीक।

धार्मिक सिद्धांतों आचार की सामाजिक व्यवहार को नियंत्रित करने का एक उदाहरण है। उदाहरण के लिए, कई धर्मों में शादी से पहले एक रोमांटिक साथी के साथ पर रोक है। एक सख्त धार्मिक परिवार से एक युवा वयस्क उसके प्रेमी के साथ में ले जाता है, तो उसके सपरिवार, दोस्तों और मण्डली अनैतिक के रूप में उसके व्यवहार देखने की संभावना है। वे उसे डांटने, पुनर्जन्म में निर्णय की धमकी दे रहा है, या उसे अपने घरों और चर्च से त्यागते द्वारा उसके व्यवहार को सजा हो सकती है। इन कार्यों से संकेत मिलता है कि उसके व्यवहार अनैतिक और अस्वीकार्य है होती हैं, और उसके उल्लंघन अधिक से तालमेल उसके व्यवहार को बदलने बनाने के लिए डिजाइन किए हैं। विश्वास है कि भेदभाव और प्रभुत्व के स्वरूपों, नस्लवाद और लिंगभेद की तरह, अनैतिक हैं कई समाजों में एक महत्वपूर्ण अधिक आज का एक और उदाहरण है।

## 1.8 लोक साहित्य

एक सामाजिक समूह द्वारा साझा किया गया व्यवहार, जो आचरण का एक पारंपरिक तरीका प्रदान करता है। अमेरिकी समाजशास्त्री के अनुसार विलियम ग्राहम सुसमन, जिन्होंने शब्द गढ़ा, लोकमार्ग सामाजिक सम्मेलन हैं जिन्हें समूह के सदस्यों द्वारा नैतिक महत्व के रूप में नहीं माना जाता है। समूहों के लोकमार्ग, व्यक्तियों की आदतों की तरह, उन कार्यों की बार-बार पुनरावृत्ति में उत्पन्न होते हैं जो बुनियादी मानव आवश्यकताओं को पूरा करने में सफल साबित होते हैं। ये अधिनियम एकरूप हो जाते हैं और व्यापक रूप से स्वीकार किए जाते हैं। लोकमार्ग मुख्य रूप से अचेतन स्तर पर कार्य करते हैं और निरंतर बने रहते हैं क्योंकि वे समीचीन होते हैं। वे खुद को प्रमुख सामाजिक सरोकारों जैसे कि सेक्स, सामाजिक संस्थाएं बनाने (जैसे, परिवार) के आसपास समूहित करते हैं। सुमनेर का मानना था कि जीवन के विविध क्षेत्रों के लोकगीत एक दूसरे के अनुरूप होते जाते हैं, निश्चित पैटर्न बनाते हैं। परंपरा, अदात और धार्मिक प्रतिबंध समय बीतने के साथ लोकगीतों को मजबूत करते हैं, जिससे

वे अधिक से अधिक मनमाने ढंग से सकारात्मक और सम्मोहक बनते हैं। कुछ लोकगीत बन जाते हैं जब वे नैतिक सिद्धांत बन जाते हैं, तो करोड़ों व्यवहार को समाज के कल्याण के लिए आवश्यक माना जाता है। लोकथाओं की तुलना में अधिक मोटे हाते हैं—अपेक्षाकृत हल्की अस्वीकृति एक लोकमार्ग का उल्लंघन करती है गंभीर अस्वीकृति या सजा, तटों के टूटने के बाद होती है। बहुविवाह अमेरिकी समाज के तटों का उल्लंघन करता है। लाइन में किसी की बारी का इंतजार करने में विफलता लोकमार्ग का उल्लंघन है।

सुमनेर ने लोकमार्गों और तटों को अनिवार्य रूप से रूढ़िवादी के रूप में देखा और समाज के सदस्यों को सचेत रूप से बदलने की क्षमता पर संदेह किया। सुमेर के अनुसार, उनके पालन में व्यक्तियों द्वारा पेश किए गए छोटे बदलाव, कुछ बदलाव की अनुमति देते हैं।

**समाजशास्त्र में लोक : अर्थ, चरित्र और महत्व**—प्रख्यात अमेरिकी समाजशास्त्री विलियम जी। सुमनेर (1840-1910) ने अपनी पुस्तक फोल्कवे (1906) में दो प्रकार के मानइंडों की पहचान की, जिन्हें उन्होंने 'लोकमार्ग' और 'मोर' कहा। वे एक समाज या एक समूह में प्रक्रिया के तरीकों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

वे हमें ऐसा करने के सबसे लगातार या सबसे स्वीकृत या सबसे मानकीकृत तरीके पेश करते हैं। लोकमार्गों को उनकी सामग्री से नहीं, बल्कि समूह के सदस्यों द्वारा उनके अनुरूप, महत्व की डिग्री से सजा होने पर या सजा से जुड़ी भावनाओं की तीव्रता से सजा की गंभीरता से डिग्री के हिसाब से अलग किया जाता है।

**लोकगीत क्या है**—रीटर एंड हार्ट (1933) के अनुसार, समूह के सदस्यों के लिए लोकगीत क्रिया की सामान्य आदतें हैं, वे लोगों के तरीके हैं जो कुछ हद तक मानकीकृत हैं और उनकी दृढ़ता के लिए कुछ हद तक पारंपरिक मंजूरी है। मैकलेवर और पेज (1949) ने इसे इस रूप में परिभाषित किया। लोक समाज में व्यवहार करे के मान्यता प्राप्त या स्वीकृत तरीके हैं।

सरल शब्दों में, लोकमार्ग समूह की कुछ आवश्यकताओं या दिन-प्रतिदिन की समस्याओं को पूरा करने के लिए प्रथागत, सामान्य और अभ्यस्त तरीके हैं। भोजन का समय, प्रति दिन भोजन की संख्या, भोजन लेने का तरीका—दोपहर का भोजन या रात का भोजन, किस तरह का भोजन, इसकी तैयारी का तरीका, भाषण का तरीका और पोशाक, शिष्टाचार के रूप और कई अन्य तथ्य दैनिक तजीवन प्रथागत प्रथाओं के कुछ उदाहरण हैं जिनके लिए व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत आदतों में अनुरूप होते हैं।

अपने आप में कोई भी नियमित गतिविधि व्यक्ति के दृष्टिकोण से एक आदत है, लेकिन जब यह संवाद करने वाले लोगों के बीच सामान्य हो जाता है, तो इसे लोकमार्ग के रूप में जाना जाता है, अर्थात्, एक समूह की आदत। आदतों में से आदतों में एकरूपता विकसित होती है, जिसके लिए समाजशास्त्री का शब्द लोकमार्ग या रीति-रिवाज है। सभी (समूह) आदतें सामान्य नहीं होती हैं। वे अलग-अलग व्यक्ति और जगह-जगह अलग-अलग होते हैं।

**आदतें व्यक्ति के दोहराए जाने वाले कार्य हैं**—उन्हें सामाजिकरण की प्रक्रिया में सीखा जाता है। वे व्यक्ति की दूसरी प्रकृति बन जाते हैं। जब आदतों को सामाजिक रूप से अनुमोदित किया जाता है और किसी समाज में कई व्यक्तियों द्वारा पीछा किया जाता है, तो वे लोकमार्ग बन जाते हैं, उदाहरण के लिए, अभिवादन और शिष्टाचार के आदान-प्रदान की आदतें। टोपी, टोपी या पगड़ी पहनना और पोशाक के कई अन्य मामले व्यक्तियों की आदतें हैं लेकिन वे समूह के दृष्टिकोण से लोकमार्ग हैं। हाथ मिलाना, कांटे और चाकू के साथ खाना, सड़क के बाएं या



दाएं हाथ की ओर गाड़ी चलाना, पेंट या स्कर्ट के बाजय गाउन या स्नान सूट या प्रिय सर के रूप में लिखने की कक्षाओं में भाग लेना, पत्र में जेंटलमैन कई हैं पश्चिमी या अमेरिकी लोकगीत।

इसी तरह पगड़ी और शेरवानी पहनना और शादी बारात के समय दूल्हे द्वारा घोड़ी की सवारी करना, एक विवाहित हिंदू महिला द्वारा मंगल सूत्र पहनना, हथेलियों के साथ नमस्ते बोली। या भोजन लेने से पहले हाथों की सफाई भारतीय लोकगीतों के कुछ उदाहरण हैं। लोकमार्ग सरल शिष्टाचार के नियमों से लेकर समस्याओं को संभालने के तकनीकी तरीके तक हमारी दैनिक आदतों का एक अच्छा अनुपात कवर करते हैं।

**विशेषताएं**—लोकगीत अचेतन, स्वतः स्फूर्त अपने वातावरण के प्रति मनुष्य के अनजाने में किए गए समायोजन, क्षुद्र कृत्यों के बार-बार दोहराए जाने के उत्पाद हैं, अक्सर चिंता में बहुत से अभिनय या उसी तरह से कम से कम अभिनय करते हैं जब एक ही आवश्यकता का सामना करना पड़ता है।

लोकमार्ग की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं—

1. लोतांत्रिक रूप से मौलिक रूप से यह तथ्य सामने आता है कि मनुष्य को जीने के लिए कार्य करना चाहिए। वे आमतौर पर एक समूह में अनजाने में उठते हैं जैसे कि हाथ मिलाना, टोपी बांधना, अजनबियों पर कॉल करना और योजनाबद्ध या तर्कसंगत विचार के बिना।

2. लोकगीत समूह अनुभव से विकसित होते हैं। उन्हें बातचीत के माध्यम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में पारित किया जाता है।

3. वे संस्कृति परिवर्तन के रूप में बदलते हैं या जब हम विभिन्न स्थितियों में प्रवेश करते हैं।

4. लोककथाएं सबसे कमजोर मानदंड हैं, जिनका सबसे अधिक उल्लंघन किया जाता है, लेकिन कम से कम किसी भी गंभीर दंड को ले जाने की संभावना है। लोकगीतों का उल्लंघन कुछ मुस्कराहट, ढलक या दूसरों से कभी-कभार टिप्पणी के रूप में केवल हल्का संसर लाता है।

5. अधिकांश लोगों द्वारा नैतिक मामलों के रूप में लोकगीतों पर ध्यान नहीं दिया जाता है। उन्हें सही तरीका और सामान्य माना जाता है। लोग उनमें से अधिकांश को निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं।

6. लोककथाएं इस मायने में भिन्न होती हैं कि वे कम गंभीर रूप से स्वीकृत हैं और अमूर्त सिद्धांत नहीं हैं।

लोकगीत कभी-कभी बोल बन जाते हैं। वे कभी-कभी अधिक ऊर्जा की तुलना में सटीक रूप से संरक्षित करते हैं। प्रत्येक समाज में कुछ/कई लोककथाएं होती हैं। यहां तक कि सबसे आदिम समाज में कुछ सौ लोकमार्ग होंगे। आधुनिक औद्योगिक समाजों में वे और भी अधिक शामिल हो जाते हैं।

महत्व—लोकगीत संस्कृति के आधार हैं। वे हमें एक विशेष संस्कृति के बारे में बेहतर समझ देते हैं। वे मानदंडों के अनुरूप व्यक्ति और समूह पर नियामक और अत्यधिक दबाव है। वे सबसे शक्तिशाली हैं और राज्य की कार्रवाई से भी अधिक समाज में व्यक्तियों के व्यवहार को नियंत्रित करते हैं। लोकभाषा के रूप में सामाजिक जीवन के लिए अपरिहार्य हैं, और वे उसी उद्देश्य को पूरा करते हैं।

## 1.9 सामाजिक संघ : शादी, परिवार, जाति धर्म

शायद परिवार जितनी 'नैसर्गिक' कोई अन्य सामाजिक संस्था नहीं दिखाई देती है। प्रायः हम यह मानने को तैयार रहते हैं कि सभी परिवार वैसे ही होते हैं जैसे परिवारों में हम रहते हैं। कोई और सामाजिक संस्था इतनी व्यापक और अपरिवर्तनीय नहीं दिखती है। समाजशास्त्र और सामाजिक मानवविज्ञान ने कई दशकों तक विभिन्न संस्कृतियों में यह दर्शाने के लिए क्षेत्रीय अनुसंधान किए कि कैसे विभिन्न समाजों में भिन्न-भिन्न स्वरूप होते हुए भी परिवार, विवाह और नातेदारी संस्थाएँ सभी समाजों में महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने यह भी दर्शाया कि किस प्रकार परिवार (निजी क्षेत्र) आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक (सार्वजनिक क्षेत्रों) से संबंधित है। यह आपको पुनः याद दिला सकता है कि विभिन्न विषयों से लेन-देन की आवश्यकता क्यों पड़ती है। प्रकार्यवादियों के अनुसार परिवार अनेक महत्वपूर्ण कार्य करता है जो समाज की बुनियादी आवश्यकताएँ पूरी करते हैं और सामाजिक व्यवस्था को स्थायी बनाने में सहायता करते हैं। प्रकार्यवादी दृष्टिकोण का तर्क है कि यदि महिलाएँ परिवार की देखभाल करें और पुरुष परिवार की जीविका चलाएँ तो आधुनिक औद्योगिक समाज श्रेष्ठ कार्य निष्पादन करते हैं। तथापि भारत में किए गए अध्ययन यह सुझाव देते हैं कि अर्थव्यवस्था के औद्योगिक प्रतिमानों में परिवारों को मूल होने की आवश्यकता नहीं है।

फिर भी यह एक उदाहरण है जिससे पता चलता है कि एक समाज के अनुभवों पर आधारित प्रवृत्ति का सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता है। प्रकार्यवादियों के अनुसार मूल परिवार को औद्योगिक समाज की आवश्यकताएँ पूरी करने वाली एक सर्वोत्तम साधन संपन्न इकाई के रूप में देखा जाता है। ऐसे परिवार में घर का एक सदस्य घर से बाहर कार्य करता है और दूसरा सदस्य घर और बच्चों की देखभाल करता है। व्यावहारिक रूप से मूल परिवार में भूमिकाओं के इस विशिष्टीकरण में पति की जीविका चलाने वाले 'सहायक' की तथा पत्नी की घरेलू संरचना में 'प्रभावशाली' भावनात्मक भूमिका शामिल रहती है। इस दृष्टि पर न केवल अनुचित लिंगभेद के कारण प्रश्न किया जा सकता है अपितु, इतिहास और अनेक संस्कृतियों के आनुभविक अध्ययन दर्शाते हैं कि यह सत्य नहीं है। वास्तव में आप कार्य और अर्थव्यवस्था की चर्चा में देखेंगे कि वस्त्र निर्यात जैसे समकालीन उद्योग में महिलाएँ श्रमिक बल का बहुत बड़ा हिस्सा हैं। इस तरह का विभाजन यह भी सुझाता है कि पुरुष ही आवश्यक रूप से परिवार के मुखिया हैं। नीचे दिया गया बॉक्स दर्शाता है कि यह अनिवार्यतः सत्य नहीं है।

धर्म काफी लंबे समय से अध्ययन और चिंतन का विषय रहा है। समाज के बारे में सामाजिक निष्कर्ष धार्मिक चिंतनों से अलग हैं। धर्म का समाजशास्त्रीय अध्ययन धर्म के धार्मिक या ईश्वरमीमांसीय अध्ययन से कई तरीके से अलग है। पहला, यह धर्म समाज में वास्तव में कैसे कार्य करता है और अन्य संस्थाओं के साथ इसका क्या संबंध है, के बारे में आनुभविक अध्ययन करता है। दूसरा, यह तुलनात्मक पद्धति का उपयोग करता है। तीसरा, यह समाज और संस्कृति के अन्य पक्षों के संबंध में धार्मिक विश्वासों, व्यवहारों और संस्थाओं की जाँच करता है। आनुभविक पद्धति का अर्थ है कि समाजशास्त्री धार्मिक प्रघटनाओं के लिए निर्णायक उपागम को नहीं अपनाता। तुलनात्मक पद्धति महत्वपूर्ण है।

क्योंकि यह एक अर्थ में सभी समाजों को एक दूसरे के समान स्तर पर रखती है। यह बिना किसी पूर्वाग्रह और भेदभाव के अध्ययन में सहायता करती है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण का अर्थ है कि धार्मिक जीवन को कवल

घरेलू जीवन, आर्थिक जीवन और राजनीतिक जीवन के साथ संबद्ध करके ही बोधगम्य बनाया जा सकता है। धर्म सभी ज्ञात समाजों में विद्यमान है हालाँकि धार्मिक विश्वास और व्यवहार एक संस्कृति से दूसरी संस्कृति में बदलते रहते हैं। सभी धर्मों की समान विशेषताएँ हैं—

प्रतीकों का समुच्चय, श्रद्धा या सम्मान की भावनाएँ; ख अनुष्ठान या समारोह; ख विश्वासकर्ताओं का एक समुदाय। धर्म के साथ संबद्ध अनुष्ठान विविध प्रकार के होते हैं। आनुष्ठानिक कार्यों में प्रार्थना करना, गुणगान करना, भजन गाना, विशेष प्रकार का भोजन करना (या ऐसा भोजन नहीं करना), कुछ दिनों का उपवास रखना और इसी प्रकार के अन्य कार्य शामिल होते हैं। चूँकि आनुष्ठानिक कार्य धार्मिक प्रतीकों से संबद्ध होते हैं अतः इन्हें प्रायः सामान्य जीवन की आदतों और क्रियाविधियों से एकदम भिन्न रूप में देखा जाता है। दैवीय सम्मान में मोमबत्ती या दीया जलाने का महत्त्व सामान्यतया कमरे में रोशनी करने से एकदम भिन्न होता है। धार्मिक अनुष्ठान प्रायः व्यक्तियों द्वारा अपने दैनिक जीवन में किए जाते हैं। लेकिन सभी धर्मों में विश्वासकर्ताओं द्वारा सामूहिक समारोह भी किए जाते हैं। सामान्यतः ये नियमित समारोह विशेष स्थानों—चर्चों, मस्जिदों, मंदिरों, तीर्थों में आयोजित किए जाते हैं। धर्म एक पवित्र क्षेत्र है। इस बात पर विचार करें कि विभिन्न धर्मों के सदस्य पवित्र क्षेत्र में प्रवेश करने के पूर्व क्या करते हैं। उदाहरण के लिए, सिर को ढकते हैं, या नहीं ढकते, जूते उतारते हैं, या विशेष प्रकार के वस्त्र धारण करते हैं, आदि। इन सबमें जो बात समान है वह है श्रद्धा की भावना, पवित्र स्थानों या स्थितियों की पहचान और उनके प्रति सम्मान की भावना। एमिल दुर्खाइम का अनुसरण करने वाले धर्म के समाजशास्त्री उस पवित्र क्षेत्र को समझने में रुचि रखते हैं जिसे प्रत्येक समाज सांसारिक चीजों से भिन्न रखता है।

अधिकतर मामलों में पवित्रता में अलौकिकता का तत्त्व होता है। अधिकांशतः किसी वृक्ष या मंदिर की पवित्रता के साथ यह विश्वास जुड़ा होता है कि इसके पीछे कोई अलौकिक शक्ति है, इसलिए यह पवित्र है। तथापि यह ध्यान रखना महत्त्वपूर्ण है कि कुछ धर्मों, जैसे आरंभिक बौद्ध धर्म और कन्फ्यूशियसवाद में अलौकिकता की कोई संकल्पना नहीं थी लेकिन जिन व्यक्तियों और चीजों को वे पवित्र मानते थे उनके लिए उनमें पर्याप्त श्रद्धा थी। धर्म का समाजशास्त्रीय अध्ययन करते हुए चलिए हम प्रश्न पूछते हैं कि धर्म का अन्य सामाजिक संस्थाओं के साथ क्या संबंध है। धर्म का शक्ति और राजनीति के साथ बहुत निकट का संबंध रहा है। उदाहरण के लिए, इतिहास में समय-समय पर सामाजिक परिवर्तन के लिए धार्मिक आंदोलन हुए हैं, जैसे विभिन्न समाजशास्त्र परिचय जाति-विरोधी आंदोलन या लिंग आधारित भेदभाव के विरुद्ध आंदोलन।

धर्म किसी व्यक्ति की निजी आस्था का मामला ही नहीं, अपितु इसका सार्वजनिक स्वरूप भी होता है। और धर्म का यही सार्वजनिक स्वरूप समाज की अन्य संस्थाओं के संबंध में महत्त्वपूर्ण होता है। हमने देखा है कि समाजशास्त्र शक्ति को कैसे व्यापक संदर्भ में देखता है। अतः राजनीतिक और धार्मिक क्षेत्र के बीच संबंध को जानना समाजशास्त्रीय हित में है। शास्त्रीय समाजशास्त्रियों का विश्वास था कि जैसे-जैसे समाज आधुनिक होता जाएगा धर्म का जीवन के विभिन्न क्षेत्रों पर प्रभाव कम होता जाएगा। पंथनिरपेक्षता की संकल्पना इस प्रक्रिया का वर्णन करती है। समकालीन घटनाएँ समाज के विभिन्न पक्षों में धर्म की दृढ़ भूमिका की जानकारी देती हैं। आप ऐसा क्यों सोचते हैं कि ऐसा है? मैक्स वैबर (1864-1920) के महत्त्वपूर्ण कार्य दर्शाते हैं कि समाजशास्त्र सामाजिक और आर्थिक व्यवहार के अन्य पक्षों के साथ धर्म के संबंधों को कैसे देखता है। वैबर का तर्क है कि कैल्विनवाद (प्रोटेस्टैंट ईसाई धर्म की एक शाखा) ने आर्थिक संगठन के साधन के रूप में पूँजीवाद के उद्भव

और विकास को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया था। कैल्विनवादियों का विश्वास था कि विश्व की रचना भगवान की महिमा के लिए हुई, इसका अभिप्राय है कि इस संसार में किया गया कोई भी कार्य उसके गौरव के लिए किया जाता है। यहाँ तक कि सांसारिक कार्यों को भी पूजनीय कार्य बना दिया गया। हालाँकि इस से भी महत्वपूर्ण बात यह है कि कैल्विनवादी भाग्य की संकल्पना में भी विश्वास करते थे जिसका अर्थ है कि कौन स्वर्ग में जाएगा और कौन नर्क में, यह पहले से निश्चित था। चूँकि यह जानने का कोई तरीका नहीं था कि किसे स्वर्ग मिलेगा और किसे नर्क, लोग इस संसार में अपने कार्यों में भगवान की इच्छा के संकेत देखने लगे। इस प्रकार व्यक्ति चाहे जो भी व्यवसाय करता हो यदि वह अपने व्यवसाय में दृढ़ और सफल है तो उसे भगवान की प्रसन्नता का संकेत माना जाता था। अर्जित किया गया धन सांसारिक उपभोग में लगाने के लिए नहीं था अपितु कैल्विनवाद का सिद्धांत मितव्ययता से रहने का था। इसका अर्थ था कि निवेश को एक तरह का पवित्र सिद्धांत माना जाता था। पूँजीवाद के केंद्र में निवेश की संकल्पना है जिसमें पूँजी का निवेश अधिक वस्तुएँ बनाने के लिए किया जाता है जिससे अधिक लाभ होता है जिससे बदले में और अधिक पूँजी उत्पन्न होती है।

इस प्रकार वैबर यह तर्क प्रस्तुत करने में सक्षम थे कि धर्म, इस मामले में कैल्विनवाद के आर्थिक विकास पर प्रभाव डालता है। धर्म का अलग क्षेत्र के रूप में अध्ययन नहीं किया जा सकता। सामाजिक शक्तियाँ हमेशा और अनिवार्यतः धार्मिक संस्थाओं को प्रभावित करती हैं। राजनीतिक बहस, आर्थिक स्थितियाँ और लिंग संबंधी मानक हमेशा धार्मिक व्यवहार को प्रभावित करते हैं। इसके विपरीत, धार्मिक मानक सामाजिक समझ को प्रभावित और कभी-कभी निर्धारित भी करते हैं। विश्व की आधी जनसंख्या महिलाओं की है। इसलिए समाजशास्त्रीय रूप से यह पूछना महत्वपूर्ण है कि मानव जनसंख्या के इतने बड़े हिस्से का धर्म से क्या संबंध है। धर्म समाज का महत्वपूर्ण भाग है और अन्य भागों से अनिवार्यतः जुड़ा हुआ है। समाजशास्त्रियों का कार्य इन विभिन्न अंतःसंबंधों को उजागर करना है। परंपरागत समाजों में, सामान्यतः धर्म सामाजिक जीवन में एक केंद्रीय हिस्से की भूमिका निभाता है। धार्मिक प्रतीक एवं अनुष्ठान अक्सर समाज की भौतिक और कलात्मक संस्कृति से जुड़े होते हैं। समाजशास्त्र धर्म का अध्ययन किस तरह करता है यह जानने के लिए नीचे बॉक्स में दिए गए सारांश का अध्ययन करें।

---

## 1.10 राजनैतिक व आर्थिक प्रणाली तथा कानून

---

यह कैसे हो सकता है कि प्रभाव अप्रतिरोधक हो जबकि यह सीधे तौर पर असंतुलित संबंधों पर आधारित है जहाँ कीमतें तथा सुविधाएँ अनियमित रूप से बाँटे हुए हैं। उत्तर का आंशिक भाग हमें पूर्व अध्याय की परिचर्चा से प्राप्त हो चुका है— प्रभावशाली वर्ग असंतुलित संबंधों में अपनी शक्ति के बल पर सहयोग प्राप्त करते हैं। परंतु यह शक्ति काम क्यों करती है? क्या यह कार्य केवल शक्ति के भय से करता है? यहाँ हम समाजशास्त्र की मुख्य संकल्पना 'वैधता' पर आते हैं। सामाजिक संदर्भ में, वैधता इंगित करती है स्वीकृति की स्थिति जो शक्ति संतुलन में अंतर्निहित है। ऐसी चीजें जो वैध हैं वह उचित, सही तथा ठीक मानी जाती हैं। बृहत् स्तर पर, यह सामाजिक संविदा का अभिस्वीकृत भाग है जो सामयिक रूप से प्रचलित है। संक्षेप में, 'वैधता' अधिकार, संपत्ति तथा न्याय के प्रचलित मानदंडों की अनुरूपता में निहित है।

हमने पहले ही देखा है कि शक्ति समाज में किस प्रकार से परिभाषित होती है, शक्ति अपने आप में एक सच्चाई

है—यह कानूनी हो सकती है अथवा नहीं। मैक्स वैबर के अनुसार सत्ता कानूनी शक्ति है—अर्थात् शक्ति न्यायसंगत तथा ठीक समझी जाती है। उदाहरण के लिए, एक पुलिस ऑफिसर, एक जज अथवा एक स्कूल शिक्षक—सब अपने कार्य में निहित सत्ता का प्रयोग करते हैं। ये शक्ति उन्हें विशेषकर उनके सरकारी कार्यों की रूपरेखा को देखते हुए प्रदान की गई है—लिखित कागजातों द्वारा सत्ता क्या कर सकती है तथा क्या नहीं, का बोध होता है। सत्ता का अर्थ है कि समाज के अन्य सदस्य जो इसके नियमों तथा नियमावलियों को मानने को तैयार हैं, इस सत्ता को एक सही क्षेत्र में मानने को बाध्य हों। मसलन, एक जज का कार्य क्षेत्र कोर्टरूम होता है, और जब नागरिक कोर्ट में होते हैं, उन्हें जज की आज्ञा का पालन करना पड़ता है अथवा उनकी शक्ति से वे असहमति जता सकते हैं। कोर्टरूम के बाहर जज किसी भी अन्य नागरिक की तरह हो सकता है। अतः सड़क पर उसे पुलिस की कानूनी सत्ता को मानना पड़ेगा।

अपनी ड्यूटी पर, पुलिस सभी नागरिकों की क्रियाओं की निगरानी करती है केवल अपने बड़े ऑफिसर को छोड़कर। परंतु नागरिकों का निजी जीवन उनके अधिकार क्षेत्र की सीमा से तब तक बाहर रहता है जब तक वे संदिग्ध अथवा गैरकानूनी कार्य न करें। अलग तरीके से—अलग इसलिए क्योंकि जिस प्रकार की शक्ति निहित है वह कम सख्ती के साथ परिभाषित की गई है—शिक्षक की सत्ता अपने छात्रों पर कक्षा के अंदर होती है। उसकी सत्ता का क्षेत्र उसके छात्रों के घर तक विस्तृत नहीं है जहाँ माता-पिता अथवा अभिभावकों के कर्तव्य तथा शक्ति बच्चों के लिए महत्वपूर्ण होते हैं।

कुछ अन्य प्रकार की सत्ता होती है जिनको सख्ती से परिभाषित नहीं किया गया है, परंतु सहयोग तथा सहमति बनाने में वे बेहद प्रभावी होते हैं। इसका एक अच्छा उदाहरण धार्मिक नेता की शक्ति है। यद्यपि कुछ संस्थागत धर्मों ने आंशिक रूप में इस सत्ता को औपचारिक बनाया है परंतु एक धार्मिक वर्ग के नेता अथवा छोटी संस्थाओं के अल्पसंख्यक धार्मिक वर्ग औपचारिक हुए बिना भी अत्यंत ताकतवर होते हैं। ठीक इसी प्रकार शिक्षाविद्, कलाकार, लेखक तथा अन्य बुद्धिजीवी अपने-अपने क्षेत्रों में, बिना औपचारिक हुए, काफी शक्तिशाली हैं। यह अपराधी गिरोह के मुखिया के लिए भी सही है कि उसके पास बिना किसी औपचारिक मानदंडों के पूर्ण सत्ता होती है। सुस्पष्ट संहिता तथा अनौपचारिक सत्ता में अंतर कानून के बोध में प्रासंगिक है। कानून सुस्पष्ट संहिताबद्ध मानदंड अथवा नियम होते हैं। यह ज्यादातर लिखे जाते हैं तथा नियम किस प्रकार बनाए अथवा बदले जाने चाहिए, अथवा कोई उनको तोड़ता है तो क्या करना चाहिए, इसके लिए भी कानून है।

आधुनिक लोकतांत्रिक समाज में कानून विधायिका द्वारा तैयार किए जाते हैं जिनका निर्माण चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा होता है। राष्ट्र का कानून वहाँ की जनता के नाम पर उनके द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों द्वारा चलाया जाता है। ये कानून नियमों को बनाते हैं जिनके द्वारा समाज पर शासन किया जाता है। कानून प्रत्येक नागरिक पर लागू होता है। चाहे एक व्यक्ति के रूप में 'मैं' कानून विशेष से सहमत हूँ या नहीं, यह नागरिक के रूप में 'मुझे' जोड़ने वाली ताकत है, तथा अन्य सभी नागरिकों को उनकी मान्यताओं से हटकर। अतः प्रभाव, शक्ति के तहत कार्य करता है, परंतु इनमें से अधिकांश शक्ति वास्तव में कानूनी शक्ति अथवा सत्ता होती है, जिसका एक बृहत्तर भाग कानून द्वारा संहिताबद्ध होता है। कानूनी संरचना तथा संस्थागत मदद के कारण सहमति तथा सहयोग नियमित रूप से तथा भरोसे के आधार पर लिया जाता है। यह शक्ति के प्रभाव क्षेत्र अथवा प्रभावितों को समाप्त नहीं करता। यह उल्लेखनीय है कि कई प्रकार की शक्तियाँ हैं जो समाज में प्रभावी हैं हालाँकि वे गैरकानूनी हैं, और यदि कानूनी

हैं तब कानूनी रूप से संहिताबद्ध नहीं हैं। यह कानूनी, कानूनी सत्ता तथा अन्य प्रकार की शक्तियाँ हैं जो सामाजिक व्यवस्था की प्रकृति तथा उसकी गतिशीलता को निर्धारित करती हैं।

### 1.11 सामाजिक समूह : संकल्पना, प्रकार

**सामाजिक समूह**—सामाजिक समूहों और संगठनों में आधुनिक जीवन के लगभग हर क्षेत्र का एक बुनियादी हिस्सा शामिल है। इस प्रकार, पिछले 50 वर्षों में या तो समाजशास्त्रियों ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इन वैज्ञानिक घटनाओं का अध्ययन करने में विशेष रुचि ली है।

एक सामाजिक समूह उन लोगों का एक संग्रह है जो एक दूसरे के साथ बातचीत करते हैं और समान विशेषताओं और एकता की भावना साझा करते हैं। एक सामाजिक श्रेणी उन लोगों को एक संग्रह है जो बातचीत नहीं करते हैं लेकिन जो समान विशेषताओं को साझा करते हैं। उदाहरण के लिए, पुरुष, बुजुर्ग और हाई स्कूल के छात्र सभी सामाजिक श्रेणियों का गठन करते हैं। एक सामाजिक श्रेणी एक सामाजिक समूह बन सकती है जब श्रेणी के सदस्य आपस में बातचीत करते हैं और समूह के सदस्यों के रूप में अपनी पहचान बनाते हैं। इसके विपरीत, एक सामाजिक समुच्चय ऐसे लोगों का एक संग्रह है जो एक ही स्थान पर हैं, लेकिन जो विशेषताओं को साझा नहीं करते हैं या साझा नहीं करते हैं।

मनोवैज्ञानिक मुजफ्फर और कैरोलिन शेरिफ ने 1950 के दशक में एक क्लासिक प्रयोग में, एक ग्रीष्मकालीन शिविर में 12 साल के पुराने सफेद, मध्य वर्ग के लड़कों को “ईगल्स” और “रैटलर्स” में विभाजित किया। सबसे पहले, जब लड़कों को एक-दूसरे का पता नहीं था, तो उन्होंने समर कैम्पर्स के रूप में एक सामान्य सामाजिक श्रेणी बनाई। लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता गया और वे खुद को या तो ईगल या रैटलर्स मानने लगे, इन 12 साल के लड़कों ने दो अलग-अलग सामाजिक समूह बना लिए।

इन-ग्रुप, आउट-ग्रुप और रेफरेंस ग्रुप

शेरिफ्स प्रयोग में, युवाओं ने अपने बीच कृत्रिम सीमाओं को भी बनाया। वे समूहों (जिसमें वफादारी व्यक्त की जाती है) और समूहों (जिसमें प्रतिवाद व्यक्त किया जाता है) में गठित हुए।

कुछ हद तक हर सामाजिक समूह अपने और अन्य समूहों के बीच सीमा बनाता है, लेकिन समूह में एक सामंजस्य आमतौर पर तीन विशेषताएँ हैं :

**सदस्य**—समूह से खुद को अलग करने के लिए शीर्षकों, बाहरी प्रतीकों और पोशाक का उपयोग करते हैं।

सदस्य समूह के सदस्यों के साथ टकराव या प्रतिस्पर्धा करते हैं। दूसरे समूह के साथ यह प्रतियोगिता प्रत्येक समूह के भीतर एकता को मजबूत कर सकती है।

सदस्य अपने समूह में सकारात्मक रूढ़िवादिता और नकारात्मक रूढ़िवादिता को समूह में लागू करते हैं।

शुरूआत में, ईगल्स और रैटलर्स अनुकूल थे, लेकिन जल्द ही उनके खेल तीव्र प्रतियोगिताओं में विकसित हुए। दोनों समूहों ने एक-दूसरे के नाम बुलाने शुरू कर दिए, और उन्होंने एक-दूसरे के केबिनों पर छापा मारा, एक-दूसरे को गले लगाया और झगड़े शुरू कर दिए। दूसरे शब्दों में, समूह में निष्ठा एक ही संसाधनों के लिए

भयंकर प्रतियोगिताओं सहित बाहर, समूह के प्रति विरोधी और आक्रामकता का कारण बनी। बाद में एक ही प्रयोग में, हालांकि, शरीफ ने आपसी समस्याओं के लिए लड़कों के साथ मिलकर काम किया था। जब उन्होंने एक-दूसरे का साथ दिया, तो ईगल्स और रैटलर्स कम विभाजित शत्रुतापूर्ण और प्रतिस्पर्धी हो गए।

लोग राय बना सकते हैं या एक संदर्भ समूह (स्वयं मूल्यांकन के लिए एक मानक के रूप में इस्तेमाल किया जाने वाला समूह) के खिलाफ अपने व्यवहार का न्याय कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, एक विशेष चर्च में पैरिशियन, एक मूल्यवर्ग के मानकों से खुद का मूल्यांकन कर सकते हैं, और फिर उन मानकों का पालन करने के बारे में अच्छा महसूस करते हैं। इस तरह का सकारात्मक आत्म मूल्यांकन उस आदर्शवादी प्रभाव को दर्शाता है जो एक संदर्भ समूह के अपने सदस्यों पर होता है, साथ ही उन लोगों के लिए भी होता है जो समूह से अपनी तुलना करते हैं। फिर भी, संदर्भ समूहों का तुलनात्मक प्रभाव हो सकता है स्व मूल्यांकन पर। यदि अधिकांश पारिश्रमिक अपनी आध्यात्मिक उपलब्धियों में चमकते हैं, तो दूसरे शायद उनकी तुलना खुद से करेंगे। नतीजतन, “नहीं तो आध्यात्मिक” अप करने के लिए नहीं लग रहा है के लिए एक नकारात्मक आत्म मूल्यांकन हो सकता है। इस प्रकार, संदर्भ समूह व्यवहार और दृष्टिकोण पर एक शक्तिशाली प्रभाव डाल सकते हैं।

**प्राथमिक और माध्यमिक समूह**—समूह सामाजिक प्रकृति और लोगों के आदर्शों के विकास में एक बुनियादी भूमिका निभाते हैं। प्राथमिक समूह वे होते हैं जिनमें व्यक्ति लंबे समय तक एक-दूसरे से संपर्क करते हैं और सहयोग करते हैं। प्राथमिक समूहों के उदाहरण परिवार, मित्र, सहकर्मी, पड़ोसी, सहपाठी, जादूगर, बिरादरी और चर्च के सदस्य हैं। इन समूहों को प्राथमिक संबंधों द्वारा चिह्नित किया जाता है जिसमें संचार अनौपचारिक होता है। प्राथमिक समूहों के सदस्यों में मजबूत भावनात्मक संबंध होते हैं। वे एक दूसरे से पूरे और अनूठे व्यक्तियों के रूप में भी संबंध रखते हैं।

इसके विपरीत माध्यमिक समूह वे होते हैं जिनमें व्यक्ति ज्यादा बातचीत नहीं करते हैं। माध्यमिक समूहों के सदस्य प्राथमिक समूहों की तुलना में कम व्यक्तिगत या भावनात्मक होते हैं। इन समूहों को माध्यमिक संबंधों द्वारा चिह्नित किया जाता है जिसमें संचार औपचारिक होता है। द्वितीयक समूहों के सदस्य एक-दूसरे को नहीं जानते होंगे या बहुत अधिक से फेस इंटरैक्शन का सामना कर सकते हैं। वे केवल विशेष भूमिकाओं में और व्यावहारिक कारणों से दूसरों से संबंधित हैं। एक माध्यमिक संबंध का एक उदाहरण एक स्टॉकब्रोकर और उसके ग्राहकों का है। स्टॉकब्रोकर की संभावना के संदर्भ में उसके ग्राहकों से संबंधित है। वह शायद अपने ग्राहकों के साथ सामूहिकरण नहीं करेगी या उन्हें गले नहीं लगाएगी।

प्राथमिक संबंध छोटे और पारंपरिक समाजों में सबसे आम हैं, जबकि बड़े और औद्योगिक समाजों में माध्यमिक संबंध आदर्श हैं। क्योंकि माध्यमिक संबंधों में अक्सर अकेलापन और अलगाव होता है, समाज के कुछ सदस्य एकल नाम रखने के लिए एकल समूहों, डेटिंग सेवाओं, चर्च समूहों और कम्युनिज्म के माध्यम से प्राथमिक संबंध बनाने का प्रयास कर सकते हैं। हालांकि, इसका मतलब यह नहीं है कि माध्यमिक संबंध खराब हैं। अधिकांश अमेरिकियों के लिए, समय और अन्य प्रतिबद्धताएँ संभावित प्राथमिक संबंधों की संख्या को सीमित करती हैं। इसके अलावा, परिचितों और दोस्ती आसानी से माध्यमिक संबंधों से आगे निकल सकती है।

**छोटे समूह**—एक समूह का आकार यह भी निर्धारित कर सकता है कि उसके सदस्य कैसे व्यवहार करते हैं और

संबंधित हैं। एक छोटा समूह अपने सभी सदस्यों को सीधे बातचीत करने की अनुमति देने के लिए पर्याप्त छोटा है। छोटे समूहों के उदाहरणों के लिए चर्चा समूह, सेमिनार कक्षाएँ, डिनर पार्टियाँ और एथलेटिक टीम शामिल हैं। लोग बड़ी सेटिंग्स की तुलना में छोटे समूह सेटिंग्स में प्राथमिक संबंधों का अनुभव करने की अधिक संभावना रखते हैं।

छोटे समूहों में सबसे छोटा एक डार्ड होता है जिसमें दो लोग होते हैं। बहुत निकट और गहन अंतर्संबंधों की क्षमता के कारण एक समूह शायद सभी समूहों का सबसे अधिक एकजुट है। यह जोखिम भी चलाता है, हालांकि, बंटवारे के लिए। एक त्रय तीन व्यक्तियों से युक्त एक समूह है। एक त्रय एक डायड के रूप में सामंजस्यपूर्ण और व्यक्तिगत नहीं होता है।

जितने अधिक लोग एक समूह में शामिल होते हैं, उतना कम व्यक्तिगत और अंतरंग उस समूह में हो जाता है। दूसरे शब्दों में, जैसा कि एक समूह आकार में बढ़ता है, इसके सदस्य भाग लेते हैं और कम सहयोग करते हैं, और असंतुष्ट होने की अधिकसंभावना है। एक बड़े समूह के सदस्यों को भी बाधित किया जा सकता है, उदाहरण के लिए, आपातकाल में पीड़ितों की सार्वजनिक रूप से मदद करने से। इस मामले में, लोगों को यह महसूस हो सकता है कि क्योंकि कई अन्य लोग मदद के लिए उपलब्ध हैं, मदद करने की जिम्मेदारी दूसरों को स्थानांतरित कर दी गई है। इसी तरह, जैसा कि एक समूह आकार में बढ़ता है, इसके सदस्यों को सामाजिक आवारगी में संलग्न होने की अधिक संभावना होती है, जिसमें लोग कम काम करते हैं क्योंकि वे दूसरों से अपने कार्यों को लेने की उम्मीद करते हैं।

**नेतृत्व और अनुरूपता**—समाजशास्त्री विशेष रूप से समूह व्यवहार के दो रूपों में रुचि रखते हैं : अनुरूपता और नेतृत्व।

छोटे समूहों के भीतर समझौते करने का दबाव काफी शक्तिशाली हो सकता है। बहुत से लोग परिणाम या उनकी व्यक्तिगत राय की परवाह किए बिना बहुमत के साथ जाते हैं। कुछ भी नहीं इस घटना को 1950 और 1960 के दशक से सोलोमन एश के क्लासिक प्रयोगों की तुलना में अधिक स्पष्ट है।

छात्र स्वयंसेवकों के कई समूहों को इकट्ठा किया और फिर उन विषयों से पूछा जो एक कार्ड पर तीन लाइनों में से किसी एक कार्ड पर लाइन के रूप में लंबे थे। प्रत्येक छात्र समूह में केवल एक वास्तविक विषय था; अन्य लोग आसच के गुप्त साथी थे, जिन्हें उसने एक ही प्रदान करने का विचार किया। हालांकि यह गलत नहीं था। प्रयोगकर्ता ने पाया कि लगभग तिहाई विषयों ने अपने विचार बदल दिए और बहुमत के गलत जो लोग अजनबी नहीं हैं, उन लोगों के बीच समझौते का दबाव और भी मजबूत है। समूह के दौरान, एक सामंजस्यपूर्ण समूह के सदस्य आमतौर पर वास्तविकता की अनदेखी करने की कीमत पर एक ही स्पष्टीकरण या उत्तर का समर्थन करते हैं। समूह असहमतिपूर्ण राय को बर्दाश्त नहीं करता है, उन्हें समूह के प्रति अरुचि के संकेत के रूप में देखते हैं। इसलिए संदेह और वैकल्पिक विचारों वाले सदस्य समूह के नेता से बात नहीं करते हैं या विरोधाभासी नहीं करते हैं, खासकर जब नेता मजबूत होता है इच्छाशक्ति। समूह लगता है कि फैसले अक्सर विनाशकारी साबित होते हैं, जब राष्ट्रपति कैनेडी और उनके शीर्ष सलाहकारों ने क्यूबा पर आक्रमण करने के सीआईए के फैसले का समर्थन किया। संक्षेप में, सामूहिक निर्णय तब अधिक प्रभावी होते हैं जब सदस्य अतिरिक्त संभावनाओं पर विचार करते समय असहमत होते हैं।



दो प्रकार के नेता सामान्य रूप से छोटे समूहों से निकलते हैं। अर्थपूर्ण नेताओं रहे हैं संबद्धता प्रेरित। यही है, वे गर्म, मैत्रीपूर्ण संबंध बनाए रखते हैं। वे सदस्यों की भावनाओं और समूह सामंजस्य और सद्भाव के लिए चिंता दिखाते हैं, और वे यह सुनिश्चित करने के लिए काम करते हैं कि हर कोई संतुष्ट और खुश रहे। अभिव्यंजक नेता प्रबंधन की एक सहकारी शैली को प्राथमिकता देते हैं।

## 1.12 सामाजिक प्रक्रियाएं : संकल्पना समूह के प्रकार

समाजशास्त्र में सामाजिक प्रक्रियाओं को समझने के दो तरीके अपनी प्रारंभिक पुस्तक में आपने सामान्य ज्ञान की सीमाओं को समझा है। समस्या यह नहीं है कि सामान्य ज्ञान आवश्यक रूप से गलत ही हो परंतु यह इसका परीक्षण नहीं हुआ है तथा इसे हलके रूप में लिया जाता है। इसके विपरीत, सामाजिक परिप्रेक्ष्य में प्रत्येक मुद्दे पर सवाल किए जाते हैं और किसी भी मुद्दे को ऐसे ही नहीं मान लिया जाता है। अतः यह केवल ऐसी व्याख्या से संतुष्ट होकर शांत नहीं होगा जिससे पता चलता है कि मनुष्यों में प्रतियोगिता अथवा सहायता या संघर्ष जैसा भी मामला हो – क्योंकि ऐसा करना मनुष्य का स्वभाव होता है। इस प्रकार की मान्यता के पीछे यह व्याख्या है कि आंतरिक तथा सार्वभौमिक रूप से यह मनुष्य की प्रकृति है कि इस प्रकार की प्रक्रियाओं का लेखा-जोखा रखा जाए। हालाँकि, जैसा हमने पहले देखा है, समाजशास्त्र मनोवैज्ञानिक अथवा प्रकृतिवादी व्याख्याओं से संतुष्ट नहीं होता है। समाजशास्त्र सहयोग, प्रतिस्पर्धा तथा संघर्ष की प्रक्रियाओं की व्याख्या समाज की वास्तविक संरचना के अंतर्गत करना चाहता है।

समाज में किस प्रकार विभेद तथा बहुलता की समझ व्याप्त है। विभिन्न संस्थाओं की समझ, चाहे वह परिवार हो, अर्थव्यवस्था अथवा सामाजिक स्तरीकरण या सामाजिक नियंत्रण हो। हमने देखा कि किस प्रकार प्रकार्यवादी तथा संघर्ष के परिप्रेक्ष्य के अनुसार संस्थाओं की समझ में भिन्नता है। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि ये दोनों संदर्भ इन प्रक्रियाओं को थोड़ा हट कर समझना चाहते हैं। परंतु दोनों, कार्ल मार्क्स तथा एमिल दुर्खाइम यह मानकर चलते हैं कि मनुष्यों को अपनी बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सहयोग करना होता है तथा अपने और अपनी दुनिया के लिए उत्पादन और पुनः उत्पादन करना पड़ता है। संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में इस बात पर बल दिया गया कि किस प्रकार सहयोग के प्रकारों ने एक ऐतिहासिक समाज को दूसरे ऐतिहासिक समाज में परिवर्तित कर दिया। उदाहरणतः यह देखा जा सकता है कि सामान्यतः सरल समाजों में जहाँ अतिरिक्त उत्पादन नहीं होता था, वहाँ व्यक्तियों तथा समूहों में आपसी सहयोग था और वे वर्ग, जाति अथवा प्रजाति में नहीं बँटे थे। परंतु जिस समाज में अतिरिक्त उत्पादन होता था, चाहे वे जमींदार हो अथवा पूँजीपति, प्रभावशाली वर्ग का अतिरिक्त उत्पादन पर अधिकार होता था तथा सहयोग भी संभावित संघर्ष तथा प्रतियोगिता से जुड़ा होता था। संघर्ष का दृष्टिकोण इस बात पर बल देता है कि समूहों तथा व्यक्तियों का स्थान उत्पादन प्रणाली के संबंधों में भिन्न तथा असमान होता है।

अतः कारखाने के मालिक तथा मजदूर अपने प्रतिदिन के कार्यों में सहयोग करते हैं परंतु कुछ हद तक उनके हितों में संघर्ष उनके संबंधों को परिभाषित करते हैं। हमारी संघर्ष के परिप्रेक्ष्य संबंधी समझ यह बताती है कि जहाँ समाज जाति, वर्ग अथवा पितृसत्ता के आधार पर बँटा होता है वहीं कुछ समूह सुविधावांचित हैं तथा एक दूसरे के प्रति भेदभावमूलक स्थिति बरतते हैं। इससे भी आगे, प्रभावशाली समूहों में यह स्थिति सांस्कृतिक मानदंडों,

ज्यादातर ज़बरदस्ती अथवा हिंसा द्वारा भी उत्पन्न की जाती है। जैसा कि आप आगे आनेवाले अनुच्छेदों में देखेंगे कि प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य इस प्रकार के मानदंडों अथवा संस्तुतियों की भूमिका की प्रशंसा करने में नहीं चूकता। परंतु इन सबके प्रकार्यों को समाज की संपूर्णता के रूप में समझाता है, न कि उस संदर्भ में जहाँ प्रभावशाली समूहों द्वारा समाज को नियंत्रित किया जाता है। प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य का सरोकार मुख्य रूप से समाज में 'व्यवस्था की आवश्यकता' से है—जिन्हें कुछ प्रकार्यात्मक अनिवार्यताएँ, प्रकार्यात्मक अपेक्षा तथा पूर्वापेक्षाएँ कहा जाता है। ये विस्तृत रूप में उन शर्तों को पूरा करती हैं जो व्यवस्था के अस्तित्व के लिए आवश्यक हैं, जैसे—नए सदस्यों का समाजीकरण-संचार की साझा प्रक्रिया-व्यक्ति की भूमिका निर्धारण के तरीके आप अच्छी तरह से जानते हैं कि किस प्रकार प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य इस तथ्य पर आधारित है कि समाज के विभिन्न भागों का एक प्रकार्य अथवा भूमिका होती है जो संपूर्ण समाज की प्रकार्यात्मकता के लिए जरूरी होती है। इस संदर्भ में सहयोग, प्रतियोगिता तथा संघर्ष को प्रत्येक समाज की सार्वभौमिक विशेषता के रूप में देखा जा सकता है, जो समाज में रहने तथा इच्छापूर्ति करने वाले विभिन्न व्यक्तियों की अनिवार्य अन्तःक्रियाओं का परिणाम है। चूँकि इस परिप्रेक्ष्य का मुख्य बिंदु व्यवस्था को बनाए रखना है, प्रतिस्पर्धा तथा संघर्ष को इस दृष्टि से भी समझा जाता है कि अधिकतर स्थितियों में ये बिना ज्यादा हानि एवं कष्ट के सुलझ जाते हैं तथा साथ ही ये समाज की भी विभिन्न प्रकार से मदद करते हैं।

### 1.13 सामाजिक प्रक्रियाएं : सहयोग प्रतियोगिता सामंजस्य संघर्ष और मिलन

समाजशास्त्रीय अध्ययनों ने यह भी दिखाया है कि किस प्रकार मानदंडों तथा समाजीकरण के प्रतिरूप अधिकतर इस बात का ध्यान रखते हैं कि एक विशेष सामाजिक प्रणाली सतत बनी रहे, चाहे वह एक विशेष समूह के हितों की विरोधी ही क्यों न हो। दूसरे शब्दों में, सहयोग, प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष के आपसी संबंध अधिकतर जटिल होते हैं तथा ये आसानी से अलग नहीं किए जा सकते। यह समझने के लिए कि सहयोग और संघर्ष किस प्रकार अनुलग्नित हैं, तथा 'बाध्य' एवं 'स्वैच्छिक' सहयोग में क्या अंतर है, आइए, अपने जन्म (नेटल) के परिवार में संपत्ति पर स्त्री का अधिकार जैसे विवादास्पद मुद्दे पर नज़र डालें। समाज के विभिन्न हिस्सों में यह जानने के लिए कि जन्म की संपत्ति के संबंध में उनका क्या दृष्टिकोण है, स्त्रियों की एक अच्छी खासी संख्या ने संपत्ति के अपने अधिकार पर बोलते हुए अपनी बेटों के प्रेम तथा बेटों के लिए अपने प्रेम के विषय को उठाया। परंतु इस विषय पर भावात्मक न होकर आशंका पर बल देते हुए कहा कि वे संपूर्ण अथवा अंशतः किसी भी प्रकार का अपनी जन्म की संपत्ति पर दावा नहीं करेंगी क्योंकि वे डरती थीं कि ऐसा करने से भाइयों के साथ उनके संबंधों में कड़वाहट आ जाएगी या भाभियाँ उनसे घृणा करने लगेंगी और परिणामस्वरूप अपने पिता के घर उनका आना-जाना बंद हो जाएगा। यह दृष्टिकोण एक प्रभावशाली रूपक को दिखाता है जहाँ एक ओर स्त्री संपत्ति से इनकार करती है . . . तो दूसरी ओर एक स्त्री संपत्ति पर अपना 'हक जमाने वाली', कंजूस तथा चालाक समझी जाती है। संवेदनाओं में एक करीबी संपर्क होता है तथा प्रतिवर्ती रूप में अपने जन्म के परिवार का एक भाग बने रहने तथा उसकी उन्नति में सहायक होने और मुसीबत की घड़ी में काम आने की इच्छा बनी थी।

सहयोगात्मक व्यवहार को समाज के गहरे संघर्षों की उपज के रूप में भी देखा जा सकता है। परंतु जब इन संघर्षों की खुलकर अभिव्यक्ति नहीं होती अथवा इन्हें खुली चुनौती नहीं दी जाती तो यह छवि बनती है कि

कहीं कोई संघर्ष नहीं है, केवल सहयोग ही विद्यमान है। उपरोक्त परिस्थितियों को समझाने के लिए प्रकार्यवादी 'व्यवस्थापन' शब्द का प्रयोग करते हैं, जहाँ महिला अपने पितृ परिवार में संपत्ति के अपने अधिकार पर किसी प्रकार का दावा करना पसंद नहीं करेगी। संघर्षों के रहते हुए भी समझौता एवं सह-अस्तित्व की कोशिश के रूप में इसे देखा जा सकता है।

दुर्खाइम ने यांत्रिक तथा सावयवी एकता में अंतर स्पष्ट किया जो क्रमशः पूर्व औद्योगिक तथा जटिल औद्योगिक समाजों की विशेषता थी। यांत्रिक एकता संहति का एक रूप है जो बुनियादी रूप से एकरूपता पर आधारित है। इस समाज के अधिकांश सदस्य एक जैसा जीवन व्यतीत करते हैं, कम से कम विशिष्टता अथवा श्रम-विभाजन को हमेशा आयु तथा लिंग से जोड़ा जाता है, यह समाज की मुख्य विशेषता है। इस समाज के सदस्य परस्पर अपनी मान्यताओं तथा संवेदनाओं, अंतरविवेक तथा चेतना से जुड़े होते हैं। आपसी एकता सामाजिक संहति का वह रूप है जो श्रम-विभाजन पर आधारित है तथा जिसके फलस्वरूप समाज के सदस्यों में सह निर्भरता है। जैसे-जैसे व्यक्ति विशिष्टता हासिल करता है वैसे-वैसे दूसरों पर अधिक निर्भर होता जाता है। कृषि आधारित जीविका में लगा एक परिवार अपने जैसा काम करने वालों की थोड़ी या बगैर किसी मदद के जीवित रह सकता है परंतु कपड़ा अथवा कार उद्योग में लगा व्यापारी अन्य विशिष्ट कर्मचारियों के बिना जीवित नहीं रह सकता जो उनकी बुनियादी जरूरतों को पूरा करते हैं।

प्रतिस्पर्धा-अवधारणा एवं व्यवहार के रूप में जैसा कि सहयोग के विषय में हुआ, प्रतियोगिता की संकल्पना इस विचार के साथ आगे बढ़ती है कि प्रतिस्पर्धा विश्वव्यापी तथा स्वाभाविक है। हम यह जान चुके हैं कि किस प्रकार समाजशास्त्र की व्याख्या प्रकृतिवादी व्याख्या से भिन्न है, अतः यहाँ यह आवश्यक है कि एक सामाजिक तत्व के रूप में प्रतिस्पर्धा को समझा जाए जिसका समाज में उद्भव हुआ है तथा एक निश्चित ऐतिहासिक समय में यह प्रभावी रही है। समकालीन समय में यह सर्वप्रमुख विचार है तथा अधिकतर यह समझना मुश्किल होता है कि कहीं ऐसा समाज हो सकता है जहाँ प्रतिस्पर्धा एक मार्गदर्शक ताकत न हो। यह दंतकथा एक स्कूल अध्यापक, जो अपने अनुभवों को अपने बच्चों के साथ अफ्रीका के एक पिछड़े स्थान से बता रहा है, हमारा ध्यान उस तथ्य की ओर आकर्षित करता है जहाँ प्रतिस्पर्धा को स्वयं समाजशास्त्रीय रूप में न कि स्वाभाविक वृत्ति के रूप में समझना था। यह दंतकथा अध्यापक की इस मान्यता पर आधारित है कि बच्चे दौड़ने की प्रतिस्पर्धा के विचार से प्रसन्न होंगे, जहाँ विजेता को एक चॉकलेट इनाम के रूप में दिया जाएगा। आश्चर्य, उनके इस सुझाव ने बच्चों में किसी प्रकार के उत्साह का संचरण नहीं किया बल्कि दूसरी तरफ दुश्चिंता और दुख को बढ़ा दिया। जाँच, पड़ताल करने पर आगे बताया कि उनकी ऐसे खेलों में अरुचि है जहाँ 'विजेता' तथा 'पराजित' होंगे। समाज का बोध यह उनके आनंद करने के विचार के विरुद्ध है उनके लिए आनंद का विचार आवश्यक तौर पर सहयोग तथा सामूहिक अनुभव है न कि प्रतिस्पर्धा जहाँ पुरस्कार कुछ लोगों को वंचित करता है तथा एक अथवा कुछ को पुरस्कृत करता है। समकालीन विश्व में प्रतिस्पर्धा एक प्रमुख मानदंड तथा परिपाटी है। शास्त्रीय समाजवैज्ञानिकों जैसे एमिल दुर्खाइम तथा कार्ल मार्क्स ने आधुनिक समाजों में व्यक्तिवाद तथा प्रतिस्पर्धा के विकास को एक साथ आधुनिक समाजों में देखा है। आधुनिक पूँजीवादी समाज जिस प्रकार कार्य करते हैं वहाँ दोनों का एक साथ विकास सहज है। यहाँ अत्यधिक कार्यकुशलता तथा लाभ के कमाने पर बल दिया जाता है। पूँजीवाद की मौलिक मान्यताएँ हैं— (क) व्यापार का विस्तार, (ख) श्रम विभाजन, (ग) विशेषीकरण, और (घ) बढ़ती उत्पादकता। स्व-धारणीय

संवृद्धि की ये प्रक्रियाएँ पूँजीवाद के केंद्रीय विचार से बढ़ावा प्राप्त करती हैं। बाज़ार क्षेत्र में विद्यमान मुक्त प्रतिस्पर्धा में तार्किक व्यक्ति, अपने लाभों को अधिक बढ़ाने की कोशिश में लगा रहता है। प्रतिस्पर्धा की विचारधारा पूँजीवाद की सशक्त विचाराधारा है। इस विचारधारा का तर्क है कि बाज़ार इस प्रकार से कार्य करता है कि अधिकतम कार्यकुशलता सुनिश्चित हो सके। उदाहरण के लिए, प्रतिस्पर्धा यह सुनिश्चित करती है कि सर्वाधिक कार्यकुशल फर्म बची रहे। प्रतिस्पर्धा यह सुनिश्चित करती है कि अधिकतम अंक पाने वाला छात्र अथवा बेहतरीन छात्र को प्रसिद्ध कॉलेजों में दाखिला मिल सके और फिर बेहतरीन रोज़गार प्राप्त हो सके। इन सभी स्थितियों में 'बेहतरीन' होना सबसे बड़ा भौतिक पुरस्कार सुनिश्चित करता है।

ऐसे विचार कि मनुष्य स्वाभाविक रूप से प्रतिस्पर्धा करना चाहता है, को अन्य प्रकृतिवादी व्याख्याओं की भाँति आलोचनात्मक दृष्टि से समझा जाना चाहिए। प्रतिस्पर्धा, पूँजीवाद के जन्म के साथ ही प्रबल इच्छा के रूप में फली-फूली। अगले पृष्ठ पर बॉक्स में दिए गए गद्यांश को पढ़िए तथा परिचर्चा कीजिए

प्रतिस्पर्धा तथा पूँजीवाद के तहत उन्नीसवीं शताब्दी की संपूर्ण मुक्त व्यापार अर्थव्यवस्था, आर्थिक विकास को आगे बढ़ाने में आवश्यक हो सकती है। अमेरिकी अर्थव्यवस्था के अत्यंत तीव्र गति से विकास को वहाँ प्रतिस्पर्धा की अधिकतम उपस्थिति के गुण के रूप में देखा जा सकता है। परंतु फिर भी हम प्रतिस्पर्धा के दायरे या प्रतियोगी भावना की तीव्रता को विभिन्न समाजों में आर्थिक विकास की दर के साथ सकारात्मक सह संबंध का रूप देने में कठिनाई महसूस करते हैं। वहीं दूसरी तरफ़ यह माने जाने के भी कारण हैं कि प्रतिस्पर्धा के कुछ बुरे प्रभाव भी ह

यह विचारधारा मान कर चलती है कि व्यक्ति बराबरी के स्तर पर प्रतिस्पर्धा करता है, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति के लिए प्रस्थिति, शिक्षा, रोज़गार अथवा प्रतिस्पर्धा हेतु समान संसाधन रहते हैं। परंतु जैसा कि स्तरीकरण अथवा असमानता पर की गई पूर्व चर्चा दिखाती है, व्यक्ति को समाज में भिन्न प्रकार से अवस्थित किया गया है। यदि भारत में बच्चों की अधिकतम संख्या विद्यालय में नहीं जाती अथवा वे आज या कल पढ़ाई छोड़ देते हैं तो ऐसी स्थिति में वे हमेशा के लिए प्रतिस्पर्धा से बाहर हो जाते हैं।

संघर्ष तथा सहयोग संघर्ष शब्द का अर्थ है हितों में टकराव। हमने पहले ही देखा है कि किस प्रकार से संबद्ध सिद्धांतवादी विश्वास करते हैं कि संसाधनों की कमी समाज में संघर्ष उत्पन्न करती है क्योंकि उन संसाधनों को पाने तथा उस पर कब्ज़ा करने के लिए प्रत्येक समूह संघर्ष करता है। संघर्ष के आधार भिन्न-भिन्न होते हैं। ये वर्ग अथवा जाति, जनजाति अथवा लिंग, नृजातीयता अथवा धार्मिक समुदायों में हो सकते हैं। एक नौजवान छात्र के नाते आप समाज में विद्यमान संघर्षों की विविधता से परिचित हैं। विभिन्न संघर्षों के पैमाने तथा प्रकृति यद्यपि भिन्न होती है।

अधिकतर सामान्य ज्ञान की सोच के अनुसार समाज में संघर्षों की स्थिति नयी है। समाजशास्त्रियों ने इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया है कि सामाजिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं में संघर्ष की प्रकृति तथा रूप सदैव परिवर्तित होते रहे हैं। परंतु संघर्ष किसी भी समाज का एक महत्वपूर्ण हिस्सा सदैव से रहा है। सामाजिक परिवर्तन तथा लोकतांत्रिक अधिकारों पर सुविधावांचित तथा भेदभाव का सामना कर रहे समूहों द्वारा हक जताना संघर्षों को और उभारता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि संघर्ष पहले विद्यमान नहीं थे। यहाँ यह समझना आवश्यक है कि संघर्ष विसंगति अथवा प्रत्यक्ष झड़प के रूप में दिखाई देते हैं जहाँ ये खुल कर प्रकट किए जाते

हैं। उदाहरण के तौर पर भूमि संसाधनों पर गहरे संघर्षों की प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया का परिणाम है कृषक आंदोलन। आंदोलन की अनुपस्थिति का अर्थ संघर्ष की अनुपस्थिति नहीं है। यहां पर संघर्ष, अनिवार्य सहयोग तथा प्रतिरोध के संबंधों पर बल दिया गया है। आइए, कुछ संघर्षों पर जो समाज में विद्यमान हैं तथा प्रतिस्पर्धा, सहयोग और संघर्ष के आपसी सहसंबंधों पर भी विचार करें। हम यहाँ केवल दो उदाहरणों को लेंगे। प्रथम, परिवार तथा घर है और दूसरा, भूमि-आधारित संघर्ष। पारंपरिक तौर पर परिवार तथा घर सामंजस्यपूर्ण इकाई के रूप में देखे जाते रहे हैं जहाँ सहयोग प्रमुख प्रक्रिया थी तथा परार्थवाद मनुष्य के आचरण के प्रेरणात्मक सिद्धांत थे। पिछले तीन दशकों से महिलावादी विश्लेषकों द्वारा इस मान्यता पर प्रश्न उठाए जा रहे हैं। अमर्त्य सेन जैसे विद्वानों ने भी बलात् सहयोग की संभावना को माना है। चूँकि संघर्षों को प्रत्यक्ष रूप से संप्रेषित नहीं किया जाता अतः यह देखा गया है कि मध्यवर्ग तथा अधीनस्थ वर्ग, चाहे घर में महिलाएँ हों या कृषक समाज में किसान, संघर्षों में समायोजन तथा सहयोग पाने के लिए व्यक्ति एवं समूह विभिन्न प्रकार की रणनीति बनाते हैं। अनेक समाजशास्त्रीय अध्ययन अप्रत्यक्ष संघर्ष तथा प्रत्यक्ष सहयोग को दिखाते हैं जो सामान्य हैं। नीचे दिया गया उद्धरण घर में महिलाओं के व्यवहार तथा अंतःक्रिया पर किए गए कई अध्ययनों से लिया गया है। भौतिक दबाव तथा प्रेरणा का सहयोग तथा उससे बढ़कर वितरण तथा वितरण प्रक्रिया में प्रत्यक्ष संघर्ष के बहुत कम साक्ष्य हैं। इसके बदले निर्णय लेने, आवश्यकताएँ तथा प्राथमिकताएँ सोपानिक हैं, ऐसे सोपान जिसका स्त्री तथा पुरुष दोनों समर्थन करते हैं। अतः स्त्रियाँ अनेक विशेषताओं को सतत रूप से अर्जित करती हुई दिखाई देती हैं—घरेलू वस्तुओं के वितरण में विभेदीकृत कार्य, अपने आने वाले समय में सुरक्षा के लिए अन्य घरेलू संबंधों तथा संसाधनों तक पहुँच न मिलने के कारण, यह उनके भौतिक हित में होता है कि वे बेटे को मान्यता दें, जो इस संस्कार की महत्वपूर्ण विशेषता है, तथा अपने अनियमित भविष्य के बीमा के लिए अपने बेटों को सहयोगी रूप में जीतने के लिए, उनके लिए 'स्वार्थरहित' समर्पण ही उनका निवेश होता है।

'मातृ परहितवादिता', उत्तरी भारत के मैदानों में, बेटों को लेकर पूर्वाग्रहित है तथा इसे स्त्री के पितृसत्तात्मक जोखिम के प्रत्युत्तर के रूप में देखा जा सकता है। स्त्री पूरी तरह से शक्तिहीन नहीं है, परंतु, पुरुष के निर्णय लेने की ताकत के समक्ष वह अप्रत्यक्ष ही रहती है। विश्वसनीय दोस्तों का उपयोग (रिश्तेदार या पड़ोसी) अपनी तरफ से छोटे-मोटे व्यापार करने में, पैसों का छुपकर लेन-देन, परदा तथा मातृत्व जैसी लैंगिक विचारधारा पर बातचीत करना वे रणनीतियाँ हैं जिनके आधार पर स्त्रियों ने पुरुष की शक्ति का प्रतिरोध किया है। उनके प्रतिरोध का यह गोपनीय रूप घर के बाहर सहयोग के विकल्पों की कमी तथा खुले संघर्ष से जुड़े सहवर्ती जोखिमों को दिखाता है।

---

## सारांश

---

समाजशास्त्री सामाजिक संरचनाओं के बीच गतिशील अंतराल पर जोर देते हैं जो हमारे अनुभव और अभिनेताओं के जानबूझकर कार्यों को प्रभावित करते हैं जो कभी-कभी सामाजिक संरचनाओं को बदल देते हैं। दूसरा यह है कि विभिन्न समाजों में समूहों और सामूहिकताओं के प्रकार अलग-अलग होते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि किसी भी तरह से लोगों का इकट्ठा होना एक सामाजिक समूह बनाए। समुच्चय सिर्फ लोगों का जमावड़ा होता है जो एक समय में एक ही स्थान पर एकत्र होते हैं अंतःसमूह एवं बाह्य समूह संबंधित होने की भावना अंतःसमूह की पहचान बनाती है। यह भावना 'हमें' या 'हम' को 'उन्हें' अथवा 'वे' से अलग करती है। एक स्कूल में पढ़ने वाले

बच्चे, उस स्कूल में नहीं पढ़ने वाले बच्चों के विरुद्ध एक अंतःसमूह बना सकते हैं। क्या आप ऐसे किन्हीं दूसरे समूहों के बारे में सोच सकते हैं? यह दंतकथा एक स्कूल अध्यापक, जो अपने अनुभवों को अपने बच्चों के साथ अफ्रीका के एक पिछड़े स्थान से बता रहा है, हमारा ध्यान उस तथ्य की ओर आकर्षित करता है जहाँ प्रतिस्पर्धा को स्वयं समाजशास्त्रीय रूप में न कि स्वाभाविक वृत्ति के रूप में समझना था। यह दंतकथा अध्यापक की इस मान्यता पर आधारित है कि बच्चे दौड़ने की प्रतिस्पर्धा के विचार से प्रसन्न होंगे, जहाँ विजेता को एक चॉकलेट इनाम के रूप में दिया जाएगा।

## अभ्यास प्रश्नोत्तर

### बहुविकल्पीय प्रश्न

- समुदाय से क्या अभिप्राय है?
 

(a) घनिष्ठ मानव संबंध	(b) चिरस्थायी संबंध
(c) सुगठित समूह	(d) उपरोक्त सभी
- स्वजातीय चेतना से क्या अभिप्राय है?
 

(a) समाज विचार से बंधना	(b) मूर्त संगठन
(c) समस्या पर खरा उतरना	(d) उपरोक्त में से कोई नहीं
- सीमिति की क्या विशेषता है?
 

(a) इनका निश्चित उद्देश्य है	(b) यह एक औपचारिक संगठन होता है।
(c) इसमें व्यक्तियों का समूह होता है।	(d) उपरोक्त सभी
- समुदाय व सीमिति में मूलभूत अंतर क्या है?
 

(a) समुदाय की सदस्यता अनिवार्य होती है तथा सीमिति की ऐच्छिक
(b) दोनों अलग-अलग भू-भाग पर विकसित होते हैं।
(c) दोनों में कार्य किया जाता है।
(d) समुदाय छोटा होता है तथा सीमिति बड़ी होती है।
- जाति प्रथा को सबसे अधिक चुनौती किसने दी है।
 

(a) शिक्षा	(b) नगरीकरण
(c) औद्योगिकीकरण	(d) उपरोक्त सभी
- निम्नलिखित में से किसको लोकमार्ग में शामिल किया जाता है?
 

(a) शिष्टाचार की आदतें	(b) अभिवादन के तरीके
(c) व्यक्ति की दैनिक आदतें	(d) उपरोक्त सभी
- निम्नलिखित में से किसको लोकगीत में शामिल नहीं किया जा सकता है?
 

(a) अनुभव का विकास	(b) लोककथाएँ
(c) नैतिक मामले	(d) संस्कृति परिवर्तन

8. सामाजिक संस्था कि सर्वाधिक नैसर्गिक इकाई क्या है?
 

(a) जाति	(b) विवाह
(c) धर्म	(d) समुदाय
9. सर्वाधिक लम्बे समय तक अध्ययन और चिंतन का विषय क्या रहा है?
 

(a) समुदाय	(b) धर्म
(c) जाति	(d) परिवार
10. शास्त्रीय समाजशास्त्र से क्या अभिप्राय है?
 

(a) धर्म का प्रभाव करना	(b) पंथनिरपेक्षता को बढ़ावा मिलना
(c) धर्म निजी आस्था का मामला	(d) राजनीति को धर्म से जोड़ना
11. प्राथमिक समूह में कौन शामिल होते हैं?
 

(a) जिनसे ज्यादा बातचीत नहीं होती है।	(b) जिनसे लंबे समय तक संपर्क में रहते हैं।
(c) जिनसे संपर्क कम समय तक होता है।	(d) संबंध नहीं बनाए जाते हैं।
12. पितृसत्तात्मक से क्या अभिप्राय है?
 

(a) पिता के पश्चात् पुत्र को विरासत	(b) पिता के पश्चात् पुत्री को विरासत
(c) पुत्र व पुत्री दोनों को समान अधिकार	(d) उपरोक्त में से कोई नहीं

### लघु उत्तरीय प्रश्न

1. समाज के अध्ययन के लिए कौन सा दृष्टिकोण अपनाया गया है?
2. समाज की आधारभूत अवधारणा से क्या अभिप्राय है? इसका महत्व बताइए।
3. सामुदायिक संघ की व्याख्या कीजिए।
4. संस्थान वर्ग कौन-सा वर्ग होता है?
5. जाति से क्या अभिप्राय है? भारत के समाज में इसका क्या महत्व है?
6. आधार-विचार किस प्रकार समाज को मजबूत बनाते हैं?
7. लोक साहित्य का विकास किस प्रकार हुआ?

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. सामाजिक संघ में शादी व परिवार का क्या महत्व है?
2. जाति और धर्म किस प्रकार समाज का आधार बना है?
3. सामाजिक समूह की संकल्पना को समझाइए।
4. सामाजिक प्रक्रियाएँ किस प्रकार व्यवस्थित होती हैं?
5. सामाजिक प्रक्रियाएँ किस प्रकार संघर्ष को बढ़ावा देती हैं?
6. सामाजिक समूह के प्रकार बताइए।

## संदर्भ पुस्तकें

---

1. समाजशास्त्र कक्षा-11 एनसीईआरटी
2. समाजशास्त्र कक्षा-12 एनसीईआरटी
3. जनसंख्या भूगोल, आर.सी. चांदना
4. समाज की समझ, योगेश अटल
5. समाजशास्त्र-अवधारणा एवं सिद्धांत, जे.पी. सिंह



## अध्याय-2

# सामाजिक नियंत्रण

- 2.1 परिचय
- 2.2 औपचारिक व अनौपचारिक संस्थाएं : सामाजिक नियंत्रण के लिए
- 2.3 सामाजिकीकरण प्रक्रिया
- 2.4 सामाजिक नियंत्रण की संकल्पना
- 2.5 सामाजिक परिवर्तन : संकल्पना परिवर्तन के कारक तथा निहितार्थ
- 2.6 सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत : उद्भव व विकास
- 2.7 सामाजिक विकास : संकल्पना
- 2.8 सामाजिक विकास में बाधा

---

### 2.1 परिचय

---

औपचारिक स्रोत निश्चित लिखित कानूनों के द्वारा सम्पन्न होता है तथा जिसे व्यक्ति या समूह को मानना ही पड़ता है। अनौपचारिक नियंत्रण एक छोटे समूह तक सीमित है, एक बड़े समूह में, यह अप्रभावी है। अनौपचारिक नियंत्रण के एजेंट रिश्तेदार, दोस्त, पड़ोसी, परिचित हैं। सामाजिक संरचना में सामाजिक व्यवहार के निश्चित प्रतिमान (पैटर्न) निहित होते हैं। सामाजिक स्तरीकरण एक विस्तृत सामाजिक संरचना के भाग के रूप में असमानता के निश्चित प्रतिमान द्वारा पहचाना जाता है। आप यह भी जानेंगे कि प्रकार्यवादी समाजशास्त्रियों ने समाज को विशेष रूप से सामंजस्यपूर्ण समझा और विरोधी समाजशास्त्रियों ने समाज को मुख्य रूप से असमान, असंगत और अत्याचारी समझा। हमने यह भी देखा कि किस प्रकार कुछ समाजशास्त्रियों ने व्यक्ति और समाज पर अधिक ध्यान केंद्रित किया और दूसरों ने सामूहिकताओं पर जैसे वर्ग, प्रजातियाँ, जातियाँ। अन्य अवधारणा द्वारा परिभाषित नहीं किया जा सकता, जैसे आर्थिक अथवा राजनैतिक परिवर्तन। समाजशास्त्रियों को इसके व्यापक अर्थ को विशिष्ट बनाने के लिए कठिन परिश्रम करना पड़ा। ताकि यह सामाजिक सिद्धांत के लिए महत्वपूर्ण हो सके। अपने बुनियादी स्तर पर, सामाजिक परिवर्तन इंगित करता है, वर्तमान समय में प्रत्येक क्षेत्र में विकास हुआ तथा विभिन्न समाजों ने अपने अनुसार इन सामाजिक परिवर्तनों को अनुकूलित किया। चूंकि समाज व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों की एक व्यवस्था है इसलिए इसका कोई मूर्त स्वरूप नहीं होता। इसकी अवधारणा अनुभूतिमूलक है। समाज में पारस्परिक सहयोग एवं संबंधों का आधार सामूहिक आचरण है जो समाज द्वारा निर्धारित और निर्देशित होता है। समाज में सामाजिक मान्यताओं के संबंध में सहमति अनिवार्य होती है।

## 2.2 औपचारिक व अनौपचारिक संस्थाएं : सामाजिक नियंत्रण के लिए

**औपचारिक नियंत्रण**—वह नियंत्रण हैं, जो निश्चित लिखित कानूनों के द्वारा सम्पन्न होता हैं तथा जिसे व्यक्ति या समूह को मानना ही पड़ता है। औपचारिक नियंत्रण के साधनों का विरोध करने पर दंड देने की व्यवस्था होती है। राज्य सरकार, कानून न्यायलय आदि के द्वारा मानवीय व्यवहारों को नियमित एवं नियंत्रित करने की प्रक्रिया 'औपचारिक सामाजिक नियंत्रण' के नाम से जानी जाती है।

**अनौपचारिक नियंत्रण**—वह नियंत्रण हैं, जिसका कोई सामाजिक समूह अपने कल्याण के लिए करता है एवं इसकी अवहेलना करने वालों का समाज निंदा या बहिष्कार करता है। अनौपचारिक नियंत्रण का संबंध राज्य से न होकर समाज से होता है। यह औपचारिक नियंत्रण की तुलना में अधिक प्रभावशाली सिद्ध होता है। प्रथाएं, लोकरीतियां, लोकाचार, नैतिकता, धर्म, परिवार, जनमत, अलिखित नियम इत्यादि अनौपचारिक नियंत्रण के प्रमुख साधन हैं। परिवार 'अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण' की प्रमुख संस्था है।

**सामाजिक नियंत्रण के अभिकरण**—परिवार : सामाजिक नियंत्रण के प्राथमिक कएवं अनौपचारिक अभिकरण में परिवार का नाम सर्वोपरि है। परिवार व्यक्ति के सामाजीकरण में प्रत्यक्ष भूमिका अदा करता है। सामाजीकरण के द्वारा परिवार व्यक्ति को सामाजिक मूल्यों, प्रतिमानों, विश्वासों, परम्पराओं, नियमों आदि से परिचित कराता है एवं व्यक्ति उसी के अनुरूप आचरण करता है। ऐसा करने से एक बच्चा या व्यक्ति को स्नेह, प्रशंसा आदि द्वारा परिवार प्रोत्साहित करता है तथा नियमों से अलग आचरण पर परिवार द्वारा डांट, निंदा, उपेक्षा, अपमान आदि के माध्यम से नियंत्रण स्थापित करता है। इस तरह बच्चा या व्यक्ति आत्म नियंत्रित हो जाता है, एवं सामाजिक नियंत्रण बना रहता है।

राज्य : सामाजिक नियंत्रण के औपचारिक अभिकरण में राज्य का स्थान सर्वोपरि है। राज्य कानून, पुलिस, जेल, न्यायालय, सेना, गुप्तचर आदि के माध्यम से व्यक्ति एवं समूह पर नियंत्रण रखता है। इसके अतिरिक्त राज्य अपने नागरिकों को अधिकार एवं सुरक्षा प्रदान करता है तथा उनके कल्याण के लिए नीतियों का निर्माण करता है साथ ही बाह्य आक्रमण से देश की रक्षा करता है।

मैकाइवर के अनुसार राज्य एक ऐसी समिति है जो कानून एवं शासनाधिकार के द्वारा कार्य करती है और जिसे एक निश्चित भू-भाग के अंदर सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने के सर्वोच्च अधिकार प्राप्त होते हैं। गार्नर के अनुसार राज्य व्यक्ति का वह समूह है जो सामान्यतः एक निश्चित भू-भाग पर रहता है, बाह्य नियंत्रण से लगभग पूरी तरह स्वतंत्र होता है, जिसका अपना एक शासनतंत्र होता है तथा स्वभाग से ही व्यक्तियों में इस शासनतंत्र के प्रति आज्ञा पालन की भावना होती है।

वेबर के अनुसार राज्य एक मानवीय समुदाय है, जिसका एक निश्चित भू-भाग में भौतिक बल के वैधानिक प्रयोग पर एकाधितार होता है और साथ ही यह इस अधिकार को सफलतापूर्वक लागू करता है।

राज्य की निम्न चार विशेषताएं होती हैं—

1. निश्चित भू-भाग
2. जनसंख्या

3. संप्रभुता

4. सरकार

सामाजिक नियंत्रण में राज्य की भूमिका को निम्न बिंदुओं में देखा जा सकता है।

1. मूलाधिकारों की रक्षा
2. समस्याओं का लोकतांत्रिक समाधान
3. दंड के द्वारा नियंत्रण
4. पुरस्कार द्वारा नियंत्रण स्थापित करना
5. कानूनों, नीतियों का निर्माण एवं क्रियान्वयन
6. आंतरिक एवं बाह्य सुरक्षा द्वारा नियंत्रण

**धर्म**—धर्म अलौकिक शक्ति में विश्वास है। यह विश्वास ही सामाजिक नियंत्रण स्थापित करता है। ईश्वर, स्वर्ग, नर्क, पाप, पुण्य के भय से व्यक्ति समाज विरोधी एवं अनैतिक कार्य से बचता है। सामाजिक नियमों के उल्लंघन का तात्पर्य पाप करना एवं ईश्वर के कोप का पात्र बनना। इसलिए मनुष्य सामाजिक नियमों को स्वतः स्वीकार करता है। बाढ़, भूकंप एवं अन्य प्राकृतिक आपदा से व्यक्ति भयभीत रहता है। इसलिए धर्म से संबंधित विश्वास व्यवस्था का पालन करता है।

फ्रेजर अपनी पुस्तक गोल्डन बो में लिखते हैं कि धर्म से मेरा तात्पर्य मनुष्य से श्रेष्ठ उन शक्तियों की संतुष्टि अथवा आराधना है जिनके बारे में व्यक्तियों का यह विश्वास हो कि वे प्रकृति और मानव जीवन को नियंत्रित करती हैं तथा उन्हें मार्ग दिखाती हैं।

दुर्खीम के अनुसार धर्म पवित्र वस्तुओं से संबंधित अनेक विश्वासों तथा आचरणों की वह व्यवस्था है जो अपने से संबंधित लोगों को एक नैतिक समुदाय में बांधती है।

**शैक्षणिक संस्थाएं**—शैक्षणिक संस्था सामाजिक नियंत्रण का अभिकरण है एवं शिक्षा साधन है। जहां व्यक्ति का अनौपचारिक सामाजिक परिवार में होता है वही औपचारिक सामाजिक शैक्षणिक संस्थाओं द्वारा किया जाता है। शिक्षा व्यक्ति में आत्म नियंत्रण की शक्ति पैदा करता है। जिससे व्यक्ति उचित-अनुचित, सही-गलत का निर्णय ले सके तथा उस पर अपनी राय एवं प्रतिक्रिया व्यक्त कर सके। वास्तविक शिक्षा के मायने भी यही है कि व्यक्ति सही एवं गलत में अंतर कर सके तथा सही का साथ एवं गलत का विरोध दर्ज कर सके। इस तरह शिक्षा व्यक्ति को आत्म-नियंत्रण का सामर्थ्य प्रदान करता है एवं समाज के नियंत्रण करने के लिए व्यक्ति को सामर्थ्य एवं प्रेरणा प्रदान करता है।

महात्मा गांधी के अनुसार शिक्षा से मेरा अभिप्राय बच्चे के शरीर, मन और आत्मा में विद्यमान सर्वोत्तम गुणों का सर्वांगीण विकास करना है। बोगार्डस के अनुसार संस्कृतिक विरासत एवं जीवन के अर्थ को प्रदान करना ही शिक्षा है।

## अनौपचारिक नियंत्रण व्यक्तित्व का मनोविज्ञान : प्रतिबंधों की एक प्रणाली—शब्द सामाजिक नियंत्रण

- प्रतिबंधों
- वास्तविक प्रतिबंध

प्रतिबंधों की गंभीरता इस पर निर्भर करती है।

प्रतिबंध क्या है? यह शब्द सामाजिक नियंत्रण एक फ्रांसीसी समाजशास्त्री और सामाजिक मनोवैज्ञानिक द्वारा वैज्ञानिक परिसंचरण में पेश किया गया था। गैब्रियल टार्डे। उन्होंने इसे आपराधिक व्यवहार को सही करने का एक महत्वपूर्ण साधन माना। इसके बाद टार्डे ने इस शब्द के विचारों का विस्तार किया और सामाजिक नियंत्रण को सामाजिकरण के मुख्य कारकों में से एक माना। सामाजिक नियंत्रण व्यवहार के सामाजिक विनियमन और सार्वजनिक व्यवस्था बनाए रखने का एक विशेष तंत्र है।

**अनौपचारिक और औपचारिक नियंत्रण**—अनौपचारिक नियंत्रण उसके रिश्तेदारों, दोस्तों, सहकर्मियों, परिचितों साथ ही जनता की राय द्वारा किसी व्यक्ति के कार्यों की स्वीकृति या निंदा पर आधारित है, जो कि रीति-रिवाजों और परंपराओं, या क्या के माध्यम से व्यक्त किया गया है पारंपरिक समाज में, बहुत कम स्थापित मानदंड थे। पारंपरिक ग्रामीण समुदायों के सदस्यों के जीवन के अधिकांश पहलुओं को अनौपचारिक रूप से नियंत्रित किया गया था। पारंपरिक छूट्टियों और समारोहों से जुड़े अनुष्ठानों और समारोहों का सख्त पालन, सामाजिक मानदंडों के लिए सम्मान, उनकी आवश्यकता को समझना।

अनौपचारिक नियंत्रण एक छोटे समूह तक सीमित है, एक बड़े समूह में, यह अप्रभावी है। अनौपचारिक नियंत्रण के एजेंट रिश्तेदार, दोस्त, पड़ोसी, परिचित हैं।

औपचारिक नियंत्रण आधिकारिक अधिकारियों और प्रशासन द्वारा किसी व्यक्ति के कार्यों की स्वीकृति या निंदा पर आधारित है। एक जटिल आधुनिक समाज में, जिसमें कई हजारों या लाखों लोग हैं, अनौपचारिक नियंत्रण के माध्यम से आदेश बनाए रखना असंभव है। आधुनिक समाज में, विशेष सामाजिक संस्थाओं, जैसे कि अदालतों, शैक्षिक संस्थानों, सेना, चर्च, मीडिया, उमों आदि द्वारा आदेश का नियंत्रण किया जाता है। तदनुसार, इन सुविधाओं के कर्मचारी औपचारिक नियंत्रण एजेंट हैं।

यदि कोई व्यक्ति सामाजिक मानदंडों की सीमाओं से परे चला जाता है, और उसका व्यवहार सामाजिक अपेक्षाओं को पूरा नहीं करता है, तो वह निश्चित रूप से प्रतिबंधों का सामना करेगा, अर्थात्, लोगों के भावनात्मक रूप से विनियमित व्यवहार के लिए भावनात्मक प्रतिक्रिया।

**प्रतिबंधों**—ये दंड और पुरस्कार हैं जो एक सार्वजनिक समूह द्वारा किसी व्यक्ति पर लागू किए जाते हैं। चूंकि सामाजिक नियंत्रण या तो औपचारिक या अनौपचारिक है, इसलिए चार मुख्य प्रकार के प्रतिबंध हैं—औपचारिक सकारात्मक, औपचारिक नकारात्मक, अनौपचारिक सकारात्मक और अनौपचारिक नकारात्मक।

**औपचारिक सकारात्मक प्रतिबंध**—यह आधिकारिक संगठनों द्वारा सार्वजनिक अनुमोदन है—पत्र, पुरस्कार, शीर्षक और शीर्षक, राज्य पुरस्कार और उच्च पद। वे नुस्खे की उपस्थिति से निकटता से संबंधित हैं जो यह निश्चित करते हैं कि किसी व्यक्ति को व्यक्ति की आवश्यकताओं के अनुसार कैसे व्यवहार करना चाहिए और उन्हें प्रामाणिक नुस्खे का पालन करने के लिए पुरस्कार प्रदान किए जाते हैं।

**औपचारिक नकारात्मक प्रतिबंध**—ये कानूनी कानूनों, सरकार के फरमान, प्रशासनिक निर्देशों और आदेशों के लिए प्रदान की जाने वाली सजाएं हैं—नागरिक अधिकारों से वंचित करना, कारावास, गिरफ्तारी, काम से बर्खस्तगी, जुर्माना एफ, आधिकारिक सजा, फटकार, मौत की सजा आदि। वे व्यवहार को नियंत्रित करने वाले नियमों की उपस्थिति से संबंधित हैं। व्यक्तिगत और संकेत मिलता है कि इन मानकों का पालन न करने के लिए क्या सजा है।

**अनौपचारिक सकारात्मक प्रतिबंध**—यह अनौपचारिक व्यक्तियों और संगठनों द्वारा सार्वजनिक अनुमोदन है। सार्वजनिक प्रशंसा, प्रशंसा, मौन स्वीकृति, तालियां, प्रसिद्धि, मुस्कान आदि।

**अनौपचारिक नकारात्मक प्रतिबंध**—यह आधिकारिक अधिकारियों द्वारा अप्रत्याशित रूप से सजा है, जैसे कि टिप्पणी उपहास, क्रूर चुटकुले, अवमानना, अमित्र याद करते हैं, निंदा आदि। प्रतिबंधों की टाइपोलॉजी हमारे द्वारा चुनी गई शैक्षणिक प्रणाली पर निर्भर करती है। प्रतिबंधों को जिस तरह से लागू किया जाता है, उसे देखते हुए प्रासंगिक और आशाजनक प्रतिबंधों की पहचान की जाती है।

**वास्तविक प्रतिबंध**—ये वे हैं जो वास्तव में एक निश्चित समानता में लागू होते हैं। सभी को यह सुनिश्चित हो सकता है कि अगर वह मौजूदा सामाजिक मानदंडों से परे जाता है, तो उसे मौजूदा नियमों के अनुसार दंडित या सम्मानित किया जाएगा। यदि वे नियमात्मक आवश्यकताओं से परे हैं तो दंडात्मक प्रतिबंध व्यक्तियों को सजा या पुरस्कार देने से वादों से जुड़े हैं। बहुत बार, निष्पादन के एकमात्र खतरे व्यक्ति को मानक ढांचे के भीतर रखने के लिए पर्याप्त है। प्रतिबंधों को विभाजित करने के लिए एक और मानदंड उनके आवेदन के समय से संबंधित है।

दमनकारी प्रतिबंधों को एक व्यक्ति द्वारा एक निश्चित कार्रवाई करने के बाद लागू किया जाता है सजा या पारिश्रमिक की राशि सार्वजनिक मान्यताओं द्वारा निर्धारित की गई है कि इसकी कार्रवाई की हानिकारकता या उपयोगिता के बारे में। किसी व्यक्ति द्वारा एक निश्चित कार्रवाई करने से पहले भी प्रतिबंधात्मक प्रतिबंध लागू किए जाते हैं। निवारक प्रतिबंधों का उपयोग व्यक्ति को उस प्रकार के व्यवहार के लिए प्रेरित करने के लिए किया जाता है जिसकी समाज को आवश्यकता है।

आज, अधिकांश सभ्य देशों में, प्रचलित धारणा सजा का संकट राज्य और पुलिस नियंत्रण का संकट है। न केवल मौत की सजा, बल्कि जेल की सजा के उन्मूलन के लिए आंदोलन और सजा के वैकल्पिक उपायों के लिए संक्रमण और घायलों के अधिकारों की बहाली के साथ आंदोलन बढ़ रहा है।

विश्व अपराध विज्ञान और विचलन के समाजशास्त्र में रोकथाम के विचार को प्रगतिशील और आशाजनक माना जाता है।

सामाजिक प्रतिबंध इनाम और सजा का एक साधन हैं, जो लोगों को सामाजिक मानदंडों का पालन करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। सामाजिक प्रतिबंध मानदंडों के संरक्षक हैं।

प्रतिबंधों के प्रकार—

1. औपचारिक सकारात्मक प्रतिबंध अधिकारियों द्वारा अनुमोदित हैं—

- छात्रवृत्ति
- स्मारक

30 ❖ भारतीय समाज और समाजशास्त्र

2. अनौपचारिक सकारात्मक प्रतिबंध सार्वजनिक स्वीकृति हैं—

- वाहवाही
- तारीफ

औपचारिक नकारात्मक अधिकारियों की सजा है—

- बर्खास्तगी
- मौत की सजा

4. अनौपचारिक नकारात्मक प्रतिबंध—समाज द्वारा दंड—

- नोट
- मजाक

सामाजिक नियंत्रण दो प्रकार के होते हैं—

1. बाहरी सामाजिक नियंत्रण—यह अधिकारियों, समाज, करीबी लोगों द्वारा किया जाता है।
2. आंतरिक सामाजिक नियंत्रण—यह व्यक्ति द्वारा स्वयं किया जाता है। मानव व्यवहार आत्म-नियंत्रण पर 70 प्रतिशत निर्भर हैं।

3. सामाजिक विचलन : विचलित और अपराधी व्यवहार।

ऐसे लोगों का व्यवहार जो सामाजिक मानदंडों का पालन नहीं करते हैं, उन्हें भटकाव कहा जाता है। ये कार्य इस समाज में प्रचलित मानदंडों और सामाजिक रूढ़ियों के अनुरूप नहीं हैं। सकारात्मक विचलन एक विचलित व्यवहार है जो समाज के हिस्से पर अस्वीकृति का कारण नहीं बनता है। यह वीरतापूर्ण कार्य, आत्म बलिदान, अति-भक्ति, अत्यधिक उत्साह, दया और सहानुभूति की एक उच्च भावना, अति-प्रेम आदि हो सकते हैं। नकारात्मक विचलन—विचलन कि ज्यादातर लोग अस्वीकृति और निंदा की प्रतिक्रिया का कारण बनते हैं। इनमें आतंकवाद, बर्बरता, चोरी, विश्वासघात, जानवरों के प्रति क्रूरता आदि शामिल हैं।

अपराधी व्यवहार उस कानून का गंभीर उल्लंघन है जिसके लिए आपराधिक दायित्व का पालन किया जा सकता है।

विचलन के कई मूल रूप हैं।

सामाजिक नियंत्रण की प्रणाली और उसके तरीके। औपचारिक और अनौपचारिक नियंत्रण एजेंट।

सामाजिक नियंत्रण प्रणाली की एक जटिल संरचना है—

1. बाहरी नियंत्रण प्रतिबंधों के माध्यम से किया गया।
2. आंतरिक नियंत्रण या आत्म-नियंत्रण सामाजीकरण और व्यक्तिगत व्यवहार के आत्म-नियमन के साधन के रूप में सेवा प्रदान करता है।

3. अप्रत्यक्ष नियंत्रण एक निश्चित समूह के साथ व्यक्ति की पहचान और उसके मानदंडों के अनुरूप अपनाए और उनका पालन करने के कारण।

टी. पार्सन्स ने सामाजिक नियंत्रण के मुख्य तरीकों की पहचान की—

1. इन्सुलेशन, जिसका उपयोग किसी ऐसे व्यक्ति की स्वतंत्रता को प्रतिबंधित करने के लिए किया जाता है जो महत्वपूर्ण सामाजिक मानदंडों का उल्लंघन करता है। व्यवहार में, इसे कारावास की सजा के निष्पादन के रूप में लागू किया जाता है।

2. अलवाव, जो एक व्यक्ति के सामाजिक संपर्कों को प्रतिबंधित करने के लिए उबलता है जो अन्य लोगों के साथ मानदंडों का उल्लंघन करता है।

3. पुनर्वास सामाजिक मानदंडों का उल्लंघन करने वाले। पुनर्वास सामाजिक संबंधों को बहाल करने की प्रक्रिया है। इसके लिए मनोवैज्ञानिकों, मनोचिकित्सकों और सामाजिक कार्यकर्ताओं को व्यक्तियों के सामाजिक अनुकूलन पर काम करने की आवश्यकता होती है। जिनका व्यवहार आदर्श से विचलित होता है।

सामाजिक नियंत्रण की प्रभावशीलता समाज या मौजूदा मानदंडों के महत्व के समूह द्वारा मूल्यांकन पर निर्भर करती है, सामाजिकरण के परिणामों पर समाज के एकीकरण की डिग्री और इसके संस्थानीकरण के स्तर पर शोधकर्ताओं ने जोर दिया कि नकारात्मक प्रतिबंधों को कसने से सामाजिक नियंत्रण की प्रभावशीलता में स्पष्ट वृद्धि नहीं होती है। इसलिए, सामाजिक नियंत्रण की प्रभावशीलता में सुधार के संबंध में अधिकांश सिफारिशों में निवारक उपायों पर जोर दिया गया है।

**बाहरी नियंत्रण :** यह संस्थानों और तंत्रों का एक समूह है जो व्यवहार और कानूनों के आमतौर पर स्वीकृत मानदंडों के अनुपालन की गारंटी देता है, यह औपचारिक और अनौपचारिक में विभाजित है।

**अनौपचारिक नियंत्रण :** रिश्तेदारों, दोस्तों, सहकर्मियों, परिचितों के एक समूह की मंजूरी या निंदा के आधार पर, साथ ही जनमत के हिस्से पर, जो परंपराओं और रीति-रिवाजों या मीडिया के माध्यम से व्यक्त किया जाता है।

अनौपचारिक नियंत्रण परिवार, रिश्तेदारों, दोस्तों और परिचितों के सर्कल द्वारा किया जा सकता है उन्हें अनौपचारिक नियंत्रण के एजेंट कहा जाता है। यदि हम परिवार को एक सामाजिक संस्था मानते हैं, तो हमें यह कहना चाहिए कि यह सामाजिक नियंत्रण की एक महत्वपूर्ण संस्था है।

**औपचारिक नियंत्रण :** आधिकारिक अधिकारियों और प्रशासन द्वारा अनुमोदन या निंदा के आधार पर। अनौपचारिक नियंत्रण लोगों के एक छोटे समूह तक सीमित है, एक बड़े समूह में यह प्रभावी नहीं है, इसलिए इसे स्थानीय, स्थानीय कहा जाता है।

इसके विपरीत, औपचारिक नियंत्रण पूरे देश में संचालित होता है और प्रकृति में औपचारिक होता है, इसे विशेष लोगों द्वारा किया जाता है। औपचारिक नियंत्रण के एजेंट—ये लोग विशेष रूप से प्रशिक्षित हैं और नियंत्रण कार्यों को करने के लिए भुगतान किया जाता है, वे सामाजिक स्थितियों और भूमिकाओं के न्यायाधीश हैं।

प्रतिबंधों के प्रकार	
औपचारिक	अनौपचारिक
<b>नकारात्मक</b>	
कानून के अपराध के लिए सजा या प्रशासनिक ओदश का उल्लंघन, जुर्माना, कारावास, सुधारक श्रम इत्यादि।	समाज के हिस्से पर किसी कार्य के लिए किसी व्यक्ति की निंदा: अपमानजनक स्वर, गाली या फटकार, किसी व्यक्ति की उपेक्षा करने वाला प्रदर्शन आदि।
<b>सकारात्मक</b>	
किसी व्यक्ति की गतिविधि को प्रोत्साहित करना या आधिकारिक संगठनों द्वारा विलेख: पेशेवर, शैक्षणिक सफलता आदि के प्रमाण-पत्र।	अनौपचारिक व्यक्तियों की कृतज्ञता और अनुमोदन: प्रशंसा, अनुमोदन मुस्कान आदि।

## 2.3 सामाजिकीकरण प्रक्रिया

सामाजिक स्तरीकरण से अभिप्राय समाज में समूहों के बीच संरचनात्मक असमानताओं के अस्तित्व, भौतिक अथवा प्रतीकात्मक पुरस्कारों की पहुँच से है। हालाँकि प्रत्येक समाज में किसी न किसी रूप में सामाजिक स्तरीकरण विद्यमान है, परंतु आधुनिक समाज धन तथा शक्ति की असमानताओं के कारण पहचाने जाते हैं। एक तरफ जहाँ आधुनिक समाज में स्तरीकरण के सर्वाधिक प्रचलित रूपों में वर्ग-विभाजन है, वहीं दूसरी ओर प्रजाति तथा जाति, क्षेत्र तथा समुदाय, जनजाति तथा लिंग इत्यादि सामाजिक स्तरीकरण के आधार बने हैं।

आपको याद होगा कि सामाजिक संरचना में सामाजिक व्यवहार के निश्चित प्रतिमान (पैटर्न) निहित होते हैं। सामाजिक स्तरीकरण एक विस्तृत सामाजिक संरचना के भाग के रूप में असमानता के निश्चित प्रतिमान द्वारा पहचाना जाता है। असमानता कोई ऐसा अवयव नहीं है जो समाज में विभिन्न व्यक्तियों के बीच आकस्मिक रूप से वितरित हो। यह तो व्यवस्थित रूप से विभिन्न प्रकार के सामाजिक समूहों की सदस्यता से जुड़ी हुई है। एक समूह के सदस्यों की विशेषताएँ समान होती हैं, और यदि वे उच्च स्थिति में हैं तो उनका प्रयत्न होगा कि उनकी विशेषाधिकृत स्थिति उनके बच्चों को मिल जाए। स्तरीकरण की संकल्पना, तब उस विचार को संदर्भित करती है जहाँ समाज का विभाजन एक निश्चित प्रतिमान के रूप में समूहों में होता है, तथा यह संरचना पीढ़ी दर पीढ़ी चलती रहती है। असमान रूप से बाँटे गए लाभों के अंतर को समझना भी आवश्यक है। लाभ के तीन बुनियादी प्रकार हैं जिसका विशेषाधिकार प्राप्त समूहों द्वारा उपभोग किया जाता है—

(अ) **जीवन अवसर**—वे सभी भौतिक लाभ जो प्राप्तकर्ता के जीवन की गुणवत्ता को सुधारते हैं—उनमें केवल संपत्ति तथा आय जैसे आर्थिक लाभों को ही शामिल नहीं किया जाता बल्कि अन्य सुविधाओं; जैसे—स्वास्थ्य, रोज़गार, सुरक्षा तथा मनोरंजन को भी शामिल किया जाता है।

(ब) **सामाजिक प्रस्थिति**—मान-सम्मान तथा समाज के अन्य व्यक्तियों की नज़रों में उच्च स्थान।



( स ) राजनैतिक प्रभाव—एक समूह द्वारा दूसरे समूह अथवा समूहों पर प्रभुत्व जमाना अथवा निर्णय निर्धारण में प्रमाणाधिक्य प्रभाव अथवा निर्णयों से अत्यधिक लाभ उठाना। आगे होने वाली चर्चा में हम उपरोक्त तीन सामाजिक प्रक्रियाओं की तरफ आपका ध्यान आकर्षित करेंगे और बताएँगे कि किस प्रकार सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न आधार; जैसे—लिंग अथवा वर्ग सामाजिक प्रक्रियाओं को बाधित करते हैं। व्यक्ति तथा वर्गों को मिलने वाले अवसर तथा संसाधन जो प्रतियोगिता, सहयोग अथवा संघर्ष के रूप में सामने आते हैं—इन्हें सामाजिक संरचना तथा सामाजिक स्तरीकरण के द्वारा आकार दिया जाता है। साथ ही मनुष्य पूर्वस्थित संरचना तथा स्तरीकरण में परिवर्तन लाने का प्रयास करता है।

## 2.4 सामाजिक नियंत्रण की संकल्पना

सामाजिक नियंत्रण समाजशास्त्र में सामान्यतः सबसे ज़्यादा प्रयोग की जाने वाली संकल्पनाओं में से एक है। इसका तात्पर्य उन अनेक साधनों से है जिनके द्वारा समाज अपने उदंड या उपद्रवी सदस्यों को पुनः राह पर लाता है। आप यह जानेंगे कि किस प्रकार संकल्पनाओं के अर्थ के बारे में समाजशास्त्र में अलग-अलग दृष्टिकोण और विवाद हैं। आप यह भी जानेंगे कि प्रकार्यवादी समाजशास्त्रियों ने समाज को विशेष रूप से सामंजस्यपूर्ण समझा और विरोधी समाजशास्त्रियों ने समाज को मुख्य रूप से असमान, असंगत और अत्याचारी समझा। हमने यह भी देखा कि किस प्रकार कुछ समाजशास्त्रियों ने व्यक्ति और समाज पर अधिक ध्यान केंद्रित किया और दूसरों ने सामूहिकताओं पर जैसे वर्ग, प्रजातियाँ, जातियाँ। प्रकार्यवादी दृष्टिकोण के अनुसार सामाजिक नियंत्रण का तात्पर्य है—(1) व्यक्तियों और समूहों के व्यवहार को नियमित करने के लिए बल प्रयोग करना, (2) समाज में व्यवस्था बनाए रखने के लिए मूल्यों और प्रतिमानों को लागू करना। सामाजिक नियंत्रण को एक तरफ व्यक्तियों या समूहों के पथभ्रष्ट व्यवहारों को नियंत्रित करने के लिए संचालित किया जाता है और दूसरी तरफ, सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक साहचर्य को बनाए रखने के लिए व्यक्तियों और समूहों के तनाव और विरोध का सामाजिक परिवर्तन : संकल्पना परिवर्तन के कारक तथा निहितार्थ दूर करने में इसका प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार समाज में स्थिरता के लिए सामाजिक नियंत्रण को महत्वपूर्ण माना जाता है। संघर्षवादी सिद्धांतवादी अकसर सामाजिक नियंत्रण को ऐसे साधनों के रूप में अधिक देखेंगे जिनके द्वारा समाज के प्रभावी वर्ग का बाकी समाज पर नियंत्रण लागू किया जा सकता है। स्थिरता को समाज के एक भाग द्वारा दूसरे भाग पर प्रभुत्व के रूप में देखा जाएगा। इसी प्रकार कानून को समाज में शक्तिशालियों और उनके हितों के औपचारिक दस्तावेज़ के रूप में देखा जाएगा। सामाजिक नियंत्रण का तात्पर्य सामाजिक प्रक्रियाओं, तकनीकों और रणनीतियों से है जिनके द्वारा व्यक्ति या समूह के व्यवहार को नियमित किया जाता है।

इसका अर्थ व्यक्तियों और समूहों के व्यवहार को नियमित करने के लिए बल प्रयोग से और समाज में व्यवस्था के लिए मूल्यों व प्रतिमानों को लागू करने से है। सामाजिक नियंत्रण अनौपचारिक या औपचारिक हो सकता है। जब नियंत्रण के संहिताबद्ध, व्यवस्थित और अन्य औपचारिक साधन प्रयोग किए जाते हैं तो यह औपचारिक सामाजिक नियंत्रण के रूप में जाना जाता है। ये औपचारिक सामाजिक नियंत्रण के माध्यम और साधन होते हैं उदाहरण के लिए, कानून और राज्य। आधुनिक समाज में, सामाजिक नियंत्रण के औपचारिक साधनों और माध्यमों पर जोर दिया जाता है। प्रत्येक समाज में, एक दूसरे प्रकार का सामाजिक नियंत्रण होता है, जिसे अनौपचारिक

सामाजिक नियंत्रण के रूप में जाना जाता है। यह व्यक्तिगत, अशासकीय और असंहिताबद्ध होता है। इसमें मुस्कान, चेहरे बनाना, शारीरिक भाषा, आलोचना, उपहास, हँसी आदि सम्मिलित होते हैं। एक ही समाज में इनके प्रयोग में काफी भिन्नताएँ हो सकती हैं। दैनिक जीवन में ये बहुत प्रभावशाली होते हैं। फिर भी, कुछ मामलों में सामाजिक नियंत्रण की अनौपचारिक विधियाँ अनुरूपता या आज्ञाकारिता लागू करने में असमर्थ हो सकती हैं। अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण के विभिन्न माध्यम होते हैं अर्थात् परिवार, धर्म, नातेदारी आदि। क्या आपने इज्जत के लिए हत्या के बारे में सुना है?

समाचार पत्र रिपोर्ट को पढ़ें और इसमें शामिल सामाजिक नियंत्रण के विभिन्न माध्यमों को पहचानें। स्वीकृति पुरस्कार या दंड का एक ढंग है जो सामाजिक रूप से अपेक्षित व्यवहार को पुनःस्थापित करता है। सामाजिक नियंत्रण सकारात्मक या नकारात्मक हो सकता है। समाज के सदस्यों को अच्छे और अपेक्षित व्यवहार के लिए पुरस्कृत किया जा सकता है। दूसरी तरफ, नियमों को लागू करने के लिए और विचलन को राह पर लाने के लिए नकारात्मक स्वीकृतियों का प्रयोग भी किया जाता है। विचलन का अर्थ उन क्रियाओं से है जो समाज या समूह के अधिकतर सदस्यों के मूल्यों या आदर्शों के अनुसार नहीं होती है। विचलन को मोटे तौर पर विभिन्न संस्कृतियों या उप संस्कृतियों में अंतर करने वाले मानकों और मूल्यों के रूप में जाना जाता है। इसी प्रकार विचलन के विचार को एक समय से दूसरे समय में चुनौतियाँ मिलती हैं और ये परिवर्तित शब्दावली विरोधी सिद्धांत—एक समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण जो मानव समाजों में उपस्थित तनावों, विभाजनों और संघर्षरत रुचियों पर ध्यान केंद्रित करता है। संघर्षवादी सिद्धांतकार मानते हैं कि समाज में संसाधनों की कमी और उनका मूल्य विरोध उत्पन्न करता है क्योंकि समूह इन संसाधनों पर पहुँच और नियंत्रण स्थापित करने के लिए संघर्ष करते हैं। कई संघर्षवादी सिद्धांतकार मार्क्स के लेखन से अत्यधिक प्रभावित हुए हैं। प्रकार्यवाद—एक सैद्धांतिक दृष्टिकोण जो इस धारणा पर आधारित है कि सामाजिक घटनाओं को उन कार्यों के रूप में सबसे अच्छी प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है जो वे निभाते हैं। अर्थात् समाज की निरंतरता में, वे जो योगदान करते हैं एवं एक जटिल व्यवस्था के रूप में समाज को, जिसके विभिन्न भाग एक दूसरे के साथ कार्य करते हैं, को समझने की आवश्यकता है।

पहचान—एक व्यक्ति या समूह के चरित्र की विशेषताएँ जो यह बताती हैं कि वे कौन हैं और उनके लिए क्या अर्थपूर्ण है। पहचान के कुछ स्रोत हैं—लिंग, राष्ट्रीयता या प्रजातीयता, सामाजिक वर्ग। उत्पादन के साधन—वे साधन जिनके द्वारा समाज में भौतिक वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है, जिनमें न केवल तकनीक बल्कि उत्पादकों के परस्पर सामाजिक संबंध भी सम्मिलित हैं। होते रहते हैं। उदाहरण के लिए, एक ही समाज में अंतरिक्षयात्री बनने की इच्छा रखने वाली महिला को एक समय में तो विचलक माना जाएगा और दूसरे समय में उसी समाज में उसकी प्रशंसा की जाएगी। आप पहले ही जानते हैं कि समाजशास्त्र किस प्रकार सामान्य बौद्धिक ज्ञान से भिन्न है।

---

## 2.5 सामाजिक परिवर्तन : संकल्पना परिवर्तन के कारक तथा निहितार्थ

---

‘सामाजिक परिवर्तन’ एक सामान्य अवधारणा है जिसका प्रयोग किसी भी परिवर्तन के लिए किया जा सकता है, जो अन्य अवधारणा द्वारा परिभाषित नहीं किया जा सकता, जैसे आर्थिक अथवा राजनैतिक परिवर्तन। समाजशास्त्रियों को इसके व्यापक अर्थ को विशिष्ट बनाने के लिए कठिन परिश्रम करना पड़ा। ताकि यह सामाजिक सिद्धांत के लिए महत्वपूर्ण हो सके। अपने बुनियादी स्तर पर, सामाजिक परिवर्तन इंगित करता है, उन परिवर्तनों को जो

महत्त्वपूर्ण हैं—अर्थात्, परिवर्तन जो 'किसी वस्तु अथवा परिस्थिति की मूलाधार संरचना को समयावधि में बदल दें।' अतः सामाजिक परिवर्तन कुछ अथवा सभी परिवर्तनों को सम्मिलित नहीं करते, मात्र बड़े परिवर्तन जो, वस्तुओं को बुनियादी तौर पर बदल देते हैं। परिवर्तन का 'बड़ा' होना मात्र इस बात से नहीं मापा जाता कि वह कितना परिवर्तन लाता है, बल्कि परिवर्तन के पैमाने से, अर्थात् समाज के कितने बड़े भाग को उसने प्रभावित किया है। दूसरे शब्दों में, परिवर्तन दोनों, सीमित तथा विस्तृत तथा समाज के एक बड़े हिस्से को प्रभावित करने वाला होना चाहिए ताकि वह सामाजिक परिवर्तन के योग्य हो सके। इस प्रकार के मापदंडों के बावजूद सामाजिक परिवर्तन एक विस्तृत शब्द है। इसे और विशेष बनाने के लिए स्रोतों अथवा कारकों को अधिकतर वर्गीकृत करने की कोशिश की जाती है।

प्राकृतिक आधार पर अथवा समाज पर इसके प्रभाव अथवा इसकी गति के आधार पर इसका वर्गीकरण किया जाता है। उदाहरण के लिए, ऐसे परिवर्तन को 'उद्विकास' का नाम दिया गया है जो काफी लंबे समय तक धीरे-धीरे होता है। यह शब्द, प्राणीशास्त्री चार्ल्स डार्विन द्वारा दिया गया। जिन्होंने उद्विकासीय सिद्धांत के द्वारा यह प्रतिपादित किया कि कैसे जीवित प्राणी विकसित होते हैं। कई शताब्दियों अथवा कभी-कभी सहस्राब्दियों में धीरे-धीरे अपने आपको प्राकृतिक वातावरण में ढाल कर बदलते रहते हैं। डार्विन के सिद्धांत ने 'योग्यतम की उत्तरजीविता' के विचार पर बल दिया—केवल वही जीवधारी जीवित रहने में सफल होते हैं जो अपने पर्यावरण के अनुरूप अपने आपको ढाल लेते हैं, जो अपने आपको ढालने में सक्षम नहीं होते अथवा ऐसा धीमी गति से करते हैं, लंबे समय में नष्ट हो जाते हैं।

डार्विन ने यह सुझाया कि मनुष्य की उत्पत्ति समुद्री जीवों (अथवा मछलियों के विभिन्न प्रकारों) से भूमि पर रहने वाले स्तनपायी, उससे विभिन्न अवस्थाओं को पार करते हुए उच्चतम अवस्था जहाँ बंदरों तथा गोरिल्लों के विभिन्न प्रकार से अंत में होमो सैपियंस अथवा मनुष्य के रूप में उसकी उत्पत्ति हुई। यद्यपि डार्विन का सिद्धांत प्राकृतिक प्रक्रियाओं को दिखाता है, इसे शीघ्र सामाजिक विश्व में स्वीकृत किया गया जिसे 'सोशल डार्विनिज़्म' के नाम से जाना गया, ऐसा सिद्धांत जिसने अनुकूली परिवर्तन की महत्ता पर बल दिया। उद्विकासीय परिवर्तन के विपरीत, परिवर्तन जो तुलनात्मक रूप से शीघ्र अथवा अचानक होता है, कभी-कभी उसे 'क्रांतिकारी परिवर्तन' कहते हैं। इसका प्रयोग मुख्यतः राजनीतिक संदर्भ में होता है, जहाँ समाज में शक्ति की संरचना में शीघ्रतापूर्वक परिवर्तन लाकर इसे चुनौती देने वालों द्वारा पूर्व सत्ता वर्ग को विस्थापित कर लाया जाता है। इसके उदाहरण हैं फ्रांसिसी क्रांति (1789-93) अथवा सोवियत या 1917 की रूसी क्रांति। सामान्य रूप से इस शब्द का प्रयोग तेज़, आकस्मिक तथा अन्य प्रकार के संपूर्ण परिवर्तनों के लिए भी, कुछ शब्द जैसे 'औद्योगिक क्रांति' अथवा 'संचार क्रांति' इत्यादि के लिए होता है।

विभिन्न प्रकार के परिवर्तन जो अपनी प्रकृति अथवा परिणाम द्वारा पहचाने जाते हैं वे हैं, संरचनात्मक परिवर्तन एवं विचारों, मूल्यों तथा मान्यताओं में परिवर्तन। संरचनात्मक परिवर्तन समाज की संरचना में परिवर्तन को दिखाता है, इसकी संस्थाओं अथवा नियमों जिनसे इन संस्थाओं को चलाया जाता है उदाहरण के लिए, कागज़ी रुपए का मुद्रा के रूप में प्रादुर्भाव वित्तीय संस्थानों तथा लेन-देन में बड़ा भारी परिवर्तन लेकर आया। इस परिवर्तन के पहले, मुख्य रूप से सोने-चाँदी के रूप में मूल्यवान धातुओं का प्रयोग मुद्रा के रूप में होता था। सिक्के की कीमत उसमें पाए जाने वाले सोने अथवा चाँदी से मापी जाती थी। इसके विपरीत, कागज़ी नोट की कीमत का उस कागज से

कोई संबंध नहीं होता था जिस पर वह छापा जाता था और न ही उसकी छपाई से। कागज़ी मुद्रा के पीछे यह विचार था कि सामान अथवा सुविधाओं के लेन-देन में जिस चीज़ का प्रयोग हो, उसका कीमती होना ज़रूरी नहीं। जब तक यह मूल्य को ठीक से दिखाता है अर्थात् जब तक यह विश्वास को जगाए रखता है—तकरीबन कोई भी चीज़ पैसे के रूप में काम कर सकती है। यह विचार ऋण बाज़ार की बुनियाद बना जिसने बैंकिंग तथा वित्त के ढाँचे को बदलने में मदद की। इन परिवर्तनों ने आगे चलकर आर्थिक जीवन में और परिवर्तन किए। मूल्यों तथा मान्यताओं में परिवर्तन भी सामाजिक परिवर्तन ला सकते हैं।

उदाहरण के लिए, बच्चों तथा बचपन से संबंधित विचारों तथा मान्यताओं में परिवर्तन अत्यंत महत्वपूर्ण प्रकार के सामाजिक परिवर्तन में सहायक सिद्ध हुआ है। एक समय था जब बच्चों को साधारणतः 'अवयस्क' समझा जाता था—बचपन से संबंधित कोई विशिष्ट संकल्पना नहीं थी। जो इससे जुड़ी हो कि बच्चों के लिए क्या सही था अथवा क्या गलत। उदाहरण के लिए, उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में, यह ठीक माना जाने लगा कि बच्चे जितनी जल्दी काम करने के योग्य हो जाएँ, काम पर लग जाएँ। बच्चे अपने परिवारों की काम करने में मदद पाँच अथवा छह वर्ष की आयु से ही प्रारंभ कर देते थे; प्रारंभिक फैक्ट्री व्यवस्था बच्चों के श्रम पर आश्रित थी। यह उन्नीसवीं तथा पूर्व बीसवीं शताब्दियों के दौरान बचपन जीवन की एक विशिष्ट अवस्था है—यह संकल्पना प्रभावी हुई। तब छोटे बच्चों का काम करना अविचारणीय हो गया तथा अनेक देशों ने बाल श्रम को कानून द्वारा बंद कर दिया। उसी समय, अनिवार्य शिक्षा संबंधी विचारों का जन्म हुआ, तथा इससे संबंधित कई कानून भी पास किए गए। यद्यपि कुछ ऐसे उद्योग हमारे देश में हैं, जो आज भी बाल श्रम पर कम से कम आंशिक रूप से आश्रित हैं (जैसे—दरी बुनना, छोटी चाय की दुकानें तथा रेस्तराँ, माचिस बनाना इत्यादि)।

बाल श्रम गैर कानूनी है तथा मालिकों को मुजरिमों के रूप में सजा हो सकती है। परंतु अब तक सामाजिक परिवर्तन के वर्गीकरण का सबसे सरल तरीका इसके कारक तत्व तथा स्रोत हैं। कई बार कारक तत्व पूर्ववर्गीकृत होते हैं—आंतरिक (अंतर्जात) और बाहरी (बहिर्जात)। सामाजिक परिवर्तन के पाँच बृहत प्रकार के स्रोत अथवा कारण हैं—पर्यावरण, तकनीकी, आर्थिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक।

**पर्यावरण**—प्रकृति, पारिस्थितिकी तथा भौतिक पर्यावरण का समाज की संरचना तथा स्वरूप पर महत्वपूर्ण प्रभाव हमेशा से रहा है। विगत समय के संदर्भ में यह विशेष रूप से सही है, जब मनुष्य प्रकृति के प्रभावों को रोकने अथवा झेलने में अक्षम था। उदाहरण के लिए, मरुस्थलीय वातावरण में रहने वाले लोगों के लिए एक स्थान पर रहकर कृषि करना संभव नहीं था, जैसे मैदानी भागों अथवा नदियों के किनारे इत्यादि। अतः जिस प्रकार का भोजन वे करते थे अथवा कपड़े पहनते थे, जिस प्रकार आजीविका चलाते थे तथा सामाजिक अन्तःक्रिया ये सब काफी हद तक उनके पर्यावरण के भौतिक तथा जलवायु की स्थितियों से निर्धारित होता है। अत्यधिक ठंडी जलवायु में रहने वालों के लिए भी यह सही था, अथवा बंदरगाह पर स्थित नगरों, प्रमुख व्यापारिक मार्गों अथवा पर्वतीय दर्रों अथवा उपजाऊ नदी घाटियाँ। परंतु पर्यावरण जिस हद तक समाज को प्रभावित करता है, वह तकनीकी संसाधनों के बढ़ने व कारण, समय के साथ साथ घटता जा रहा है। प्रकृति द्वारा खड़ी की गई समस्याओं का सामना और अपने आपको उनके अनुरूप ढालना और इस प्रकार भिन्न पर्यावरण के कारण समाजों के बीच आए अंतर को दूर करने में तकनीक हमारी मदद करती है। दूसरी तरफ, तकनीक प्रकृति को तथा इसके साथ हमारे संबंधों को नए तरीकों से बदलती है।

अतः यह कहना अधिक सही होगा कि समाज पर प्रकृति का प्रभाव घटने की बजाए बदल रहा है। आप पूछ सकते हैं कि कैसे यह सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित करते हैं? पर्यावरण ने समूहों को आकार दिया होगा, परंतु इसने सामाजिक परिवर्तन में क्या भूमिका अदा की होगी? इस प्रश्न का सबसे आसान तथा बढ़िया उत्तर प्राकृतिक विपदाओं में मिलेगा। त्वरित तथा विध्वंसकारी घटनाएँ; जैसे—भूकंप, ज्वालामुखी विस्फोट, बाढ़ अथवा ज्वारभाटीय तरंगें (जैसा दिसंबर 2004 में सुनामी की तरंगों से इंडोनेशिया, श्रीलंका, अंडमान द्वीप, तमिलनाडु के कुछ भाग इसकी चपेट में आए) समाज को पूर्णरूपेण बदलकर रख देते हैं। ये बदलाव अपरिवर्तनीय होते हैं, अर्थात्, ये स्थायी होते हैं तथा चीजों को वापस अपनी पूर्वस्थिति में नहीं आने देते।

उदाहरण के लिए, यह संभव हो सकता है कि उनमें से कई लोग जिनका व्यवसाय सुनामी के कारण नष्ट हो गया वे उसे पुनः नहीं पा सकेंगे तथा अधिकांश तटीय गाँवों में सामाजिक संरचना पूर्णतः बदल जाएगी। प्राकृतिक विपदाओं के अनेकानेक उदाहरण इतिहास में देखने को मिल जाएँगे, जो समाज को पूर्णरूपेण सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत : उद्भव व विकास परिवर्तित कर देते हैं अथवा पूर्णतः नष्ट कर देते हैं। इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण पश्चिमी एशिया के रेगिस्तानी प्रदेशों में तेल का मिलना है। जिस प्रकार 19वीं शताब्दी में कैलिफोर्निया में सोने की खोज हुई थी, ठीक उसी प्रकार तेल के भंडारों ने खाड़ी देशों के समाज को बदल कर रख दिया। सउदी अरब, कुवैत अथवा संयुक्त अरब अमीरात जैसे देशों की स्थिति आज तेल संपदा के बिना बिलकुल अलग होती।

**तकनीक तथा अर्थव्यवस्था**—विशेषकर आधुनिक काल में, तकनीक तथा आर्थिक परिवर्तन के संयोग से समाज में तीव्र परिवर्तन आया है। तकनीक समाज को कई प्रकार से प्रभावित करती है। जैसा कि ऊपर देखा गया है, यह हमारी मदद, प्रकृति को विभिन्न तरीकों से नियंत्रित, उसके अनुरूप ढालने में अथवा दोहन करने में करती है। बाज़ार जैसी शक्तिशाली संस्था से जुड़कर तकनीकी परिवर्तन अपने सामाजिक प्रभाव की तरह ही प्राकृतिक कारकों; जैसे—सुनामी अथवा तेल की खोज की तरह प्रभावी हो सकते हैं। सामाजिक परिवर्तन के बृहत, दृष्टिगोचर तथा सर्वाधिक महत्वपूर्ण उदाहरण जो तकनीकी परिवर्तन द्वारा लाए गए वह था औद्योगिक क्रांति आपने वाष्प इंजन द्वारा समाज पर छोड़े गए प्रभाव के बारे में सुना होगा। वाष्प शक्ति की खोज ने, उदीयमान विभिन्न प्रकार के बड़े उद्योगों को शक्ति की उस ताकत को जो न केवल पशुओं तथा मनुष्यों के मुकाबले कई गुना अधिक थी बल्कि बिना रुकावट के लगातार चलने वाली भी थी, से परिचित कराया। इसका दोहन जब यातायात के साधनों; जैसे—वाष्पचलित जहाज़ तथा रेलगाड़ी के रूप में किया गया तो इसने दुनिया की अर्थव्यवस्था तथा सामाजिक भूगोल को बदल कर रख दिया। रेल ने उद्योग तथा व्यापार को अमेरिका महाद्वीप तथा पश्चिमी विस्तार को सक्षम किया। भारत में भी, रेल परिवहन ने अर्थव्यवस्था को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, विशेषकर 1853 में भारत में आने से लेकर मुख्यतः प्रथम शताब्दी तक। वाष्पचलित जहाज़ों ने समुद्री यातायात को अत्यधिक तीव्र तथा भरोसेमंद बनाया तथा इसने अंतरराष्ट्रीय व्यापार तथा प्रवास की गति को बदल कर रख दिया। दोनों परिवर्तनों ने विकास की विशाल लहर पैदा की, जिसने न केवल अर्थव्यवस्था को प्रभावित किया अपितु समाज के सामाजिक, सांस्कृतिक तथा जनसांख्यिक रूप को बदल दिया। वाष्प शक्ति की छाप तथा महत्त्व अपेक्षाकृत तीव्र गति से दृष्टिगोचर हुआ; हालाँकि कभी-कभी तकनीक का सामाजिक प्रभाव पूर्वव्यापी भी होता है। तकनीकी आविष्कार अथवा खोज का कभी-कभी तात्कालिक प्रभाव संकुचित होता है, जो देखने पर लगता है, जैसे सुप्तावस्था में हो। बाद में होने वाले परिवर्तन आर्थिक संदर्भ में उसी खोज की सामाजिक महत्ता को एकदम बदल देते हैं तथा उसे ऐतिहासिक घटना के रूप में मान्यता देते हैं।

इसका उदाहरण चीन में बारूद तथा कागज़ की खोज है, जिसका प्रभाव सदियों तक संकुचित रहा जब तक कि उनका प्रयोग पश्चिमी यूरोप के आधुनिकीकरण के संदर्भ में नहीं हुआ। उसी बिंदु से दी गई परिस्थितियों का लाभ उठा, बारूद द्वारा युद्ध की तकनीक में परिवर्तन तथा कागज़ की छपाई की क्रांति ने समाज को हमेशा के लिए परिवर्तित कर दिया। दूसरा उदाहरण ब्रिटेन के कपड़ा उद्योग में होने वाले तकनीकी प्रयोग से है। बाज़ारी ताकतों तथा साम्राज्यवादी शक्तियों के मेल से नवीन सूत कातने तथा बुनने की मशीनों ने भारतीय उपमहाद्वीप में हथकरघा उद्योग को नष्ट कर दिया जो पूरी दुनिया में सबसे व्यापक तथा उच्चस्तरीय था।

कई बार आर्थिक व्यवस्था में होने वाले परिवर्तन जो प्रत्यक्षतः तकनीकी नहीं होते हैं, भी समाज को बदल सकते हैं। जाना-पहचाना ऐतिहासिक उदाहरण, रोपण कृषि—जहाँ बड़े पैमाने पर नकदी फसलों; जैसे—गन्ना, चाय अथवा कपास की खेती की जाती है, ने श्रम के लिए भारी माँग उत्पन्न की। इस माँग ने 17वीं-19वीं शताब्दी के मध्य संस्था के रूप में दासता तथा अफ्रीका, यूरोप तथा अमेरिका के बीच दासों का व्यापार प्रारंभ किया। भारत में भी असम के चाय बगानों में काम करने वाले अधिकतर लोग पूर्वी भारत के थे (विशेषकर झारखंड तथा छत्तीसगढ़ के आदिवासी भागों से), जिन्हें बाध्य हो श्रम के लिए प्रवास करना पड़ा। आज विश्व के कई भागों में, अंतरराष्ट्रीय समझौतों तथा संस्थाओं जैसे वर्ल्ड ट्रेड ऑर्गेनाइज़ेशन द्वारा आयात कर तथा शुल्कों में लाए गए परिवर्तन, संपूर्ण उद्योग तथा रोज़गार को खत्म करने अथवा (काफ़ी कम) त्वरित उछाल या प्रगति का समय कुछ अन्य उद्योगों तथा रोज़गारों के लिए ला सकते हैं।

**राजनीति**—इतिहास के लेखन तथा संस्मरण की पुरानी विधियों में, राजाओं तथा रानियों की क्रियाएँ सामाजिक परिवर्तन के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण मानी जाती थीं। परंतु जैसा कि अब हमें पता है, राजा तथा रानियाँ विस्तृत राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन का प्रतिनिधित्व करते थे। व्यक्ति समाज में अपनी भूमिका निभा सकता था, परंतु बृहतर संदर्भ में वह इसका एक भाग था। इस अर्थ में, राजनैतिक शक्तियाँ सामाजिक परिवर्तन के महत्वपूर्ण कारण थे। इसका सबसे स्पष्ट उदाहरण युद्धतंत्र में देखा जा सकता है। जब एक समाज दूसरे समाज पर युद्ध घोषित करता है तथा जीतता है या हार जाता है, सामाजिक परिवर्तन इसका तात्कालिक परिणाम होता था। कभी विजेता परिवर्तन के बीज अपने साथ जहाँ कहीं भी जाता है, बोता है तो कभी विजित विजेताओं के समाज को परिवर्तित करने तथा परिवर्तन के बीज बोने में सफल होता है। यद्यपि इतिहास में इस तरह के कई उदाहरण हैं, लेकिन अमेरिका तथा जापान का आधुनिक उदाहरण देखना दिलचस्प होगा। दूसरे विश्वयुद्ध में अमेरिका ने जापान पर महत्वपूर्ण विजय हासिल की, आंशिक रूप से जननाशक हथियार का प्रयोग हुआ जो मानव इतिहास में पहले कभी नहीं देखा गया था और यह था परमाणु बम। जापानियों द्वारा समर्पण के बाद, अमेरिका ने जापान पर कब्ज़ा कर कई वर्षों तक उस पर शासन किया, जिससे जापान में भूमि सुधार के साथ ही साथ कई परिवर्तन आए। उस समय, जापान उद्योग की नकल करने तथा उससे सीखने की बेहद कोशिश कर रहा था। परंतु 1970 तक, हालाँकि, जापानी तकनीक, मुख्य रूप से कार निर्माण के क्षेत्र में, अमेरिका से काफी आगे निकल गई थी। 1970 से 1990 के बीच, जापानी उद्योग ने पूरी दुनिया पर राज किया, विशेषतः यूरोप की औद्योगिक संस्थाओं तथा अमेरिका पर। अमेरिका की औद्योगिक पृष्ठभूमि विशेष रूप से, जापानी औद्योगिक तकनीक तथा उत्पादन संगठन से बृहद स्तर पर प्रभावित हुई।

बड़े व परंपरागत रूप से शक्तिशाली उद्योगों; जैसे—स्टील, वाहन तथा भारी अभियांत्रिकी को काफी बड़ा झटका

लगा तथा उन्हें अपने आप को जापानी तकनीक तथा प्रबंधन के सिद्धांतों के आधार पर बदलना पड़ा। मसलन नए उभरते क्षेत्र जैसे इलेक्ट्रॉनिक्स का भी जापान ने सूत्रपात किया। कई दशकों में, जापान ने युद्धतंत्र की अपेक्षा आर्थिक तथा तकनीकी क्षेत्र में अमेरिका को चुनौती दी। राजनैतिक परिवर्तन केवल अंतरराष्ट्रीय हो यह आवश्यक नहीं है बल्कि उनका बहुत बड़ा सामाजिक असर अपने देश पर भी पड़ा है। यद्यपि आपने इस प्रकार नहीं सोचा होगा, भारतीय स्वतंत्रता संग्राम सिर्फ राजनैतिक परिवर्तन, ब्रिटिश शासन के अंत के रूप में ही नहीं आया बल्कि उसने भारतीय समाज को भी निश्चित रूप से बदल डाला। इसका तात्कालिक उदाहरण 2006 में नेपाली जनता द्वारा राजवंश को पूरी तरह से नकार देना है।

साधारण रूप से, राजनैतिक परिवर्तन, शक्ति के पुनः बँटवारे के रूप में विभिन्न सामाजिक समूहों तथा वर्गों के बीच सामाजिक परिवर्तन लाता है। इस दृष्टिकोण से, सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार अथवा 'एक व्यक्ति एक मत' सिद्धांत, राजनैतिक परिवर्तन के इतिहास में अकेला सर्वाधिक बड़ा परिवर्तन है। जब तक आधुनिक लोकतंत्रों ने पूर्ण रूप से व्यक्तियों को वोट का अधिकार नहीं दिया, जब तक चुनाव कानूनी शक्ति के लिए अधिदेशात्मक नहीं हो गया, समाज की संरचना भिन्न प्रकार से हुई थी। राजा तथा रानियाँ दैविक अधिकार के अंतर्गत राज करते थे तथा वे आम आदमी के प्रति जवाबदेह नहीं थे।

लोकतांत्रिक सिद्धांतों के रूप में मताधिकार को जब पहली बार प्रस्तावित किया गया, तो उसमें संपूर्ण जनसंख्या को शामिल नहीं किया गया था—वास्तव में केवल एक अल्प संख्या ही वोट कर सकती थी अथवा सरकार के निर्माण में उनका हाथ था। प्रारंभ में, वोट उन्हीं तक सीमित था जिनका जन्म समाज की किसी विशिष्ट प्रजाति या नृजाति में हुआ हो। अथवा अमीर व्यक्ति जिनके पास संपत्ति हो अथवा जो इन उच्च सामाजिक वर्गों से जुड़े हों। सभी स्त्रियाँ, निम्न वर्ग के लोग अथवा अधीनस्थ नृजातियाँ तथा गरीब और कामकाजी व्यक्ति को सामान्यतः वोट देने की अनुमति नहीं थी। यह लंबे संघर्षों से ही संभव हुआ कि सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार एक मानदंड के रूप में स्थापित हुआ। हालाँकि इसने पूर्व काल की असमानताओं को समाप्त नहीं किया। आज भी प्रत्येक देश शासन के लोकतंत्रात्मक रूप को नहीं मानते; और जहाँ कहीं भी चुनाव होते हैं, उन्हें बदलने के अनेक तरीके अपनाए जाते हैं जिसके कारण आम जनता अपनी सरकार के निर्णय को प्रभावित करने में शक्तिहीन रहती है, लेकिन इस सबके बावजूद, इसे नकारा नहीं जा सकता है कि सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार एक शक्तिशाली मानदंड के रूप में काम करता है, जो प्रत्येक सरकार तथा प्रत्येक समाज को महत्व देता है। सरकारों को कानूनी वैधता पाने के लिए आवश्यक है कि वह कम से कम, व्यक्तियों की आम सहमति लेता हुआ दिखाई दे। सामाजिक परिवर्तन के परिप्रेक्ष्य में यह व्यापक परिवर्तन लेकर आया है।

**संस्कृति**—संस्कृति को यहाँ विचारों, मूल्यों और मान्यताएँ जो मनुष्य के लिए आवश्यक होते हैं तथा उनके जीवन को आकार देने में मदद करते हैं, के छोटे से लेबल के रूप में प्रयुक्त किया गया है। इन विचारों तथा मान्यताओं में परिवर्तन प्राकृतिक रूप से सामाजिक जीवन में परिवर्तन को दिखाते हैं। सामाजिक-सांस्कृतिक संस्था का सबसे सामान्य उदाहरण धर्म है, जिसका समाज पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। धार्मिक मान्यताएँ तथा मानदंडों ने समाज को व्यवस्थित करने में मदद दी तथा यह बिलकुल आश्चर्यजनक नहीं है कि इन मान्यताओं में परिवर्तन ने समाज को बदलने में मदद की। धर्म इतना महत्वपूर्ण है कि कुछ विचारकों ने सभ्यता को धार्मिक परिप्रेक्ष्य में परिभाषित किया है तथा वे इतिहास को दो धर्मों में अंतःसंबंध की प्रक्रिया के रूप में देखते हैं। यद्यपि, सामाजिक

परिवर्तन के अन्य महत्वपूर्ण कारकों में, धर्म भी संदर्भगत होता है—यह सब संदर्भों को नहीं परंतु कुछ को प्रभावित करता है। मैक्स वेबर का अध्ययन 'द प्रोटेस्टेंट एथिक एण्ड द स्पीरिट ऑफ कैपिटलिज़्म' दिखाता है कि पूँजीवादी सामाजिक प्रणाली की स्थापना में कुछ प्रोटेस्टेंट ईसाई संवर्ग ने किस प्रकार मदद की। आर्थिक तथा सामाजिक परिवर्तन के प्रभाव का यह एक महत्वपूर्ण उदाहरण है।

भारत में भी हम सामाजिक परिवर्तन के रूप में धर्म के कई उदाहरण देखते हैं। इनमें सबसे उत्कृष्ट उदाहरण प्राचीन भारत के सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन पर बौद्ध धर्म का प्रभाव, तथा मध्यकालीन सामाजिक संरचना में अंतर्निहित जाति व्यवस्था के संदर्भ में व्यापक प्रभाव के रूप में देखा जा सकता है। समाज में महिलाओं की स्थिति में जो सामाजिक परिवर्तन आए हैं, उसके वैचारिक उद्भव को सांस्कृतिक उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है। आधुनिक काल में महिलाओं ने समानता के लिए संघर्ष किया है, उन्होंने समाज को कई रूपों में परिवर्तित करने में सहायता की है। ऐतिहासिक परिस्थितियाँ महिलाओं के संघर्ष के लिए कहीं सहायक सिद्ध हुई हैं तो कहीं बाधक। उदाहरण के लिए, द्वितीय विश्वयुद्ध के समय पाश्चात्य देशों में महिलाओं ने कारखानों में काम करना प्रारंभ कर दिया जो पहले कभी नहीं हुआ था तथा जो पहले हमेशा पुरुषों द्वारा किए जाते थे।

यह वास्तविकता थी कि महिलाएँ जहाज़ बना सकती थीं, भारी मशीनों को चला सकती थीं, हथियारों का निर्माण आदि कर सकती थीं, इसने समानता पाने के उनके दावे को मजबूत किया। पर यह भी सत्य है कि यदि युद्ध न हुआ होता तो उन्हें और लंबे समय तक इसके लिए संघर्ष करना पड़ता। एक दूसरे प्रकार का उदाहरण, जहाँ महिलाएँ अपनी अस्मिता में परिवर्तन लाने में सफल हुई हैं, वह क्षेत्र है उपभोक्ता विज्ञापन। अधिकतर नगरीय समाजों में, महिलाएँ ही यह निर्णय लेती हैं कि घरेलू उपयोग के लिए कौन सी वस्तुएँ खरीदी जाएँ। इसने विज्ञापनों ने एक उपभोक्ता के रूप में महिलाओं की सोच को प्रति संवेदनशील बनाया है।

विज्ञापन के खर्चों का एक महत्वपूर्ण अंश अब महिलाओं को मिलता है और इसका प्रभाव मीडिया पर पड़ा है। संक्षेप में, महिलाएँ आर्थिक भूमिका परिवर्तन की शृंखला की शुरुआत करती हैं जिसके बड़े सामाजिक परिणाम निकल सकते हैं।

उदाहरण के तौर पर, विज्ञापन महिला को एक निर्णायक सदस्य के रूप में दिखा सकता है अथवा महत्वपूर्ण व्यक्ति के रूप में, जिसके बारे में न तो पहले सोचा जा सकता था और न ही जिसे बढ़ावा दिया जा सकता था। सामान्यतः पहले ज़्यादातर विज्ञापन पुरुषों को संबोधित किए जाते थे, अब उतना ही महिलाओं को भी संबोधित किया जाता है अथवा कुछ क्षेत्रों में जैसे घरेलू वस्तुएँ अथवा उपभोक्ता वस्तुओं में मुख्यतः महिलाओं को। अतः यह विज्ञापकों तथा निर्माताओं के लिए आवश्यक हो गया है कि महिलाएँ क्या सोचती तथा महसूस करती हैं, उस पर ध्यान दिया जाए। एक अन्य उदाहरण जहाँ सांस्कृतिक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन लाता है, खेलकूद के इतिहास में देखा जा सकता है। खेलकूद हमेशा से लोकप्रिय संस्कृति की अभिव्यक्ति रहे हैं, जो कभी-कभी अधिक महत्वपूर्ण हो जाते हैं। क्रिकेट का प्रारंभ ब्रिटिश राजशाही वर्ग के शौक के रूप में हुआ, ब्रिटेन के मध्यम तथा कामकाजी वर्गों में फैला और वहाँ से पूरी दुनिया के अंग्रेज़ी साम्राज्य में। जैसे ही इस खेल ने भारत से बाहर अपनी जड़ें जमाई, यह अधिकतर राष्ट्रीय अथवा प्रजातीय गर्व का प्रतीक बना।

क्रिकेट में तीव्र प्रतियोगिता का भिन्न इतिहास है, जो खेलकूद की सामाजिक महत्ता को कथात्मक रूप में



दिखाता है। इंग्लैंड तथा ऑस्ट्रेलिया की प्रतियोगिता सामाजिक अधीनस्थ उपनिवेश (ऑस्ट्रेलिया) का शासन के केंद्र में प्रभावशाली उच्च वर्ग (इंग्लैंड) के प्रति रोष दर्शाती है। इसी प्रकार 1970 तथा 80 में पूरी दुनिया पर वेस्ट इंडीज क्रिकेट टीम का वर्चस्व भी औपनिवेशिक व्यक्तियों के प्रजातीय गर्व को दिखाता है। भारत द्वारा, क्रिकेट में इंग्लैंड को हराना हमेशा से कुछ खास रहा है, विशेषकर स्वाधीनता से पूर्व। दूसरे स्तर पर, क्रिकेट की भारतीय उपमहाद्वीप में लोकप्रियता ने इस खेल के व्यावसायिक प्रारूप को बदल दिया है जो अब दक्षिणी एशियाई प्रशंसकों की रुचियों से प्रभावित होता है, विशेषकर भारतीय।

जैसा कि ऊपरी परिचर्चा से साफ होता है, कोई एक सिद्धांत अथवा कारक सामाजिक परिवर्तन के लिए जिम्मेवार नहीं होता है। सामाजिक परिवर्तन के कारक आंतरिक अथवा बाह्य हो सकते हैं, सोची-समझी क्रिया अथवा आकस्मिक कारकों के परिणाम हो सकते हैं। सामाजिक परिवर्तन के कारक अधिकांशतः परस्पर संबंधित होते हैं। आर्थिक तथा तकनीकी कारक के सांस्कृतिक संघटक भी हो सकते हैं, राजनीति पर्यावरण द्वारा हो सकती है अतः यह आवश्यक है कि सामाजिक परिवर्तन तथा उसके विभिन्न प्रकार की विधाओं से परिचित रहा जाए। परिवर्तन हमारे लिए एक मुख्य विषय है क्योंकि परिवर्तन की गति आधुनिक समय में मुख्यतः समकालीन समय में पहले की तुलना में काफी तेज़ हो गई है। यद्यपि सामाजिक परिवर्तन को विगत समय में अच्छी तरह से समझा जा सकता है—जब यह घटित हो चुका होता है—हमें इसके होने के समय से परिचित होना चाहिए तथा उसके लिए जो भी तैयारी हो सके करनी चाहिए।

## 2.6 सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत : उद्भव व विकास

सामाजिक परिवर्तन से तात्पर्य एक ऐसी प्रक्रिया से है जिसमें समाज की संरचना एवं कार्यप्रणाली का एक नया रूप सामने आता है। इसके अंतर्गत मूलतः प्रस्थिति, वर्ग स्तर तथा व्यवहार के अनेकानेक प्रतिमान बनते एवं बिगड़ते हैं। वर्तमान समय में पृथक् क्षेत्रों में विकास हुआ तथा विभिन्न समाजों ने अपने अनुसार इन सामाजिक परिवर्तनों को अनुकूलित किया। सामाजिक परिवर्तन के अंतर्गत हम मुख्य रूप से तीन तथ्यों का अध्ययन करते हैं— 1. सामाजिक संरचना में परिवर्तन 2. संस्कृति में परिवर्तन 3. परिवर्तन के कारक डेविस के अनुसार — “सामाजिक परिवर्तन का तात्पर्य सामाजिक संगठन अर्थात् समाज की संरचना एवं प्रकार्यों में परिवर्तन है।” एच. एम. जॉनसन ने सामाजिक परिवर्तन को बहुत ही संक्षिप्त एवं अर्थपूर्ण शब्दों में स्पष्ट करते हुए बताया है कि मूल अर्थों में सामाजिक परिवर्तन का अर्थ संरचनात्मक परिवर्तन है। जॉनसन की तरह गिडेन्स ने बताया कि सामाजिक परिवर्तन का अर्थ बुनियादी संरचना या बुनियादी संस्था में परिवर्तन से है। विल्डस ई. मून ने सामाजिक परिवर्तन की विशेषताओं को निम्नलिखित प्रकार से बताया है—

1. सामाजिक परिवर्तन निश्चित रूप से घटित होते रहते हैं। सामाजिक पुनरुत्थान के समय में परिवर्तन की गति बहुत तीव्र होती है।
2. बीते समय की अपेक्षा वर्तमान में परिवर्तन की प्रक्रिया बहुत तीव्र होती है।
3. परिवर्तन का विस्तार सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में देखा जा सकता है। भौतिक वस्तुओं के क्षेत्र में विचारों एवं संस्थाओं की तुलना में परिवर्तन अधिक तीव्र गति से होता है।

4. हमारे विचारों और सामाजिक संरचना पर स्वाभाविक ढंग और सामान्य गति के परिवर्तन का प्रभाव अधिक पड़ता है।

5. सामाजिक परिवर्तन का अनुमान तो लगा सकते हैं पर निश्चित रूप से इसकी भविष्यवाणी नहीं कर सकते हैं।

6. सामाजिक परिवर्तन गुणात्मक होता है। समाज की एक इकाई दूसरी इकाई को परिवर्तित करती है। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है, जब तक पूरा समाज उसके अच्छे या बुरे प्रभावों से परिचित नहीं हो जाता है।

7. आधुनिक समाज में सामाजिक परिवर्तन न तो मनचाहे ढंग से किया जा सकता है और न ही इसको पूर्णतः स्वतंत्र और असंगठित छोड़ दिया जा सकता है। आज हर समाज में नियोजन के द्वारा सामाजिक परिवर्तन को नियन्त्रित कर वांछित लक्ष्यों की दिशा में क्रियाशील किया जा सकता है। भारतीय समाज का अध्ययन करने वाले विद्वानों— श्रीनिवास, योगेन्द्र सिंह, लुई ड्यूमा आदि ने भारतीय समाज में हो रहे संरचनात्मक परिवर्तनों को स्पष्ट किया है। इन विद्वानों के अनुसार परंपरागत भारतीय समाज जो कि जाति पर आधारित सोपानिक समाज रहा है के विपरीत समकालीन भारतीय समाज में, जिसमें आर्थिक आधार पर निर्मित वर्ग जातीय श्रेणियों से अलग होते दिखाई देते हैं तथा जातीय निषेध जैसे—व्यवसाय, विवाह, खान-पान तथा सहवास संबंधी निषेध प्रायः समाप्त रहे हैं। ऐसे परिवर्तन के लिए भारतीय समाज को संस्कृतिकरण पश्चिमीकरण एवं आधुनिकीकरण से गुजरना पड़ा है। संस्कृतिकरण एक ऐसी प्रक्रिया का संकेतक है जिसमें व्यक्ति सांस्कृतिक दृष्टि से प्रतिष्ठित समूहों के रीति-रिवाज एवं नामों का अनुकरण कर अपनी प्रस्थिति को उच्च बनाते हैं। संदर्भ प्रारूप अधिकतर आर्थिक रूप से बेहतर होता है। दोनों ही स्थितियों में यह संकेत विद्यमान है कि जब व्यक्ति धनवान होने लगते हैं तो उनकी आकांक्षाओं और इच्छाओं को प्रतिष्ठित समूह भी स्वीकारने लगे हैं। एम. एन. श्रीनिवास का तर्क है कि किसी भी समूह का संस्कृतिकरण उसकी प्रस्थिति को स्थानीय जाति संस्तर में उच्चता की तरफ ले जाता है। सामान्यता यह माना जाता है संस्कृतिकरण संबंधित समूह की आर्थिक अथवा राजनीतिक स्थिति में सुधार है अथवा हिन्दुत्व की महान परंपराओं का किसी स्रोत के साथ संपर्क होता है परिणामस्वरूप उस समूह में उच्च चेतना का भाव उभरता है। महान परंपराओं का यह स्रोत कोई तीर्थस्थल हो सकता है अथवा कोई मतान्तर वाला संप्रदाय हो सकता है लेकिन तीव्र असमानता वाला समाज जैसे भारतीय समाज में उच्च जातियों की जीवन शैली अनुष्ठान, ज्ञान आदि को अपनाया निम्नलिखितों के द्वारा मुश्किल हो जाता है। पश्चिमीकरण में किसी संस्कृति विशेष के बाह्य तत्वों के अनुकरण की प्रवृत्ति होती है परन्तु आवश्यक नहीं कि वे प्रजातन्त्र और सामाजिक समानता जैसे आधुनिक मूल्यों में भी विश्वास रखते हों। पश्चिम जीवन शैली का अनुकरण तथा पश्चिमी सांस्कृतिक तत्वों जैसे नये उपकरणों का प्रयोग, पोशाक, खाद्य पदार्थ तथा आम लोगों की आदतों और तौर तरीकों में परिवर्तन आदि के द्वारा सामाजिक संरचना में परिवर्तन दिखाई देता है। जैसे पूरे देश में मध्यवर्ग के बड़े हिस्से के परिवारों में टेलीविजन, फ्रिज, सोफा सेट, खाने की मेज उठाने बैठने के कमरे में कुर्सी आदि आम बात है। आधुनिकता से तात्पर्य है कि इसके समक्ष सीमित संकीर्ण स्थानीय दृष्टिकोण कमजोर पड़ जाते हैं और सार्वभौमिक प्रतिबद्धता और वैश्विक दृष्टिकोण ज्यादा प्रभावशाली होता है। इसमें उपयोगिता, गणना और विज्ञान की सत्यता को भावुकता, धार्मिक पवित्रता और अवैज्ञानिक तत्वों के स्थान पर महत्व दिया जाता है। इसके प्रभाव में सामाजिक तथा राजनीतिक स्तर पर व्यक्ति को प्राथमिकता दी जाती है न कि समूह को इसके मूल्यों के अनुसार मनुष्य ऐसे समूह/संगठन में रहते और काम करते हैं जिसका चयन जन्म के आधार पर नहीं बल्कि इच्छा के आधार पर होता है। इसमें भाग्यविद् प्रवृत्ति के

ऊपर ज्ञान तथा नियंत्रण क्षमता का प्राथमिकता होती है और यही मनुष्य को उसके भौतिक तथा मानवीय पर्यावरण से जोड़ता है। अपनी पहचान को चुनकर अर्जित किया जाता है न कि जन्म के आधार पर इसका मतलब यह भी है कि कार्य को परिवार, गृह और समुदाय से अलग कर नौकरशाही संगठन में शामिल किया जाता है। जैसे-जैसे आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में तेजी आयी और विकास की गति बढ़ी, धर्म तथा विभिन्न प्रकार के उत्सवों, त्योहारों को मनाना, विभिन्न धार्मिक कृत्यों विभिन्न समारोहों के आयोजनों, इन समारोहों से जुड़े निषेध विभिन्न प्रकार के दान एवं उनके मूल्य इत्यादि में निरंतर परिवर्तन आया। विशेष रूप से यह परिवर्तन निरंतर बढ़ते और परिवर्तित होते गये। उपर्युक्त प्रक्रियाएँ सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ हैं जो प्रायः निरंतर भारतीय समाज में परिलक्षित होती हैं। भारत में सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में योगेन्द्र सिंह कहते हैं, हमने प्रायः सामाजिक संरचना में होने वाले परिवर्तन का विश्लेषण किया परन्तु परंपरा को छोड़ दिया। भारतीय परंपरा के अंदर ही ऐसे तत्व विद्यमान हैं जो परंपरा को बढ़ाते रहते हैं। संस्कृतिकरण भारतीय समाज में आन्तरिक स्रोतों के आधार पर होने वाले सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया का प्रमुख उदाहरण है।

भारत में सामाजिक परिवर्तन की दृष्टियाँ विकास आयोजना एवं मिश्रित अर्थव्यवस्था का विचार यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि विकासोन्मुख देश के लिए योजना बनाना अनिवार्य है। योजना का उद्देश्य आर्थिक विकास की गति को बढ़ाना होता है ताकि जो प्रगति अनियोजित समाज द्वारा दीर्घकाल में प्राप्त की जाती है वह आयोजना द्वारा शीघ्र प्राप्त किया जा सके।

अतः इस प्रकार कहा जा सकता है कि योजना सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन का उपकरण बन सकती है। अल्पविकसित अर्थव्यवस्था को स्वयं स्फूर्त अर्थव्यवस्था में परिवर्तित करने के लिए आर्थिक विकास की उचित विकास रणनीति बनानी आवश्यक होती है। विकास के मॉडल निम्नलिखित हैं—

**1. पूंजीवादी मॉडल**—इस मॉडल व्यवस्था में संपत्ति और उत्पादन के साधनों का स्वामित्व निजी हाथों में होता है। देश के आर्थिक उद्यमों पर राज्य का नियंत्रण कम एवं मुक्त अर्थव्यवस्था तथा प्रतिस्पर्धी होती है। विकास का यह मॉडल सतत् वृद्धि तथा आधुनिकीकरण पर विशेष जोर देता है। जिसके प्रारंभिक चरण में राज्य को भारी निवेश करना होता है। इस परिपेक्ष्य में आर्थिक विकास औद्योगीकरण और अपूर्ण राजे गारी, ग्रामीण श्रम का शहरी औद्योगिक क्षेत्र में ज्यादा उत्पादन, कामधंधों में स्थानान्तरण के इर्द-गिर्द घूमता है। राज्य को घरेलू और विदेशी बचत से निवेश पूल बनाना पड़ता है।

**2. समाजवादी मॉडल**—यह संपत्ति और उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व को खत्म करता था। यह उत्पादन के राज्य स्वामित्व, राज्य के स्वामित्व में सार्वजनिक उपक्रमों राज्य द्वारा नियमित अर्थव्यवस्था और आर्थिक विकास के लिए राज्य द्वारा केंद्रीयकृत नियोजन की बात करता है।

**3. विकास का नेहरूवादी मॉडल**—नेहरू के अनुसार भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था के विकास के लिए भारी उद्योगों का विकास अहम है। भारत में आयोजन को प्रशस्त करने वाली रणनीति में औद्योगीकरण को बढ़ावा देना होगा और मूल उद्योगों को प्रथम स्थान दिया जाए।

**4. विकास का गांधीवादी मॉडल**—गांधीवादी योजना का मूल उद्देश्य है भारतीय जनता के भौतिक एवं सांस्कृतिक स्तर को उन्नत किया जाए। (i) इस योजना का सबसे महत्वपूर्ण लक्ष्य भारतीय आर्थिक आयोजन में

कृषि-सुधार को बढ़ावा देना है ताकि खाद्यान्न निर्भरता प्राप्त की जा सके। जिसके लिए भू-सुधार, काश्तकारी प्रणाली में परिवर्तन जोतों की चकबंदी, सहकारी समितियों का गठन आदि उपाय इस्तेमाल करने होंगे। इस योजना में डेरी उद्योग को एक महत्वपूर्ण कृषि सहायक व्यवसाय के रूप में देखा गया। (ii) गांधीवादी योजना का मुख्य उद्देश्य ग्राम-समाज में अधिकतम आत्मनिर्भरता प्राप्त करना है इसलिए इस योजना में कुटीर उद्योगों के पुनः स्थापना विकास एवं विस्तार की समस्याओं का कृषि के साथ-साथ सविस्तार वर्णन किया गया। (iii) गांधीजी के विकास मॉडल में कुछ चुने हुए उद्योगों जैसे प्रतिरक्षा उद्योग, जल विद्युत एवं तापीय संचलान शक्ति, प्रजनन खाने तथा धातुकर्म मशीनरी एवं मशीनी औजार भारी इंजीनियरिंग तथा भारी रसायन प्रमुख थे।

**5. विकास के भारतीय मॉडल में चार मौलिक उद्देश्यों को रखा गया—**(i) बेहद जटिल और विविधतापूर्ण सामाजिक ढांचे का राष्ट्रीय संघटन करना। (ii) उस आबादी का जीवन स्तर बढ़ाने के लिए आर्थिक विकास करना जिसकी आय का स्तर एक सदी से गिरता जा रहा था अथवा स्थिर था। (iii) समाज में सामाजिक समानता कायम करना जो सदियों से असमानता के सिद्धांत पर आधारित था। (iv) ऐसी संस्कृति में लोकतंत्र कायम करना जो सामाजिक सोपानक्रम पर आधारित थी और जहाँ सत्ता एक छोटे से प्रभुत्वशाली वर्ग में सम्मिलित थी। मिश्रित अर्थव्यवस्था एवं विकास आयोजना मिश्रित अर्थव्यवस्था की अवधारणा में निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्र के सहअस्तित्व को स्वीकार किया जाता है। सरकार को आर्थिक क्रिया के क्षेत्र में सकारात्मक भूमिका अदा करनी पड़ती है। इस प्रकार की अर्थव्यवस्था में देश की समग्र आर्थिक प्रणाली को 3 भागों में बांटा जाता है—(i) ऐसे क्षेत्र जिनमें उत्पादन एवं वितरण का पूर्ण स्वामित्व एवं नियंत्रण राज्य के हाथ में होता है और निजी क्षेत्र को पूर्णतया निःसारित कर दिया जाता है। (ii) ऐसे क्षेत्र जिनमें निजी उद्यम उत्पादन एवं वितरण में साझे रूप में सहयोग करते हैं। (iii) ऐसे क्षेत्र जिनमें निजी उद्यम पूर्णतया क्रियाशील होता है और इस पर राज्य का सामान्य नियंत्रण एवं विनियमन होता है। गुन्नार मिर्डल के अनुसार—नियोजन किसी देश की सरकार द्वारा किये गये वे जागरुक प्रयास हैं, जिनके द्वारा लोक नीतियों को अधिक तार्किक ढंग से समन्वित किया जाता है ताकि अधिक तेजी से विकास के लक्ष्यों को पूरा किया जाए। नियोजन चेतन रूप से लिया गया निर्णय है जिनमें कोई भी समाज पहले अपनी समस्याओं को पहचानकर उसे अपनी प्राथमिकताओं के आधार पर सूचीबद्ध करता है। फिर उन समस्याओं को दूर करने के लिए अपने सांस्कृतिक मूल्यों के अनुरूप लक्ष्यों का निर्धारण करता है और अपने संसाधनों को देखते हुए उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कार्यक्रम बनाता है। समस्याओं की पहचान से लेकर लक्ष्य प्राप्ति तक सभी स्तर पर सोच विचारकर कदम उठाने की प्रक्रिया ही नियोजन कहलाती है। 1950 के दशक में भारत में योजना आयोग की स्थापना की गयी। भारत में योजना के चार प्रमुख सामाजिक-आर्थिक उद्देश्य बताए गये।

1. उत्पादन को अधिकतम संभव सीमा तक बढ़ाना ताकि राष्ट्रीय एवं प्रति व्यक्ति आय के उच्च स्तर की प्राप्ति की जा सके।

2. पूर्ण रोजगार उपलब्ध कराना।

3. आय तथा संपत्ति की असमानताओं को कम करना।

4. सामाजिक न्याय उपलब्ध कराना। संविधान, विधि एवं सामाजिक परिवर्तन संविधान के उद्देशिका में विधि तथा सामाजिक परिवर्तन से संबंधित मार्गदर्शन निहित हैं जिसके अनुसार भारत को एक संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न,

समाजवादी, पंथनिरपेक्ष लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए समस्त नागरिकों में व्यक्ति की गरिमा तथा राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता सुनिश्चित करने वाली बंधुता बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्प है।

1. संविधान में समाज में व्यक्तियों के लिए जहाँ मौलिक अधिकार (12 से 35) का प्रावधान किया गया है वहीं राज्य के नीति-निदेशक सिद्धांत स्थापित कर समाज में अधिकार एवं कर्तव्यों के मध्य समानता एवं संतुलित सामन्जस्यता स्थापित करने का प्रयास किया गया ताकि देश के सभी व्यक्तियों के बीच भेदभाव स्थापित करने वाली संरचना को समाप्त किया जा सके।

2. पंथनिरपेक्ष लोकतंत्र को समाज की विशेषता के रूप में स्थापित किया गया है जिसका आशय सभी धर्मों को मानने वाले लोगों को सम्मानपूर्वक जीने का अधिकार प्रदान किया गया है। उन्हें समाज में अपने सांस्कृतिक मूल्यों को स्वीकार करने का अधिकार होगा।

3. संविधान समाज में वांछित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु विधि का निर्माण करता है और इसके माध्यम से समाज में परिवर्तन लाता है। सामाजिक संरचना में विभिन्न लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए संविधान में जहां एक ओर वैधानिक अधिकारों, मताधिकारों, राज्य प्रशासन आदि के परिप्रेक्ष्य में अन्तःक्रिया की एक इकाई के रूप में व्यक्ति को मान्यता दी। इसने कुछ खास संदर्भों में विशिष्ट जातियों तथा समुदायों के विधि सम्मत अधिकारों को भी स्वीकार किया। अनुसूचित जातियाँ, जनजातियाँ, धार्मिक अल्पसंख्यक और पिछड़ी जातियाँ इसी तरह के समूहों के उदाहरण हैं। इस मॉडल में सामाजिक विधायीकरण सामाजिक परिवर्तन का एक उपकरण है जबकि सामाजिक, न्याय, समानता प्रजातन्त्र इसके मौलिक प्रतिमानात्मक लक्ष्य हैं।

4. संविधान सामाजिक परिवर्तन के एक ही विचाराधारात्मक संवेष्टन में सर्वमुक्तिवाद और विशेषाधिकारवाद दोनों को प्रस्तुत करता है। यह परिवर्तन की विचारधारा में पारंपरिक मूल्यों के साथ आधुनिकता के समावेश का एक ग्रहणशील प्रयत्न है। प्रायः समाज में ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिन्हें ध्यान में रखते हुए संविधान में उल्लेखित उद्देश्यों के अनुरूप सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए विधानों न्यायिक एवं चयनात्मक प्रयोग करता है।

5. संविधान से उद्भव हुए परिवर्तन को नगरीय मॉडल परंपरा, जाति, धर्म और प्रजातीयता को तार्किक ढंग से मान्यता नहीं दे सकता था। यह समाज के सबसे शोषित तथा कमजोर और पीड़ित होते रहने के लिए अभिजन समूहों को बाजार केन्द्रित शक्तियों की दया पर नहीं छोड़ सकता था। परिणामस्वरूप आरक्षणों, संरक्षणात्मक भेदभाव और धार्मिक अल्पसंख्यकों तथा अपेक्षाकृत कमजोर समूहों का विशेष तौर पर पक्ष लेने की प्रवृत्ति अस्तित्व में आयी। वैज्ञानिक सुधारों की सहायता से इस मॉडल में अंतर्भूत परिवर्तन की रणनीति सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक प्रणालियों के जरिए सामाजिक परिवर्तन के दबाव के अनुप्रयोग पर निर्भर होती है। शिक्षा एवं सामाजिक परिवर्तन समाज में शिक्षा के माध्यम से परिवर्तन का विश्लेषण करते हुए एम. एस. गोरे ने कहा—

1. शिक्षा व्यक्ति के अंदर वैज्ञानिक वस्तुपरक दृष्टिकोण उत्पन्न करती है। कारण परिणाम विश्लेषण की क्षमता प्रदान करती है जिससे अंधविश्वास तथा अंधानुकरण से मुक्ति मिलती है।

2. शिक्षा व्यक्ति को उदार बनाती है। भूत, वर्तमान तथा भविष्य की तुलनात्मक अध्ययन की क्षमता उत्पन्न करती है। यह विभिन्न विविधताओं यथा धर्म, भाषा, जाति, वर्ग, क्षेत्रीयता आदि के मध्य समायोजन तथा सन्तुलन को बढ़ावा देती है।

3. शिक्षा विकासोन्मुख चेतना उत्पन्न करती है। शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन का घटक बताने के पीछे तीन कारण महत्वपूर्ण हैं— (i) परिवर्तन का घटक (ii) परिवर्तन की विषयवस्तु (iii) उन लोगों की सामाजिक पृष्ठभूमि जिनका परिवर्तन किया जाना है, अर्थात् छात्र। शिक्षा के द्वारा सामाजिक परिवर्तन की प्राप्ति के लिए औपचारिक शिक्षा के पाठ्यक्रमों में परिवर्तन कर दिया जाता है। हम जिस प्रकार के मूल्य को समाज में स्थापित करना चाहते हैं, उसी प्रकार का पाठ्यक्रम निर्मित किया जाता है। जैसे सामाजिक भौतिक परिवेश का वैज्ञानिक ज्ञान, भौतिक तथा जैविकीय विज्ञान के महत्व में वृद्धि, पश्चिमी जीवन दर्शन तथा विचारकों को अधिक महत्व, आधुनिक मूल्यों को पाठ्यक्रम में स्थापित किया जिसके परिणामस्वरूप भारत में सामाजिक परिवर्तन हुआ जैसे जातिवादी व्यवस्था के स्थान पर समतावादी मूल्य, जन्मगत परिस्थिति के स्थान पर उपलब्धिपूरक परिस्थिति पारलौकिक के स्थान पर लौकिकता आदि को महत्व प्रदान किया जा रहा है।

ए. आर. देसाई, एस.सी. दूबे, के. अहमद, एम. एस. गोरे आदि समाजशास्त्रियों द्वारा सामाजिक परिवर्तन एवं पुनर्गठन हेतु आधुनिकीकरण के लिए शिक्षा को एक साधन के रूप में स्वीकृत किया है। एम. एस. गोरे ने शिक्षा की विधियों और विषयवस्तु में, उस वातावरण और प्रसंग में जिनमें इसका संचालन हो रहा है और शिक्षकों तथा प्रशासकों की उन आस्थाओं तथा प्रतिबद्धताओं में, जो वांछित विकास को प्राप्त करने में, शिक्षा की प्रभाविता के लिए तथा शिक्षा के प्रबंधन के लिए उत्तरदायी है परिवर्तन लाने की आवश्यकताओं की ओर संकेत किया।

---

## 2.7 सामाजिक विकास : संकल्पना

---

समाज एक से अधिक लोगों का समूह ही। जिसमें सभी मानवीय क्रियाकलाप संपन्न होते हैं। मानवीय क्रियाकलापों से आशय आचरण, सामाजिक सुरक्षा, निर्वाह आदि क्रियाओं से है। दूसरे शब्दों में, समाज मानवीय अंतःक्रियाओं के प्रक्रम की एक प्रणाली है।

मानव की कुछ नैसर्गिक तथा अर्जित आवश्यकताएं, जैसे—काम, सुरक्षा आदि होती हैं पर वह इनकी पूर्ति स्वयं करने में सक्षम नहीं होता। इन आवश्यकताओं की सम्यक संतुष्टि के लिए लंबे समय में मनुष्य ने एक समष्टिगत व्यवस्था को विकसित किया है जिसे समाज कहा गया है। यह व्यक्तियों का ऐसा संकलन है जिसमें वे निश्चित संबंध और विशिष्ट व्यवहार द्वारा एक-दूसरे से बंधे होते हैं। समाज, व्यक्तियों की वह संगठित व्यवस्था भी है जहां विभिन्न कार्यों के लिए विभिन्न मानदंडों की विकसित किए जाते हैं और कुछ व्यवहारों को स्वीकार्य और कुछ को निषिद्ध किया जाता है। समाज में विभिन्न कर्ताओं का समावेश होता है जिनमें परस्पर अंतःक्रिया होती है। प्रत्येक कर्ता अधिकतम संतुष्टि की ओर उन्मुख होता है। इसी अंतःक्रिया की मदद से समाज के अस्तित्व को अक्षुण्य बनाया जाता है। अंतःक्रिया की प्रक्रिया को संयोजक तत्व संतुलित करते हैं तथा वियोजक तत्व सामाजिक संतुलन में व्यवधान उत्पन्न करते हैं। वियोजक तत्वों के नियंत्रण हेतु संस्थाकरण द्वारा कर्ताओं के संबंधों तथा क्रियाओं का समायोजन होता है जिससे पारस्परिक सहयोग में वृद्धि होती है और अंतर्विरोधी का शमन होता है। सामाजिक प्रणाली में व्यक्ति को कार्य और पद तथा दंड और पुरस्कार, सामान्य नियमों और स्वीकृत मानदंडों के आधार पर प्रदान किए जाते हैं सामाजिक दंड के इसी भय से सामान्यतः व्यक्ति समाज में प्रचलित मान्य परंपराओं की उपेक्षा नहीं कर पाता और वह उनसे समायोजन का हर संभव प्रयास करता है।

चूँकि समाज व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों की एक व्यवस्था है इसलिए इसका कोई मूर्त स्वरूप नहीं होता। इसकी अवधारणा अनुभूतिमूलक है। समाज में पारस्परिक सहयोग एवं संबंधों का आधार सामूहिक आचरण है जो समाज द्वारा निर्धारित और निर्देशित होता है। समाज में सामाजिक मान्यताओं के संबंध में सहमति अनिवार्य होती है। यह सहमति पारस्परिक विमर्श तथा सामाजिक प्रतीकों को स्वीकारने पर आधारित होती है। असहमति की स्थिति संघर्षों को जन्म देती है जो समाज के विघटन का कारण बनती है। यह असहमति उस स्थिति में पैदा होती है। असहमति की स्थिति संघर्षों को जन्म देती है जो समाज के विघटन का कारण बनती है। यह असहमति उस स्थिति में पैदा होती है जब व्यक्ति सामूहिकता के साथ पहचान बनाने में असफल रहता है। समाज और उसके सामाजिक संगठन का स्वरूप कभी शश्वत नहीं बना रहता। मानव मन और समूह मन की गतिशीलता उसे निरंतर प्रभावित करती रहती है जिसके परिणामस्वरूप समाज परिवर्तनशील होता है। उसकी यह गतिशीलता भी उसके विकास का मूल है। सामाजिक विकास परिवर्तन की एक चिरंतन प्रक्रिया है जो सदस्यों की आकांक्षाओं और पुनर्निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति की दिशा में उन्मुख रहती है।

सामाजिक विकास एक स्थायी का प्रचार है। वह समाज जो सशक्त होकर मानवीय गरिमा के योग्य होना चाहिए पर रहने वाले समूहों, महिलाओं और पुरुषों को अपना का खुद का विकास, उनके सामाजिक और आर्थिक सुधार के लिए स्थिति और समाज में उनकी सही जगह हासिल करने के लिए सामाजिक विकास सामाजिक अवसरों की समानता है।

मानव विकास लोगों को बढ़ाने की एक प्रक्रिया है। सबसे महत्वपूर्ण विकल्प जो लोगों के पास होना चाहिए। वह एक लंबा और स्वस्थ जीवन, ज्ञान तक पहुंच और के एक सभ्य मानक के लिए आय, संपत्ति और रोजगार की चिंताओं से अधिक है। बेहतर स्वास्थ्य जैसी मानवीय क्षमताओं का निर्माण या ज्ञान यह इन क्षमताओं के उपयोग की भी चिंता करता है।

### सामाजिक विकास: अवधारणा—ककोपेनहेगन सामाजिक शिखर सम्मेलन 1995

तीन बुनियादी मानदंडों के संदर्भ में परिभाषित सामाजिक विकास

- गरीब उन्मूलन
- रोजगार सृजन
- सामाजिक सद्भाव

मानव विकास रिपोर्ट—संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (यूएनडीपी)

- मानव विकास सूचकांक (एचडीआई) जैसे सूचकांक विकसित किए हैं।
- मानव गरीबी सूचकांक (एचपीआई) और लिंग संबंधी विकास सूचकांक

1. मानव पिकास सूचकांक (एचडीआई)—मानव विकास के तीन मूल आयुओं की क्षमताओं के संदर्भ में है।

- जीवन की लंबी उम्र
- ज्ञान (वयस्क साक्षरता और संयुक्त प्राथमिक, माध्यमिक और तृतीयक नामांकन)
- जीवन सार (वास्तविक प्रति व्यक्ति आय)

**2. मानव गरीबी सूचकांक ( एचपीआई )**—समुदाय के अधिकांश वंचित वर्गों के लिए, वंचितों पर आधारित है।

सभ्य मानव जीवन के आवश्यक तत्वों में—

- मूल जीवन रक्षा (40 वर्ष की आयु से पहले मृत्यु, बच्चे और मृत मृत्यु दर)
- शैक्षिक स्तर (निरक्षर वयस्कों का प्रतिशत)
- कुल मिलाकार आर्थिक प्रावधान (बिना पहुंच वाले लोगों का प्रतिशत) स्वास्थ्य सेवाएं और सुरक्षित पानी
- स्थिरता (5 वर्ष से कम आयु के बच्चों का प्रतिशत)

### **3. लिंग संबंधी विकास सूचकांक ( जीडीआई )**

उपरोक्त चर को मापना है। महिलाओं और पुरुषों के बीच असमानता के संदर्भ में सोशल वॉच, उरुग्वे—दुनिया भरा में बड़े पैमाने पर आंदोलन और विकास नेटवर्क से इनपुट का उपयोग करके पूर्ति प्रतिबद्धताओं का एक सूचकांक विकसित किया है। (1995 ग्लोबल समिट में सरकारों द्वारा किए गए)।

यह निम्नलिखित 2000 के लक्ष्यों के तहत देशों पर नजर रखता है।

- सभी के लिए बुनियादी शिक्षा
- 80 प्रतिशत बच्चे प्राथमिक स्कूल खत्म करते हैं।
- एक तिहाई 1990 शिशु मृत्यु दर में कमी
- केवल टीकाकरण
- 1990 के कुपोषण के स्तर में आधी कमी आई।
- गर्भावस्था के दौरान चिकित्सा ध्यान और सभी महिलाओं के लिए जन्म
- सभी के लिए स्वास्थ्य सेवाएं
- 60 वर्षों में जीवन प्रत्याशा
- सभी के लिए पेयजल और स्वच्छता
- सैन्य खर्च में कमी
- सहायता के लिए जीएलपी (अमीर देशों के) का 0.7 प्रतिशत
- साक्षरता में लिंग अंतर को खत्म करना
- प्राथमिक विद्यालय में लड़कियों और लड़कों के लिए समान पहुंच

**बिलेंस, हॉलैंड**—विकास एजेंसी की बात करती है।

### **सामाजिक विकास के तीन घटक**

1. गरीबी के खिलाफ लड़ाई



2. लोगों द्वारा स्वयं विकास
3. समाज में एक उचित स्थान

### ऑपरेशन के तीन क्षेत्र ( सामाजिक विकास के भीतर )

1. मूल संवाएं
2. अस्तित्व के साधन
3. मानवाधिकार और लोकतांत्रिक डोमेन

### सामाजिक विकास के लिए तीन निश्चित मापन बिंदु

1. लिंग
2. सतत विकास
3. सामाजिक एकता

विकास ऐसे परिवर्तनों को लक्षित करता है जो प्रगति की ओर उन्मुख रहते हैं। विकास एक सामाजिक प्रक्रिया है। इसका सम्बन्ध आर्थिक पहलू से अधिक है। लेकिन सामाजिक विकास केवल आर्थिक पहलू से ही सम्बन्धित नहीं है। अपितु सांस्कृतिक तत्वों तथा सामाजिक संस्थाओं से भी सम्बन्धित है।

सामाजिक विकास विकास के समाजशास्त्र का केन्द्र बिंदु हैं अतः सामाजिक विकास की विवेचना करना आवश्यक है। जे.ए. पान्सीओ ने सामाजिक विकास को परिभाषित करते हुए कहा है कि विकास एक आंशिक अथवा शुद्ध प्रक्रिया है जो आर्थिक पहलू में परिवर्तन के कारण उत्पन्न होता है आर्थिक जगत में विकास से तात्पर्य प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि से लगाया जाता है। सामाजिक विकास से तात्पर्य जन सम्बन्धों तथा ढांचे से है जो किसी समाज को इस योग्य बनाती है कि उसके सदस्यों की आवश्यकताओं को पूरा किया जा सके। बी.एस. डीसूजा के अनुसार-सामाजिक विकास वह प्रक्रिया है जिसके कारण अपेक्षाकृत सरल समाज एक विकसित समाज के रूप में परिवर्तित होता है। सामाजिक विकास का विशेष रूप से कुछ अवधारणाओं से सम्बन्धित है, ये अवधारणाएं हैं-

1. ऐसे साधन जो एक सरल समाज को जटिल समाज में परिवर्तित कर देते हैं।
2. ऐसे साधन जो सांस्कृतिक आवश्यकताओं को पूरा करते हैं।
3. ऐसे संबंध व ढांचे जो किसी समाज को अधिकतम आवश्यकता पूर्ति के योग्य।

---

## 2.8 सामाजिक विकास में बाधा

---

विकास का संकट-विस्थापन एवं पर्यावरणीय समस्याएँ विकास के लिए बांधों एवं बड़े-बड़े उद्योगों को स्थापित करने हेतु भूमि की आवश्यकता होती है। जिसके संदर्भ में संबंधित क्षेत्र के लोगों को अपनी भूमि-खाली कर जाना पड़ता है अथवा सरकारी फर्मों या उपक्रमों तथा बांधों के निर्माण के लिए लोगों को उनके स्थानीय आवासीय क्षेत्रों से विस्थापित किया जाता है। भारत सरकार ने अपने पुनर्वास पैकेज द्वारा उक्त स्थिति से उभरने का प्रयास किया। विस्थापन तथा उसके परिस्थितिकी एवं मानव जाति पर बहुत ही घनिष्ठ संबंध पाया जाता है। बांधों का विकास

यद्यपि समाज का एक वृहत्तर उद्देश्य अथवा अवलोकन प्रस्तुत करते हैं। उन्हें एक आधुनिक प्रगतिशील संसार के प्रतीक रूपों में देखा जाता है।

वे मानव की बौद्धिक क्षमता और युक्ति पटुता को दर्शाते हैं और मानवोन्नति के लिए प्राकृतिक संसाधनों का प्रयोग करते हैं। यह मुद्दा जो समान रूप से महत्वपूर्ण है और प्रायः अनदेखा किया जाता है वह है कि समाज का वह कौन सा रूप था और है जिसे प्रगति एवं विकास के इस आधुनिक दृष्टिकोण द्वारा विस्थापित करने का प्रयास किया जाता है। साथ ही इस विस्थापन द्वारा सर्वाधिक प्रतिकूल रूप से प्रभावित कौन लोग हैं? वे लोग एवं समुदाय जिन्हें विकास योजनाओं द्वारा विस्थापित किया जाता है, समाज के हाशिये पर रहने वाले होते हैं। जैसे जनजातियाँ, पशुपालक एवं निवार्ह कृषक। ये समूह सदियों से स्थायी वनों में स्थायी रूप से रहते और मुख्यधारा सभ्यता के हाशियों में रहकर गुजर बसर करते आये हैं। विकास योजनाओं से उन्हें बिरले ही कोई लाभ मिलता है हालांकि उन्हें मौद्रिक हर्जाना दिया जाता है।

उन्हें पुनर्वासित करते समय उनके रीति-रिवाजों एवं परम्पराओं पर मुश्किल से ही पर्याप्त ध्यान दिया जाता है। पुनर्वास नीतियाँ सांस्कृतिक एवं सामाजिक मुद्दों के प्रति अनुदारता को दर्शाती हैं। पुनर्वासित किये जाने वाले वृहद् जनसमूह में ये विस्थापित बहुत से होते हैं। विस्थापित होने वाले लोगों के पुनर्वास के मुद्दे पर हावी रहने वाला कारण काफी हद तक आर्थिक है। आर्थिक मुद्दे को जीवन रक्षा का विषय माना जाता है जबकि संस्कृति विध्वंस को गौण समझा जाता है। आर्थिक एवं सांस्कृतिक पुनर्वास को एक दूसरे से भिन्न के रूप में देखा जाता है। अधिकांश परम्परागत कृषि समाजों में इन दोनों को अलग करना मुश्किल होता है। आर्थिक कौशलों का प्रसार सांस्कृतिक-प्रथाओं एवं सामाजिकरण की प्रक्रिया के माध्यम से किया जाता है जबकि समाज में संस्कृति का पुनर्नवीकरण और पुनः स्थापन आर्थिक उत्पादन की प्रक्रिया के दौरान किया जाता है। परम्परागत समाजों में लगभग सभी पर्व एवं आनुष्ठानिक कार्य वर्ष में विभिन्न मौसमों में विभिन्न कार्य अवस्थाओं को प्रकट करते हैं। इस प्रकार के परिदृश्य में जीवन के सांस्कृतिक पहलू के मुकाबले आर्थिक पहलू को प्राथमिकता दिया जाना आधुनिक औद्योगिक समाज में प्रत्यक्ष जीवन के लौकिकीकरण एवं आधुनिकीकरण को ही दर्शाता है। वृहद् बांधों के माध्यम से विस्थापन का तब मतलब लोगों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेज देना मात्र ही नहीं हुआ अपितु इसने पीढ़ियों में तैयार समस्त जीवनशैली और प्रायः कठोरतम पर्यावरणीय दशाओं में जीवनरक्षा हेतु युगों से संचित आर्थिक और सांस्कृतिक कौशलों के विध्वंस को भी थोप दिया है। गरीबी की समस्या हेतु हल तलाशने के अथक प्रयास में विकास योजनाकारों ने अकल्पनीय व्यय वाली परियोजनाएँ प्रस्तुत की हैं और कृषिक एवं औद्योगिक उत्पादन में निवेशों को बढ़ावा दिया है जिसने देश के अनेक भागों में सूखा सदृश परिस्थितियों को जन्म दिया है, साथ ही आर्थिक असमानता को भी बढ़ाया है। इस प्रकार गरीबी दूर करने के प्रयास में विस्थापित कर दिये जाते हैं और बेघर छोड़ दिये जाते हैं।

सूखा सदृश दशाओं तथा पेयजल एवं सिंचाई के संकट से निपटने के प्रयास में उन्होंने नये संसाधन तैयार करने के एवज में विद्यमान प्राकृतिक संसाधनों को ध्वस्त किया जाना चुपचाप स्वीकार कर लिया है। विकास अथवा आधुनिक विकास के अनुपालन पर इस चक्करदार प्रयास ने जोकि विद्यमान संसाधनों के और अधिक दोहन द्वारा इस समस्या को उठाने के साथ ही संसाधन संकट को अधिक गंभीर बना देता है। लाभ के बजाए हानि ही अधिक पहुँचाई है यह अमान्य साबित हुयी है। पर्यावरणीय परिणामों के लिहाज से भी और गरीबी कम करने के एक

आदर्श रूप में भी। बल्कि, यह एक विकास की राजनीति का प्रतीक बन गया है, जो कि उच्च रूप से भौतिकवादी और आक्रामक है और चुनिन्दा लोगों की आवश्यकताओं को ही पूरा करता है। निर्धनता एक सामाजिक समस्या सभी समाजों में पिछले कुछ समय से गरीबी विद्यमान रही है तथापि कुछ देशों में गरीबी की 'सीमा' कम है तो कुछ में अधिक है। भारत में गरीबी एक मुख्य समस्या है।

इस प्रकार निर्धनता एक सापेक्ष अवधारणा है। निर्धनता को किसी समाज का सामान्य पक्ष माना जाता था। वर्तमान समय में गरीबी को एक सामाजिक समस्या के रूप में स्वीकार किया जाता है। स्वतंत्रता के पश्चात् भारत में गरीबी के शिकार लोगों की आमदनी बढ़ाने की दिशा में प्रमुख प्रयास किये गये।

धन सम्पत्ति के दोषपूर्ण बँटवारे के फलस्वरूप एक तिहाई जनसंख्या के पास इतने साधन भी नहीं हैं कि वे अपनी बुनियादी जरूरतें पूरी कर पाये। इसका सीधा परिणाम निकलता है बड़ी संख्या में लोग या तो गरीबी की रेखा से नीचे अथवा इस रेखा के करीब जीवन-बिताने को विवश हैं और दूसरी ओर थोड़े से लोग धन-सम्पत्ति जमा कर रहे हैं।

उत्पादन के साधनों-सम्पत्तियों, भूमि स्वामित्व तथा अतिरिक्त साधनों के असमान वितरण से गरीबी पैदा होती है तथा आर्थिक राजनीतिक और नौकरशाही ताकतों एवं निहित स्वार्थों से बने सत्ता ढांचे के द्वारा इसे बराबर पुष्ट किया जाता है। महिलाओं के प्रति हिंसा आजकल शायद ही कोई विषय सामाजिक विज्ञानों में शोधकर्ताओं, केन्द्रीय और राज्य सरकारों, योजना दलों और सुधारकों का ध्यान इतना आकृष्ट करता हो जितना कि महिलाओं की समस्याएँ। महिलाओं की समस्याओं के अध्ययन के उपागम जरा-विज्ञान के अध्ययन से लेकर मनोरोग विज्ञान और अपराध विज्ञान तक होते हैं परन्तु महिलाओं से संबंधित एक महत्वपूर्ण समस्या जिस पर ध्यान नहीं दिया गया है और जिससे बचा गया है, वह है महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की समस्या। महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की समस्या कोई नई नहीं है।

भारतीय समाज में महिलाएँ एक लम्बे काल से अवमानना यातना और शोषण का शिकार रही हैं, जितने काल के हमारे पास सामाजिक संगठन और पारिवारिक जीवन के लिखित प्रमाण उपलब्ध हैं। आज शनैःशनैः महिलाओं को पुरुषों के जीवन में महत्वपूर्ण, प्रभावशाली और अर्थपूर्ण सहयोगी माना जाने लगा है, परन्तु कुछ दशक पहले तक उनकी स्थिति दयनीय थी। विचारधाराओं, संस्थागत रिवाजों, और समाज में प्रचलित प्रतिमानों ने उनके उत्पीड़न में काफी योगदान दिया है। इनमें से कुछ व्यावहारिक रिवाज आज भी पनप रहे हैं। स्वाधीनता के पश्चात हमारे समाज में महिलाओं के समर्थन में बनाये गये कानूनों, महिलाओं में शिक्षा के फैलाव और महिलाओं की धीरे-धीरे बढ़ती हुई आर्थिक स्वतन्त्रता के बावजूद असंख्य महिलाएँ अब भी हिंसा की शिकार हैं। उनको पीटा जाता है, उनका अपहरण किया जाता है, उनके साथ बलात्कार किया जाता है, उनको जला दिया जाता है या उनकी हत्या कर दी जाती है। इस समस्या की व्याख्या के लिये 'व्यक्तिगत' उपागम और 'परिस्थिति' उपागम का उपयोग किया है परन्तु इन दोनों उपागमों के कई बिन्दुओं को लेकर उनकी आलोचना हुई है।

## सरांश

आधुनिक समाज में सामाजिक परिवर्तन न तो मनचाहे ढंग से किया जा सकता है और न ही इसको पूर्णतः स्वतंत्र और असंगठित छोड़ दिया जा सकता है। आज हर समाज में नियोजन के द्वारा सामाजिक परिवर्तन को नियन्त्रित कर वांछित लक्ष्यों की दिशा में क्रियाशील किया जा सकता है। भारतीय समाज का अध्ययन करने वाले विद्वानों—श्रीनिवास, योगेन्द्र सिंह, लुई ड्यूमा आदि ने भारतीय समाज में हो रहे संरचनात्मक परिवर्तनों को स्पष्ट किया है। सरकार को आर्थिक क्रिया के क्षेत्र में सकारात्मक भूमिका अदा करनी पड़ती है। इस प्रकार की अर्थव्यवस्था में देश की समग्र आर्थिक प्रणाली को 3 भागों में बांटा जाता है—(i) ऐसे क्षेत्र जिनमें उत्पादन एवं वितरण का पूर्ण स्वामित्व एवं नियंत्रण राज्य के हाथ में होता है संविधान से उद्भव हुए परिवर्तन को नगरीय मॉडल परंपरा, जाति, धर्म और प्रजातीयता को तार्किक ढंग से मान्यता नहीं दे सकता था। यह समाज के सबसे शोषित तथा कमजोर और पीड़ित होते रहने के लिए अभिजन समूहों को बाजार केन्द्रित शक्तियों की दया पर नहीं छोड़ सकता था। समाज एक से अधिक लोगों का समूह ही। जिसमें सभी मानवीय क्रियाकलाप संपन्न होते हैं। मानवीय क्रियाकलापों से आशय आचरण, सामाजिक सुरक्षा, निर्वाह आदि क्रियाओं से है। दूसरे शब्दों में, समाज मानवीय अंतःक्रियाओं के प्रकम की एक प्रणाली है।

## अभ्यास प्रश्नोत्तर

### बहुविकल्पीय प्रश्न

- औपचारिक नियंत्रण कौन-सा होता है?
 

(a) यह लिखित कानून होता है।	(b) इसमें दंड देने का प्रावधान होता है।
(c) यह सरकार द्वारा नियंत्रित होता है।	(d) उपरोक्त सभी
- अनौपचारिक नियंत्रण से क्या अभिप्राय है?
 

(a) यह सामाजिक कल्याण के लिए होता है।	(b) इसमें निंदा या बहिष्कार किया जाता है।
(c) इसका संबंध समाज से होता है।	(d) उपरोक्त सभी
- सामाजिकरण में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका किसकी होती है?
 

(a) समुदाय	(b) परिवार
(c) आस-पड़ोस	(d) धर्म व जाति
- राज्य द्वारा नियंत्रण के साधन कौन से हैं?
 

(a) कानून	(b) पुलिस
(c) न्यायालय	(d) उपरोक्त सभी
- शैक्षणिक संस्थाएँ किस प्रकार नियंत्रण रखती हैं?
 

(a) आत्म नियंत्रण द्वारा	(b) कठोर दण्ड द्वारा
(c) कानून द्वारा	(d) कड़ी कार्यवाही द्वारा

6. महात्मा गाँधी के अनुसार शिक्षा बच्चों में किस चीज का विकास करती है?
  - (a) शरीर
  - (b) मन
  - (c) आत्मा
  - (d) उपरोक्त सभी
7. अनौपचारिक सकारात्मक प्रतिबंध के प्रकार कौन-से हैं?
  - (a) पत्र
  - (b) पुरस्कार
  - (c) शीर्षक
  - (d) उपरोक्त सभी
8. जीवन अवसर के अवयव कौन-से हैं?
  - (a) सम्पत्ति
  - (b) स्वास्थ्य
  - (c) रोजगार
  - (d) उपरोक्त सभी
9. उपविकास का सिद्धान्त किसने दिया था?
  - (a) इमेनुअल काण्ट
  - (b) न्यूटन
  - (c) चार्ल्स डार्विन
  - (d) रैटजेल
10. अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ाने में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका किसकी थी?
  - (a) रेलवे
  - (b) भाप का इंजन
  - (c) नाव
  - (d) स्टीमर
11. अमेरिका को तकनीकी क्षेत्र में किसने चुनौती दी थी?
  - (a) चीन
  - (b) जापान
  - (c) भारत
  - (d) जर्मनी
12. महिलाओं का समाज में आर्थिक रूप से मजबूती का स्वरूप विश्व स्तर पर कब उभरा था?
  - (a) प्राचीन काल में
  - (b) मध्य काल में
  - (c) प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान
  - (d) द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान
13. सामाजिक परिवर्तन में किसको शामिल किया जाता है?
  - (a) संस्कृति में परिवर्तन
  - (b) सामाजिक संरचना में परिवर्तन
  - (c) आर्थिक परिवर्तन
  - (d) उपरोक्त सभी
14. भारत ने विकास का कौनसा मॉडल अपनाया था?
  - (a) मिश्रित
  - (b) पूँजीवादी
  - (c) समाजवादी
  - (d) गाँधीवादी
15. मानव की नैसर्गिक आवश्यकताएँ कौन-सी होती हैं?
  - (a) काम
  - (b) मकान
  - (c) सुरक्षा
  - (d) उपरोक्त सभी
16. सामाजिक विकास के घटक कौन-से हैं?
  - (a) गरीबी के खिलाफ लड़ाई
  - (b) लोगों द्वारा स्वयं विकास
  - (c) समाज में उचित स्थान
  - (d) उपरोक्त सभी

### लघु उत्तरीय प्रश्न

1. औपचारिक संस्थाएँ किस प्रकार समाज पर नियंत्रण लगाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं?
2. सामाजिक नियंत्रण के दो कारकों को समझाइए।
3. औपचारिक व अनौपचारिक नियंत्रण में अंतर बताइए।
4. सामाजिकीकरण की प्रक्रिया को विस्तारपूर्वक समझाइए।

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. सामाजिक परिवर्तन संकल्पना को समझाइए।
2. सामाजिक परिवर्तन के कारकों का उल्लेख कीजिए।
3. सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।
4. सामाजिक विकास से क्या अभिप्राय है? इसके तत्वों का वर्णन कीजिए।
5. सामाजिक विकास में बाधा पैदा करने वाले कारकों का वर्णन कीजिए।

---

### संदर्भ पुस्तकें

---

1. समाजशास्त्र कक्षा-11 एनसीईआरटी
2. समाजशास्त्र कक्षा-12 एनसीईआरटी
3. जनसंख्या भूगोल, आर.सी. चांदना
4. समाज की समझ, योगेश अटल
5. समाजशास्त्र-अवधारणा एवं सिद्धांत, जे.पी. सिंह

# समाज शास्त्र व सामाजिक कार्य में संबंध

### 3.1 परिचय

### 3.2 सामाजिक आर्थिक कार्य

### 3.3 सामाजिक समस्याओं के आर्थिक कारण

### 3.4 आर्थिक प्रणाली

---

## 3.1 परिचय

---

सामाजिक कार्यप्रणाली व्यक्ति की अपनी स्वयं के भीतर सामाजिक भूमिकाएँ निभाने की क्षमता, उनके तत्कालिक सामाजिक परिवेश और बड़े स्तर पर समाज को परिभाषित करती है। सामाजिक कार्य उद्योग 19वीं शताब्दी में विकसित हुआ, जिसकी कुछ जड़ें स्वैच्छिक परोपकार में और जमीनी स्तर पर आयोजन में हैं। पूँजीवादी समाज की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता है कि उपभोग अत्यधिक महत्वपूर्ण हो जाता है और इसके सिर्फ आर्थिक कारण नहीं हैं बल्कि इसका एक प्रतीकात्मक अर्थ है। किसी समाज के अन्दर या किसी भौगोलिक क्षेत्र के अन्दर उत्पादन, संसाधनों के नियतन तथा वस्तुओं एवं सेवाओं के वितरण को आर्थिक व्यवस्था या आर्थिक प्रणाली कहते हैं। प्रत्येक देश किसी न किसी आर्थिकप्रणाली पर आधारित है। और आर्थिक प्रणाली की भिन्नता के अनुसार अर्थव्यवस्था का संचालन भी भिन्न-भिन्न है।

---

## 3.2 सामाजिक आर्थिक कार्य

---

सामाजिक कार्य एक अकादमिक अनुशासन और अभ्यास-आधारित पेशा है जो सामाजिक क्रियाकलापों को बढ़ाने और अपने स्वयं के समाधान खोजने में सहायता करके और आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के प्रयास में व्यक्तियों, परिवारों, समूहों और समुदायों के साथ खुद को चिंतित करता है। सामाजिक कार्यप्रणाली व्यक्ति की अपनी स्वयं के भीतर सामाजिक भूमिकाएँ निभाने की क्षमता, उनके तत्कालिक सामाजिक परिवेश और बड़े स्तर पर समाज को परिभाषित करती है। यह सामाजिक कार्य पर लागू होता है, सामाजिक विज्ञान जैसे-समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, राजनीतिक विज्ञान, सार्वजनिक स्वास्थ्य, सामुदायिक विकास, कानून और अर्थशास्त्र, ग्राहक प्रणालियों के साथ जुड़ने, मूल्यांकन करने और सामाजिक और व्यक्तिगत समस्याओं को हल करने के लिए हस्तक्षेप विकसित करने के लिए, और सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए। सामाजिक कार्य अभ्यास को अक्सर सूक्ष्म काम में विभाजित किया जाता है, जिसमें सीधे व्यक्तियों या छोटे समूहों के साथ काम करना शामिल होता है; और मैक्रो-वर्क, जिसमें

समुदायों के साथ काम करना शामिल है, और सामाजिक नीति के भीतर बड़े पैमाने पर परिवर्तन को बढ़ावा देना।

### व्यवसाय

नाम	लाइसेंस प्राप्त क्लिनिकल सोशल वर्कर, लाइसेंसधारी मास्टर सोशल वर्कर, लाइसेंसड एडवांस्ड प्रैक्टिसिंग सोशल वर्कर, रजिस्टर्ड सोशल वर्कर
गतिविधि क्षेत्र	समाज कल्याण, सामाजिक सेवा, सरकार, स्वास्थ्य, सार्वजनिक स्वास्थ्य, मानसिक स्वास्थ्य व्यावसायिक सुरक्षा और स्वास्थ्य, सामुदायिक संगठन, गैर-लाभकारी, कानून, कॉर्पोरेट सामाजिक जिम्मेदारी, मानव अधिकार

### विवरण

दक्षताओं	संसाधनों को सुगम बनाने और विकसित करके सामाजिक वातावरण और लोगों की भलाई में सुधार करना
शिक्षा की आवश्यकता है।	बैचलर ऑफ सोशल वर्क (बीएसडब्ल्यू), बैचलर ऑफ आर्ट्स (बीए) इन सोशल वर्क, बैचलर ऑफ साइंस इन सोशल वर्क (बीएससी) या पोस्ट ग्रेजुएट डिप्लोमा इन सोशल वर्क (पीजीडीआईपीएसडब्ल्यू) सामान्य अभ्यास के लिए; मास्टर ऑफ सोशल वर्क, मास्टर ऑफ साइंस इन सोशल वर्क क्लिनिकल प्रैक्टिस के लिए; डॉक्टरेट ऑफ सोशल वर्क या प्रोफेशनल डॉक्टरेट के लिए या विशेष अभ्यास; मान्यता प्राप्त शैक्षिक संस्थान; पंजीकरण और लाइसेंसिंग राज्य के आधार पर भिन्न होते हैं।
क्षेत्र में रोजगार	बाल और महिला सुरक्षा सेवाएँ, गैर-लाभकारी संगठन, सरकारी एजेंसियाँ, वंचित समूह केन्द्र, बाल और महिला सुरक्षा सेवाएँ, गैर-लाभकारी संगठन, सरकारी एजेंसियाँ, वंचित समूह केन्द्र, अस्पताल, स्कूल, चर्च, आश्रय, सामुदायिक एजेंसियाँ, सामाजिक नियोजन सेवाएँ, थिंक टैंक, सुधार सेवाएँ, श्रम और उद्योग सेवाएँ।

सामाजिक कार्य उद्योग 19वीं शताब्दी में विकसित हुआ, जिसकी कुछ जड़ें स्वैच्छिक परोपकार में और जमीनी स्तर पर आयोजन में हैं। हालाँकि, सामाजिक आवश्यकताओं की प्रतिक्रियाएँ बहुत पहले से मौजूद थीं, मुख्यतः निजी दान से और धार्मिक संगठनों से। 1930 के दशक की औद्योगिक क्रांति और महामंदी के प्रभावों ने सामाजिक कार्य पर एक अधिक परिभाषित अनुशासन बनने के लिए दबाव डाला।

**परिभाषा**—सामाजिक कार्य एक व्यापक पेशा है जो कई विषयों के साथ प्रतिच्छेद करता है। सामाजिक कार्य संगठन निम्नलिखित परिभाषाएँ प्रस्तुत करते हैं :

“सामाजिक कार्य एक अभ्यास-आधारित पेशा और एक अकादमिक अनुशासन है जो सामाजिक परिवर्तन और विकास, सामाजिक सामंजस्य और लोगों के सशक्तिकरण और मुक्ति को बढ़ावा देता है। सामाजिक न्याय, मानव



अधिकारों, सामूहिक जिम्मेदारी और विविधताओं के प्रति सम्मान के सिद्धान्त सामाजिक कार्यों के लिए केन्द्रीय हैं। सामाजिक कार्य, सामाजिक विज्ञान, मानविकी और स्वदेशी ज्ञान के सिद्धान्तों से रेखांकित, सामाजिक कार्य लोगों को जीवन की चुनौतियों का सामना करने और भलाई बढ़ाने के लिए संरचनाओं का निर्माण करते हैं।”

### **इंटरनेशनल फेडरेशन ऑफ सोशल वर्कर्स।**

“सामाजिक कार्य व्यक्तियों, परिवारों, समूहों और समुदायों को उनके व्यक्तिगत और सामूहिक कल्याण को बढ़ाने में मदद करने से संबंधित एक पेशा है। इसका उद्देश्य लोगों को उनके कौशल और उनके संसाधनों का उपयोग करने की क्षमता विकसित करने में मदद करना है और समस्याओं को हल करने के लिए समुदाय के हैं। सामाजिक कार्य व्यक्तिगत और व्यक्तिगत समस्याओं से संबंधित है, लेकिन व्यापक सामाजिक मुद्दों जैसे गरीबी, बेरोजगारी और घरेलू हिंसा के साथ भी है। —कनाडाई एसोसिएशन ऑफ सोशल वर्कर्स

सामाजिक कार्य अभ्यास में निम्नलिखित कार्यों में से एक या अधिक सामाजिक कार्य मूल्यों, सिद्धान्तों और तकनीकों के पेशेवर अनुप्रयोग शामिल हैं : लोगों को मूर्त सेवाएँ प्राप्त करने में मदद करना; व्यक्तियों, परिवारों और समूहों के साथ परामर्श और मनोचिकित्सा; समुदायों या समूहों को सामाजिक और स्वास्थ्य सेवाओं को प्रदान करने या सुधारने और विधायी प्रक्रियाओं में भाग लेने में मदद करना। सामाजिक कार्य के अभ्यास के लिए मानव विकास और व्यवहार के ज्ञान की आवश्यकता होती है; सामाजिक और आर्थिक, और सांस्कृतिक संस्थानों के और इन सभी कारकों की सहभागिता।—नेशनल एसोसिएशन ऑफ सोशल वर्कर्स

“सामाजिक कार्यकर्ता अपने जीवन में परिणामों को बेहतर बनाने में मदद करने के लिए व्यक्तियों और परिवारों के साथ काम करते हैं। यह कमजोर लोगों को नुकसान या दुरुपयोग से बचाने या लोगों को स्वतंत्र रूप से जीने में मदद कर सकता है। सामाजिक कार्यकर्ता लोगों का समर्थन करते हैं, अधिवक्ताओं के रूप में कार्य करते हैं और लोगों को सेवाओं के लिए निर्देशित करते हैं।

आवश्यकता पड़ने पर सामाजिक कार्यकर्ता अक्सर स्वास्थ्य और शिक्षा पेशेवरों के साथ-साथ बहु-विषयक टीमों में काम करते हैं।—ब्रिटिश एसोसिएशन ऑफ सोशल वर्कर्स

## **3.3 सामाजिक समस्याओं के आर्थिक कारण**

पूँजीवादी समाज की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता है कि उपभोग अत्यधिक महत्वपूर्ण हो जाता है और इसके सिर्फ आर्थिक कारण नहीं हैं बल्कि इसका एक प्रतीकात्मक अर्थ है। आधुनिक समाजों में उपभोग एक महत्वपूर्ण तरीका है जिसके द्वारा सामाजिक भिन्नता का निर्माण होता है और उन्हें प्रदर्शित किया जाता है। उपभोक्ता अपनी सामाजिक, आर्थिक स्थिति या सांस्कृतिक प्राथमिकताओं को कुछ विशेष वस्तुओं को खरीदकर या उनका प्रदर्शन कर प्रदर्शित करता है और कंपनियाँ उन बातों पर गौर करती हैं और वो अपने सामान, प्रस्थिति या संस्कृति के प्रतीकों के आधार पर बनाती एवं बेचती हैं। टेलीविजन पर आने वाले और सड़कों पर लगे इशतहारों के बारे में, जिन्हें हम रोज देखते हैं और उस विज्ञापन में छुपे अर्थ के बारे में सोचिए जिसे विज्ञापनदाता ने अपने उत्पाद की बिक्री के लिए विज्ञापन से जोड़ने की कोशिश की है। समाजशास्त्र के संस्थापकों में से एक मैक्स वेबर ने पहली बार इस बात को लोगों के सामने रखा कि लोग जो सामान खरीदते हैं एवं उपयोग करते हैं वह समाज में उनकी

परिस्थिति से गहनता से जुड़ा होता है। उन्होंने इसको प्रतिष्ठा का प्रतीक माना। उदाहरण के तौर पर, भारत में आज मध्यम वर्गीय परिवारों में उनके पास जो कार का मॉडल होता है या जिस कंपनी के सेलफोन इस्तेमाल करते हैं वो उनकी सामाजिक आर्थिक परिस्थिति का अनुमान लगाने के प्रमुख साधन हैं। वेबर ने इस बारे में भी लिखा कि किस तरह से लोगों की जीवनशैली के आधार पर उनके वर्गों और परिस्थिति समूहों में भिन्नता की जाती है। उपभोग जीवन का एक पक्ष है पर उसमें ये बातें भी शामिल हैं कि आप अपने घर को किस तरह से सजाते हैं, आप किस तरह के कपड़े पहनते हैं, किस तरह के मनोरंजन को पसंद करते हैं और दैनिक जीवन के अन्य पक्ष भी इसमें शामिल हैं। समाजशास्त्री आधुनिक समाज में उपभोग के स्वरूप और जीवनशैलियों का उनके सांस्कृतिक एवं सामाजिक महत्त्व के कारण अध्ययन करते हैं।

### 3.4 आर्थिक प्रणाली

किसी समाज के अन्दर या किसी भौगोलिक क्षेत्र के अन्दर उत्पादन, संसाधनों के नियतन तथा वस्तुओं एवं सेवाओं के वितरण को **आर्थिक व्यवस्था या आर्थिक प्रणाली** कहते हैं।

आर्थिक प्रणाली के संस्थागत ढाँचे से अभिप्राय उस कार्यविधि से होता है, जिसके अन्तर्गत किसी पूर्व-निर्धारित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सोचने का, निर्णय लेने का और आर्थिक क्रियाएँ सम्पन्न करने का मार्ग निर्धारित किया जाता है। ये सभी आर्थिक क्रियाएँ संगठित होकर एक आर्थिक प्रणाली की संरचना करती है।

आर्थिक प्रणाली ऐसी संस्थाओं का ढाँचा है जिसके द्वारा समाज की समस्त आर्थिक क्रियाओं का संचालन किया जाता है। प्रत्येक देश किसी न किसी आर्थिक प्रणाली पर आधारित है। और आर्थिक प्रणाली की भिन्नता के अनुसार अर्थव्यवस्था का संचालन भी भिन्न-भिन्न है। किन्तु यह सार्वभौमिक सत्य है कि देश में चाहे कोई भी आर्थिक प्रणाली कार्यशील क्यों न हों, अर्थव्यवस्था में एक केन्द्रीय प्रवृत्ति एवं एक निश्चित उद्देश्य सदैव विद्यमान रहता है। जिसके अन्तर्गत देश के संसाधनों का अनुकूलतम उपयोग करते हुए देश की अर्थव्यवस्था को उन्नत बनाने की चेष्टा की जाती है।

विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक प्रणाली को भिन्न-भिन्न शब्दों में परिभाषित किया है, जिनमें मुख्य निम्नलिखित हैं :

1. श्रीमती जोन रोबिन्सन के अनुसार किसी भी आर्थिक प्रणाली को नियमों के एक समूह की, उनके औचित्य को प्रमाणित करने के लिए एक विचारधारा की तथा व्यक्ति के विवेक की जिसके द्वारा उसे पूरा करने के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता होती है।

श्रीमती जोन रोबिन्सन ने अपनी परिभाषा में आर्थिक प्रणाली के क्रियान्वयन पदों पर अधिक बल दिया है। उनके विचार में प्रत्येक आर्थिक प्रणाली की एक नियमावली होती है। जिसका क्रियान्वयन करने के लिए व्यक्ति विशेष का विवेक आवश्यक होता है।

2. ग्रासमैन ने आर्थिक पद्धति को परिभाषित करते हुए लिखा है, आर्थिक संस्थाओं का समुच्चय जो किसी अर्थव्यवस्था का लक्षण होता है, उसकी आर्थिक पद्धति बनाता है।

संस्थाओं से ग्रासमैन का आशय प्रतिमानों के समुच्चय, व्यावहारिक नियम एवं स्थापित क्रियाविधियों से है। उदाहरणार्थ—सम्पत्ति, कम्पनी, परिवार, व्यापारिक प्रतिष्ठान, सरकार, मुद्रा, नियोजन आदि विभिन्न आर्थिक संस्थाएँ हैं। जिनका स्वरूप मिलकर एक आर्थिक पद्धति बनाता है।

3. मैनुअल गोटलिब के अनुसार आर्थिक प्रणाली मनुष्य के जटिल सम्बन्धों के उन तरीकों का अध्ययन है जिसके द्वारा व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए सीमित संसाधनों का प्रयोग किया जाता है।

### गोटलिब की परिभाषा निम्नलिखित बिन्दुओं पर प्रकाश डालती है।

1. आर्थिक प्रणाली स्थिर न होकर व्यक्तियों की आवश्यकताओं से संबंधित होती है।
2. व्यक्तियों की आवश्यकताओं में व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक दोनों प्रकार की आवश्यकताओं का समावेश होता है। अर्थात् मनुष्य की आवश्यकताएँ अनंत हैं और उन्हें स्वरूप के आधार पर व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक आवश्यकताओं में बांटा जा सकता है।
3. आर्थिक प्रणाली में सीमित संसाधनों के अनुकूलतम आबंटन की विचारधारा निहित है।
4. लॉक्स ने आर्थिक पद्धति को परिभाषित करते हुए लिखा है—आर्थिक प्रणाली अर्थव्यवस्था का एक ऐसा संगठन है जिसके द्वारा सुलभ उत्पादन साधनों का प्रयोग करके मानव आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती है।

आर्थिक प्रणाली में उन संस्थाओं का समावेश होता है, जिन्हें कोई मानव समुदाय अथवा कोई राष्ट्र समूह ऐसे साधनों के रूप में अपनाता है या स्वीकार करता है। जिसमें मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसके संसाधनों का प्रयोग किया जा सके।

### उपर्युक्त परिभाषा निम्नलिखित बिन्दुओं पर प्रकाश डालती है :

1. किसी भी राष्ट्र के व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सामाजिक राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक संस्थाओं के महत्व पर बल दिया है।
2. संस्था का तात्पर्य ऐसी कार्य पद्धति से है जिससे उद्देश्य विशेष की पूर्ति हो सके।
3. राष्ट्र एवं राष्ट्रों के समूह शब्दों के प्रयोग द्वारा एक प्रणाली की प्रकृति को स्पष्ट किया गया है।
4. ए.जे.ब्राउन के अनुसार—आर्थिक प्रणाली एक प्रक्रिया अथवा क्रम है जिसके अन्तर्गत मनुष्य आय प्राप्त करने की चेष्टा करता है।
5. प्रो. हिक्स के अनुसार—किसी भी स्थिति में आर्थिक प्रणाली की कल्पना उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं (सामूहिक आवश्यकताओं सहित) की संतुष्टि के लिए उत्पादों के सहयोग के रूप में अथवा पारस्परिक विनिमय की अवस्था के रूप में कर सकते हैं।

हिक्स ने आर्थिक प्रणाली की परिभाषा में आर्थिक प्रणाली को उत्पादन एवं विनिमय की प्रक्रिया के रूप में स्पष्ट किया है और उत्पादन के लिए उपभोक्ता की व्यक्तिगत एवं सामूहिक आवश्यकता के महत्व को भी स्वीकार किया है।

संक्षेप में आर्थिक, प्रणाली एक ऐसी व्यवस्था है, जिसके अन्तर्गत अर्थव्यवस्था से संबंधित (अर्थात् उपभोग, उत्पादन, विनिमय, वितरण सम्बन्धी) निर्णय लिये जाते हैं।

---

## सारांश

---

सामाजिक विज्ञान जैसे—समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, राजनीतिक विज्ञान, सार्वजनिक स्वास्थ्य, सामुदायिक विकास, कानून और अर्थशास्त्र, ग्राहक प्रणालियों के साथ जुड़ने, मूल्यांकन करने और सामाजिक और व्यक्तिगत समस्याओं को हल करने के लिए हस्तक्षेप विकसित करने के लिए, और सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए। उपभोग जीवन का एक पक्ष है पर उसमें ये बातें भी शामिल हैं कि आप अपने घर को किस तरह से सजाते हैं, आप किस तरह के कपड़े पहनते हैं, यह सामाजिक कार्य पर लागू होता है, किस तरह के मनोरंजन को पसंद करते हैं और दैनिक जीवन के अन्य पक्ष भी इसमें शामिल हैं। समाजशास्त्री आधुनिक समाज में उपभोग के स्वरूप और जीवनशैलियों का उनके सांस्कृतिक एवं सामाजिक महत्त्व के कारण अध्यधीनता जोन रोबिन्सन ने अपनी परिभाषा में आर्थिक प्रणाली के क्रियान्वयन पदों पर अधिक बल दिया है। उनके विचार में प्रत्येक आर्थिक प्रणाली की एक नियमावली होती है। जिसका क्रियान्वयन करने के लिए व्यक्ति विशेष का विवेक आवश्यक होता है। मैनुअल गोटलिब के अनुसार आर्थिक प्रणाली मनुष्य के जटिल सम्बन्धों के उन तरीकों का अध्ययन है जिसके द्वारा व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए सीमित संसाधनों का प्रयोग किया जाता है।

---

## अभ्यास प्रश्नोत्तर

---

### बहुविकल्पीय प्रश्न

- सामाजिक कार्यों में किसको शामिल किया जाता है?
 

(a) परिवार के कार्य	(b) समुदाय के कार्य
(c) समिति के कार्य	(d) स्वयं के कार्य
- निम्नलिखित में से किस सामाजिक कार्य द्वारा आर्थिक गतिविधि में सहायता मिली है?
 

(a) B.S.W	(b) B.SC
(c) M.S.W	(d) उपरोक्त सभी
- सामाजिक कार्यों के विकास की शुरूआत कब मानी जाती है।
 

(a) 17वीं सदी	(b) 18वीं सदी
(c) 19वीं सदी	(d) 20वीं सदी
- सामाजिक कार्य से जुड़ी अंतर्राष्ट्रीय संस्था का उचित उदाहरण कौन-सा है?
 

(a) इंटरनेशनल फेडरेशन ऑफ सोशल वर्क
(b) कनाडाई एशोसिएशन ऑफ सोशल वर्क
(c) नेशनल एशोसिएशन ऑफ सोशल वर्क
(d) एशियन एशोसिएशन ऑफ सोशल वर्क

5. पूँजीवादी समाज की महत्वपूर्ण विशेषता क्या है?
 

(a) उपभोग	(b) निजी उत्पादन
(c) लाभ कमाना	(d) सरकार द्वारा हस्तक्षेप करना
6. उपभोक्ता की प्राथमिकताएँ कौन-सी होती हैं?
 

(a) सामाजिक स्थिति	(b) आर्थिक स्थिति
(c) सांस्कृतिक स्थिति	(d) उपरोक्त सभी
7. आर्थिक प्रणाली के अवयव कौन-से हैं?
 

(a) उत्पादन	(b) संसाधनों का नियतन
(c) वस्तुओं व सेवाओं का विवरण	(d) उपरोक्त सभी
8. व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कोई राष्ट्र किस पर अधिक बल देता है?
 

(a) सामाजिक व आर्थिक संस्थाएँ	(b) राजनीतिक संस्थाएँ
(c) सांस्कृतिक संस्थाएँ	(d) उपरोक्त सभी

#### लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सामाजिक कार्य समाज के विकास में किस प्रकार महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं?
2. सामाजिक कार्य के गतिविधि क्षेत्रों को समझाइए?
3. सामाजिक कार्य के क्षेत्र में रोजगार की संभावनाओं पर टिप्पणी कीजिए।
4. सामाजिक कार्य की परिभाषा दीजिए।

#### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. सामाजिक समस्याओं के आर्थिक कारण किस प्रकार विकसित होते हैं?
2. आर्थिक प्रणाली से क्या अभिप्राय हैं? इसकी परिभाषा दीजिए।
3. गोरलिब की परिभाषा किस संदर्भ में दी गई है? उसकी विशेषताएँ बताइए।
4. आर्थिक प्रणाली की विशेषताएँ बताइए।

---

#### संदर्भ पुस्तकें

---

1. समाजशास्त्र कक्षा-11 एनसीईआरटी
2. समाजशास्त्र कक्षा-12 एनसीईआरटी
3. जनसंख्या भूगोल, आर.सी. चांदना
4. समाज की समझ, योगेश अटल
5. समाजशास्त्र-अवधारणा एवं सिद्धांत, जे.पी. सिंह

# अध्याय-4

## कल्याणकारी राज्य व भारत में सामाजिक नियोजन

- 4.1 परिचय
- 4.2 सामाजिक कल्याण
- 4.3 वस्तुनिष्ठ रणनीति
- 4.4 सामाजिक व कल्याणकारी नियोजन
- 4.5 नगरीकरण व औद्योगीकरण की समस्याएं
- 4.6 गतिशील आर्थिक नियोजन
- 4.7 सामाजिक व आर्थिक कल्याण के प्रयास

---

### 4.1 परिचय

---

एक सामाजिक कल्याण प्रणाली व्यक्तियों और परिवारों को जरूरत में सहायता प्रदान करती है। अमेरिका में, संघीय सरकार प्रत्येक राज्य को अस्थायी सहायता के लिए जरूरतमंद परिवारों कार्यक्रम के माध्यम से अनुदान प्रदान करती है। प्रारूप की सरलता भ्रामक हो सकती है क्योंकि एक अच्छा साक्षात्कारकर्ता बनने के लिए व्यापक अनुभव तथा कौशल होना जरूरी होता है। साक्षात्कार, सर्वेक्षण में प्रयोग की गई संरचित प्रश्नावली तथा सहभागी प्रेक्षण पद्धति की तरह पूर्णरूप से खुली अंतःक्रियाओं के बीच स्थान रखता है। समाजशास्त्र में विशेष रूप से सामाजिक मानवविज्ञान में लोकप्रिय सहभागी प्रेक्षण का आशय एक विशेष पद्धति से है जिसके द्वारा समाजशास्त्री उस समाज, संस्कृति तथा उन लोगों के बारे में सीखता है जिनका वह अध्ययन कर रहा होता है। यह पद्धति अन्य पद्धतियों से कई प्रकार से अलग है। अठारहवीं शताब्दी के मध्य में भारत की लगभग 10% जनसंख्या ही शहरों में रहती थी। उन्नीसवीं शताब्दी में, 100 वर्षों के अन्तराल में भारत में शहरों की जनसंख्या में दस गुणा वृद्धि हुई। बीसवीं शताब्दी में समूचे देश की जनसंख्या 1901 में 23.8 करोड़ से बढ़कर 1991 में 84.63 करोड़ हो गई, शहरों में रहने वालों की संख्या में 52.3: वृद्धि हुई। आर्थिक विकास एक अवधारणा और सामान्य रूप से एक गतिविधि है जो किसी राष्ट्र की मूल दक्षताओं का आंकलन करती है और यह नवाचार है, और उपलब्ध संसाधनों का उपयोग करती है। परिवार को प्रभावित करने वाला एक अन्य कारक नगरीकरण भी है। गत कुछ दशकों में हमारे देश की शहरी जनसंख्या में तीव्र दर से वृद्धि हुई है।

## 4.2 सामाजिक कल्याण

एक समाज कल्याण प्रणाली क्या है? एक सामाजिक कल्याण प्रणाली व्यक्तियों और परिवारों को जरूरत में सहायता प्रदान करती है। व्यक्तियों और परिवारों के लिए उपलब्ध कल्याण के प्रकार और मात्रा देश, राज्य या क्षेत्र के आधार पर भिन्न होते हैं। अमेरिका में, संघीय सरकार प्रत्येक राज्य को अस्थायी सहायता के लिए जरूरतमंद परिवारों कार्यक्रम के माध्यम से अनुदान प्रदान करती है।

**महत्वपूर्ण :** सामाजिक कल्याण प्रणाली के एक हिस्से के रूप में एक व्यक्ति या परिवार को मिलने वाले लाभ राज्य की आवश्यकताओं के अनुसार अलग-अलग होंगे। कैसे एक समाज कल्याण प्रणाली काम करती है?

सामाजिक कल्याण प्रणाली स्वास्थ्य देखभाल, भोजन टिकट, बेरोजगारी मुआवजा, आवास सहायता और बच्चे की देखभाल सहायता जैसे कार्यक्रमों के माध्यम से व्यक्तियों और परिवारों को सहायता प्रदान करती हैं। अमेरिका में, आवेदक की जरूरतों को निर्धारित करने और पुष्टि करने के लिए लाभों के लिए आवेदन करने वाले प्रत्येक व्यक्ति या परिवार को एक कैसवर्कर सौंपा जाता है।

**अपने समुदाय के रहने वाले**—किसी व्यक्ति को उपलब्ध लाभ राज्य द्वारा भिन्न होता है। पात्रता व्यक्ति की वित्तीय स्थिति के आसपास के कारकों के आधार पर निर्धारित की जाती है और यह किसी विशेष राज्य के भीतर न्यूनतम स्वीकार्य स्तरों से कैसे संबंधित है। इसमें शामिल कारकों में परिवार इकाई का आकार, वर्तमान आय स्तर, या एक निर्धारित विकलांगता शामिल हो सकती है।

प्रत्येक राज्य के भीतर, सामाजिक कल्याण प्रणाली विभिन्न नामों से जा सकती हैं, लेकिन वे अवसर समान कार्य करते हैं। यह एक राज्य के कार्यक्रम को दूसरे से तुलना करने का प्रयास करते समय भ्रम पैदा कर सकता है। इसके अतिरिक्त, किसी विशेष राज्य में गरीबी रेखा के आधार पर, अर्हता प्राप्त करने की आवश्यकताएँ भी भिन्न होती हैं। यह उन वस्तुओं के आधार पर समायोजन की अनुमति देता है जैसे कि रहने की लागत जो पूरे देश में मानकीकृत नहीं है।

- एक सामाजिक कल्याण प्रणाली स्वास्थ्य देखभाल सहायता, भोजन टिकटों और बेरोजगारी मुआवजे जैसे कार्यक्रमों के साथ, व्यक्तियों और परिवारों को आवश्यकता में सहायता प्रदान करती है।
- सामाजिक कल्याण प्रणाली के कम ज्ञात हिस्सों में आपदा राहत और शैक्षिक सहायता शामिल है।
- संघीय सरकार जरूरतमंद परिवारों कार्यक्रम के लिए अस्थायी सहायता के माध्यम से प्रत्येक राज्य को अनुदान प्रदान करती है।
- लाभ की पात्रता आय के स्तर और परिवार के आकार सहित कई कारकों पर आधारित है।

**समाज कल्याण प्रणालियों का लाभ**—उपलब्ध लाभ आमतौर पर भोजन, आवास, बच्चे की देखभाल और चिकित्सा देखभाल के लिए सहायता प्रदान करते हैं। TANF के मामले में, वितरण के लिए राज्यों को संघीय धन प्रदान किया जाता है। इन फंडों का इस्तेमाल नकद सहायता के लिए किया जा सकता है, जिसके घर को धन खर्च करने की अनुमति मिलती है क्योंकि यह अपनी आवश्यकताओं और दायित्वों को पूरा करने के लिए आवश्यक है।

कुछ उपलब्ध आवास लाभ उपयुक्त और सस्ती संपत्तियों का पता लगाने और आवास लागत सहायता प्रदान

करने से परे हैं। एक घर कुछ ऊर्जा दक्षता उन्नयन को पूरा करने के लिए सहायता के लिए अर्हता प्राप्त कर सकता है। यह उपयोगिता बिलों का भुगतान करने में सहायता के लिए धन भी प्राप्त कर सकता है।

स्वास्थ्य और पोषण के आसपास लाभ सस्ती चिकित्सा देखभाल तक पहुँच शामिल कर सकते हैं। खाद्य और पोषण कार्यक्रम धन की आपूर्ति कर सकते हैं, जिसे अक्सर भोजन टिकटों या पूरक पोषण सहायता कार्यक्रम (एसएनएपी) के रूप में संदर्भित किया जाता है, ताकि सामान्य रूप से भोजन की आसान पहुँच प्रदान की जा सके। महिलाओं, शिशुओं और बच्चों (डब्ल्यूआईसी) कार्यक्रम के माध्यम से अतिरिक्त पोषण सहायता गर्भवती महिलाओं और छोटे बच्चों को विकास और विकास को बढ़ावा देने के लिए स्वस्थ भोजन विकल्पों तक पहुँच सुनिश्चित करने के लिए भोजन-विशिष्ट लाभ प्रदान करती है।

अन्य कार्यक्रम जो सामाजिक कल्याण प्रणाली के हिस्से हैं, उनमें आपदा राहत सहायता, शैक्षिक सहायता, कृषि भारतीय संविधान एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना करता है। प्रस्तावना और राज्य नीति (डीपीएसपी) के निदेशक सिद्धान्तों में से विशेषताओं से स्पष्ट है। इस भावना में, भारत न केवल सिद्धान्त रूप बल्कि आर्थिक नियोजन के माध्यम से एक कल्याणकारी राज्य के आदर्श को पूरा करने का दृढ़ प्रयास कर रहा है, इस प्रकार भारती नागरिकों को न्याय दिलाता है—सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक इस भावना में, समान उद्देश्यों के लिए प्रयास करते हुए, यह पोर्टल महिलाओं, बच्चों, एससी, एसटी, ओबीसी, अल्पसंख्यकों, वरिष्ठ न असंगठित क्षेत्र, अलग-अलग अभिहित और अन्य से संबंधित अधिक योजनाओं, कार्यक्रमों और संस्था के विवरणों के बारे में जानकारी करता है।

**महिला और बाल विकास**—यह खंड महिलाओं और बाल विकास से संबंधित विभिन्न नीतियों और अन्य कानूनी पहलुओं को शामिल करता है।

**अनुसूचित जनजाति कल्याण**—विषय अनुसूचित जनजातियों के कल्याण से संबंधित विभिन्न योजना, संस्थानों और नीतियों और कृत्यों के बारे में जानकारी देता है।

**अनुसूचित जाति कल्याण**—यह खंड अनुसूचित जाति कल्याण से संबंधित नीतियों, संस्थाओं, और कानूनी पहलुओं को शामिल करता है।

---

### 4.3 वस्तुनिष्ठ रणनीति

---

साक्षात्कार मूलतः अनुसंधानकर्ता तथा उत्तरदाता के बीच निर्देशित बातचीत होती है, हालाँकि इसके साथ कुछ तकनीकी पक्ष जुड़े होते हैं। प्रारूप की सरलता भ्रामक हो सकती है क्योंकि एक अच्छा साक्षात्कारकर्ता बनने के लिए व्यापक अनुभव तथा कौशल होना ज़रूरी होता है। साक्षात्कार, सर्वेक्षण में प्रयोग की गई संरचित प्रश्नावली तथा सहभागी प्रेक्षण पद्धति की तरह पूर्णरूप से खुली अंतःक्रियाओं के बीच स्थान रखता है। इसका सबसे बड़ा लाभ प्रारूप का अत्यधिक लचीलापन है। प्रश्नों को पुनःनिर्मित किया जा सकता है या अलग ढंग से बताया जा सकता है; बातचीत में हुई प्रगति के अनुसार विषयों या प्रश्नों का क्रम बदला जा सकता है; जिन विषयों पर अच्छी सामग्री मिल रही हो, उन्हें विस्तारित किया जा सकता है तथा जिन मामलों में प्रतिकूल प्रतिक्रियाएँ हो रही हों, उन्हें संक्षिप्त रूप दिया जा सकता है या किसी अन्य अवसर पर बाद में जानने हेतु स्थगित किया जा सकता है और यह



सब साक्षात्कार के दौरान किया जा सकता है। दूसरी तरफ़ साक्षात्कार पद्धति के रूप में साक्षात्कार से संबंधित लाभों के साथ अनेक हानियाँ भी हैं। इसका यही लचीलापन उत्तरदाता की मनोदशा बदल जाने के कारण या फिर साक्षात्कार करने वाले की एकाग्रता में त्रुटि होने के कारण साक्षात्कार को कमज़ोर बना देता है। इस प्रकार इस अर्थ में यह एक अविश्वसनीय तथा अस्थिर प्रारूप है जो जब कार्य करता है तो बहुत अच्छा करता है तथा जब असफल होता है तो बहुत बुरी तरह से होता है। साक्षात्कार लेने की अनेक शैलियाँ हैं तथा इससे संबंधित विचार तथा अनुभव लाभों के अनुसार बदलते रहते हैं। कुछ व्यक्ति अत्यंत असंरचित प्रारूप को प्राथमिकता देते हैं जिसमें वास्तविक प्रश्नों के स्थान पर विषय की जाँच सूची ही होती है। अन्य व्यक्ति इसके संरचित रूप को वरीयता देते हैं जिसमें सभी उत्तरदाताओं से विशेष प्रश्न पूछे जाते हैं। परिस्थितियों तथा वरीयताओं के अनुसार साक्षात्कार को रिकार्ड करने के तरीके भी अलग-अलग हैं जिनमें वास्तविक वीडियो या ऑडियो रिकार्ड करना, साक्षात्कार के दौरान विस्तृत नोट तैयार करना, या स्मरण शक्ति पर निर्भर करना और साक्षात्कार समाप्त होने पर इसे लिखना शामिल है। रिकार्ड करने वाले या इसी प्रकार के अन्य उपकरणों का बार-बार प्रयोग करने से उत्तरदाता असामान्य महसूस करता है तथा इससे बातचीत में काफी हद तक औपचारिकता आ जाती है। दूसरी तरफ़ जब रिकार्ड करने की अन्य कम व्यापक विधियों का प्रयोग किया जाता है तो कभी-कभी महत्वपूर्ण सूचना छूट जाती है या रिकार्ड नहीं हो पाती है। कभी-कभी साक्षात्कार के समय की भौतिक या सामाजिक परिस्थितियाँ भी रिकार्ड के माध्यम को निर्धारित करती हैं। बाद में प्रकाशन के लिए साक्षात्कार को लिखने या अनुसंधान रिपोर्ट के हिस्से के रूप में लिखने का तरीका भी भिन्न हो सकता है।

कुछ अनुसंधानकर्ता प्रतिलिपि को संपादित करना तथा इसे 'स्पष्ट' नियमित वर्णनात्मक रूप से प्रस्तुत करना पसंद करते हैं; जबकि दूसरे मूल वार्तालाप को यथासंभव वैसा ही बनाए रखना चाहते हैं तथा इसके लिए वे हर संभव प्रयास करते हैं। साक्षात्कार को प्रायः अन्य पद्धतियों के साथ अनुपूरक के रूप में विशेषतया सहभागी प्रेक्षण तथा सर्वेक्षणों के साथ प्रयुक्त किया जाता है। 'महत्वपूर्ण सूचनादाता' के साथ लंबी बातचीत से प्रायः संकेंद्रित जानकारी प्राप्त होती है जो साथ में लगाई गई सामग्री को स्पष्ट करती है तथा सही स्थान प्रदान करती है। इसी तरह से गहन साक्षात्कारों द्वारा सर्वेक्षण के निष्कर्षों को गहनता तथा व्यापकता प्राप्त होती है। हालाँकि एक पद्धति के रूप में साक्षात्कार व्यक्तिगत पहुँच पर और उत्तरदाता तथा अनुसंधानकर्ता के आपसी संबंधों या आपसी विश्वास पर निर्भर होता है।

---

## 4.4 सामाजिक व कल्याणकारी नियोजन

---

समाजशास्त्र में विशेष रूप से सामाजिक मानवविज्ञान में लोकप्रिय सहभागी प्रेक्षण का आशय एक विशेष पद्धति से है जिसके द्वारा समाजशास्त्री उस समाज, संस्कृति तथा उन लोगों के बारे में सीखता है जिनका वह अध्ययन कर रहा होता है। यह पद्धति अन्य पद्धतियों से कई प्रकार से अलग है। सर्वेक्षणों या साक्षात्कारों जैसी प्रारंभिक आँकड़ें एकत्र करने वाली अन्य पद्धतियों के विपरीत क्षेत्रीय कार्य में अनुसंधान के विषय के साथ लंबी अवधि की अंतःक्रिया शामिल होती है। सामान्यतः समाजशास्त्री या सामाजिक मानवविज्ञानी कई महीने लगभग एक वर्ष या कभी-कभी इससे ज़्यादा भी उन लोगों के बीच उनकी तरह बनकर व्यतीत करते हैं जिनका उन्हें अध्ययन करना होता है। 'बाहरी' अर्थात् वहाँ का निवासी न होने के कारण मानवविज्ञानी को अपने आपको मूल निवासियों की

संस्कृति में उनकी भाषा सीखकर तथा उनके प्रतिदिन के जीवन में निकट से सहभागी बनकर उनमें ही मिलना पड़ता है ताकि समस्त स्पष्ट तथा अस्पष्ट ज्ञान तथा कौशल को प्राप्त किया जा सके जोकि 'अंदर के निवासियों' के पास होता है। यद्यपि समाजशास्त्री या मानवविज्ञानी की रुचि कुछ विशेष क्षेत्रों में होती है 'सहभागी प्रेक्षण' क्षेत्रीय कार्य का समग्र लक्ष्य समुदाय के 'जीने के संपूर्ण तरीके' सीखना होता है।

वास्तव में यह एक बच्चे के उदाहरण जैसा है जिसमें समाजशास्त्री तथा मानवविज्ञानी से आशा की जाती है कि वह अपने अपनाए गए समुदायों के बारे में प्रत्येक वस्तु ठीक उसी प्रकार संपूर्ण तरीके से सीखे जैसेकि एक छोटा बच्चा संसार के बारे में सीखता है। सहभागी प्रेक्षण को प्रायः 'क्षेत्रीय कार्य' कहा जाता है। यह शब्द मूलतः वनस्पतिशास्त्र, प्राणिविज्ञान, भू-विज्ञान आदि जैसे विशेष प्राकृतिक विज्ञानों की देन है। इन विषयों में, वैज्ञानिक केवल प्रयोगशाला में ही कार्य नहीं करते बल्कि उन्हें अपने विषयों के बारे में जानने के लिए 'क्षेत्र' में भी जाना पड़ता है।

**सामाजिक क्षेत्र में क्षेत्रीय कार्य**—एक कठोर वैज्ञानिक पद्धति के रूप में क्षेत्रीय कार्य ने मानवविज्ञान को सामाजिक विज्ञान के रूप में स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आरंभिक मानवविज्ञानी आदिम संस्कृतियों में शौकिया पर उत्साही रुचि रखते थे। वे 'किताबी विद्वान' थे। जिन्होंने दूरस्थ समुदायों के बारे में यात्रियों, उपदेशकों, औपनिवेशिक प्रशासकों, सिपाहियों तथा उस स्थान पर गए अन्य व्यक्तियों द्वारा लिखी गई रिपोर्टों तथा विवरणों से उपलब्ध सूचनाओं को इकट्ठा तथा सुव्यवस्थित किया। उदाहरणार्थ, जेम्स फ्रेजर की प्रसिद्ध पुस्तक द गोल्डन बॉग जिसने अनेक आरंभिक मानवविज्ञानियों को प्रेरित किया था, पूरी तरह से ऐसे द्वितीय श्रेणी के विवरणों पर आधारित थी। इसी तरह एमिल दुर्खाइम का आदिम धर्म पर किया गया कार्य भी द्वितीय श्रेणी के विवरणों पर आधारित था। उन्नीसवीं सदी के अंत में तथा बीसवीं सदी के पहले दशक में बहुत से आरंभिक मानवविज्ञानियों ने जिनमें कुछ व्यक्ति पेशे से प्रकृति वैज्ञानिक थे, जनजातीय भाषाओं, प्रथाओं, अनुष्ठानों तथा आस्थाओं का व्यवस्थित ढंग से सर्वेक्षण आरंभ किया। दूसरी श्रेणी के विवरणों पर निर्भरता को अविश्वसनीय माना जाने लगा तथा स्वयं किए गए कार्यों से प्राप्त श्रेष्ठ परिणामों ने इस बढ़ते हुए पूर्वाग्रह को स्थापित होने में सहायता की। सन् 1920 से सहभागी प्रेक्षण या क्षेत्रीय कार्य को सामाजिक मानवविज्ञान के प्रशिक्षण और मुख्य पद्धति, जिसके द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है, का एक अनिवार्य हिस्सा माना जाने लगा। लगभग सभी प्रभावशाली विद्वानों ने अपने क्षेत्र में ऐसे क्षेत्रीय कार्य किए हैं। वास्तव में बहुत से समुदाय या भौगोलिक स्थान क्षेत्रीय कार्य के प्रतिष्ठित उदाहरणों से संबंधित होने के कारण विषय में लोकप्रिय बन गए। वास्तव में सामाजिक मानवविज्ञानी क्षेत्रीय कार्य करते समय क्या करता है?

सामान्यतः वह समुदाय, जिसका वह अध्ययन करता है, की जनगणना कर कार्य प्रारंभ करता है। इसमें समुदाय में रह रहे सभी लोगों के बारे में विस्तृत सूची, जिसमें उनके लिंग, आयु, वर्ग तथा परिवार जैसी सूचना भी है, बनाना शामिल है। इसके साथ गाँव या रहने की जगह का भौतिक रूप से नक्शा बनाने का प्रयास भी किया जा सकता है, जिसमें घरों तथा सामाजिक तौर पर संबंधित अन्य जगहों की स्थिति भी शामिल होती है। अपने क्षेत्रीय कार्य की प्रारंभिक अवस्था में मानवविज्ञानियों द्वारा प्रयुक्त सबसे महत्वपूर्ण तकनीक है—समुदाय की वंशावली बनाना। यह जनगणना द्वारा प्राप्त सूचना पर आधारित हो सकती है परंतु इसका आगे विस्तार होता है क्योंकि इसके आधार पर प्रत्येक सदस्य का वंशवृक्ष बनाना तथा जहाँ तक संभव हो सके वंशवृक्ष का पीछे की तरफ विस्तार

करना शामिल होता है। उदाहरण के लिए, किसी भी परिवार या घर के मुखिया से उसके रिश्तेदारों—उसकी अपनी पीढ़ी में भाइयों, बहनों तथा चचेरे भाई-बहनो के बारे में; तत्पश्चात उसके माता-पिता की पीढ़ी में—उनके पिता, माता, उनके भाइयों, बहनों आदि के बारे में; इसके बाद परदादा-दादी तथा उनके भाइयों, बहनों के बारे में और आगे इसी तरह से पूछा जा सकता है। यह कार्य उतनी पीढ़ियों तक के लिए किया जा सकता है जितना व्यक्ति याद रख सकता है। किसी एक व्यक्ति से प्राप्त सूचना की जाँच अन्य संबंधियों से वही प्रश्न पूछकर की जा सकती है तथा पुष्टि होने के बाद एक विस्तृत वंशवृक्ष बनाया जा सकता है। यह अभ्यास सामाजिक मानवविज्ञानियों को समुदाय की नातेदारी व्यवस्था को समझने में सहायता करता है। साथ ही किसी व्यक्ति के जीवन में विभिन्न संबंधी किस प्रकार की भूमिका निभाते हैं तथा इन संबंधों को कैसे बनाए रखा जाता था, इसका पता चलता है। एक वंशावली मानवविज्ञानी को समुदाय की संरचना के बारे में जानने में सहायता करती है तथा व्यावहारिक दृष्टि से उन्हें लोगों से मिलने तथा समुदाय की जीवन शैली में घुलने-मिलने में सहायक होती है।

इस आधार पर चलकर मानवविज्ञानी लगातार समुदाय की भाषा सीखता है। वह समुदाय के जीवन का प्रेक्षण करता है तथा एक विस्तृत नोट तैयार करता है जिसमें सामुदायिक जीवन के महत्वपूर्ण पक्षों का उल्लेख होता है। मानवविज्ञानियों की रुचि विशेष रूप से त्योहारों, धार्मिक या अन्य सामूहिक घटनाओं, आजीविका के साधनों, पारिवारिक संबंधों, बच्चों के पालन-पोषण के साधनों जैसे प्रसंगों में होती है।

इन संस्थाओं और व्यवहारों के बारे में जानने के लिए मानवविज्ञानी को उन वस्तुओं के बारे में अंतहीन प्रश्न पूछने पड़ते हैं जिन्हें समुदाय के सदस्य कोई महत्व नहीं देते। इस भावना के तहत मानवविज्ञानी को एक बच्चे की तरह होना चाहिए तथा हमेशा क्यों, क्या एवं अन्य प्रश्न पूछते रहना चाहिए। इसके लिए मानवविज्ञानी अधिकांश सूचना हेतु एक या दो व्यक्तियों पर निर्भर होता है। ऐसे व्यक्तियों को 'सूचनादाता' या 'मुख्य सूचनादाता' कहा जाता है। इनके लिए प्रारंभिक दिनों में 'मूल सूचनादाता' शब्द का भी प्रयोग किया जाता था। सूचनादाता मानवविज्ञानी के लिए अध्यापक का काम करते हैं तथा मानवविज्ञानीय अनुसंधान की संपूर्ण प्रक्रिया में अत्यंत महत्वपूर्ण कार्यकर्ता होते हैं। इसी तरह से क्षेत्रीय कार्य के दौरान मानवविज्ञानी द्वारा बनाए गए विस्तृत क्षेत्रीय नोट भी समान रूप से महत्वपूर्ण होते हैं। इनको प्रतिदिन बिना किसी त्रुटि के लिखा जाना चाहिए तथा ये एक दैनिक डायरी का रूप भी ले सकते हैं या इनके साथ एक दैनिक डायरी भी लिखी जा सकती है।

**समाजशास्त्र में क्षेत्रीय कार्य**—समाजशास्त्री जब क्षेत्रीय कार्य करते हैं तो सामान्यतः समान तकनीकों का उपयोग करते हैं। समाजशास्त्रीय क्षेत्रीय कार्य अपनी अंतर्वस्तु में इतना अलग नहीं होता और न ही क्षेत्रीय कार्य के दौरान किए गए कार्य में अलग होता है। परंतु इसके संदर्भ में, जहाँ यह किया जाता है और अनुसंधान के विभिन्न क्षेत्रों या विषयों के वितरण को दिए गए महत्व के अनुसार अलग होता है। अतः एक समाजशास्त्री भी एक समुदाय में रहता है और उसके 'अंदर का निवासी' बनने का प्रयास करता है। तथापि एक मानवविज्ञानी के विपरीत, जो क्षेत्रीय कार्य करने के लिए दूर-दराज के जनजातीय समुदाय में चला जाता है, समाजशास्त्री अपना क्षेत्रीय कार्य सभी प्रकार के समाजों के समुदायों में करते हैं। साथ ही समाजशास्त्रीय क्षेत्रीय कार्य में 'क्षेत्र में' रहना आवश्यक नहीं है यद्यपि उसे अपना अधिकांश समय समुदाय के सदस्यों के साथ बिताना पड़ता है। उदाहरण के लिए, अमेरिकी समाजशास्त्री विलियम फोटे वाइटे ने अपना क्षेत्रीय कार्य एक बड़े शहर में इटैलियन-अमेरिकन

गंदी बस्ती की गली के सदस्यों के 'गैंग' के बीच किया तथा अपनी प्रसिद्ध पुस्तक स्ट्रीट कार्नर सोसायटी लिखी। वह इस क्षेत्र में लगभग साढ़े तीन वर्ष तक 'घूमते-फिरते' रहे तथा अपना समय गैंग या समूह के सदस्यों के बीच बिताया, जिनमें से अधिकांश अत्यंत गरीब बेरोज़गार युवा थे, यह प्रवासियों के समुदाय की अमेरिका में जन्मी पहली पीढ़ी थी। हालाँकि समाजशास्त्रीय क्षेत्रीय कार्य का यह उदाहरण मानवविज्ञानी क्षेत्रीय कार्य के काफ़ी निकट है फिर भी इसमें महत्वपूर्ण अंतर है। समाजशास्त्रीय क्षेत्रीय कार्य को सिर्फ़ इस प्रकार होने की आवश्यकता नहीं है—यह अलग रूप में भी किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, जैसाकि दूसरे अमेरिकन समाजशास्त्री मिशेल बुरावो के कार्य में किया गया है। उन्होंने शिकागो कारखाने में अनेक महीनों तक कारीगर के रूप में कार्य किया तथा कामगारों के दृष्टिकोण से कार्य के अनुभव के बारे में लिखा। भारतीय समाजशास्त्र में जिस तरह ग्रामीण अध्ययनों में क्षेत्रीय कार्य पद्धतियों का प्रयोग किया गया, वह एक महत्वपूर्ण तरीका है। सन् 1950 में अनेक भारतीय तथा विदेशी समाजशास्त्री तथा मानवविज्ञानी गाँवों के जीवन तथा समाज पर कार्य करने लगे। गाँवों ने जनजातीय समुदायों, जिनका अध्ययन आरंभिक मानवविज्ञानियों द्वारा किया गया था की भूमिका निभाई। यह भी एक 'सीमित समुदाय' था तथा इतना छोटा था कि एक अकेले व्यक्ति द्वारा इसका अध्ययन किया जा सकता था। अर्थात् समाजशास्त्री गाँव में लगभग प्रत्येक को जान सकता था तथा वहाँ के जीवन का पता लगा सकता था। तथापि मानवविज्ञान का सरोकार अधिकतर आदिम समुदायों से होने के कारण उपनिवेशवादी भारत में राष्ट्रवादियों में यह लोकप्रिय नहीं था। अनेक शिक्षित भारतीयों का मानना था कि मानवविज्ञान जैसे विषयों में औपनिवेशिक पूर्वाग्रह शामिल हैं क्योंकि वे औपनिवेशिक समाजों के विकासात्मक या सकारात्मक पहलुओं के स्थान पर उनके गैर-आधुनिक पक्षों को उजागर करते थे। इसलिए समाजशास्त्री के लिए केवल जनजातियों का अध्ययन करने के स्थान पर गाँवों तथा गाँववालों का अध्ययन करना ज्यादा स्वीकार्य तथा महत्वपूर्ण था। आरंभिक मानवविज्ञान तथा उपनिवेशवाद के बीच संबंधों पर भी प्रश्न पूछे जाने लगे थे। वास्तव में मैलिनोवस्की, इवान्स प्रिचर्ड तथा अनेक अन्य व्यक्तियों द्वारा किए गए क्लासिक क्षेत्रीय कार्य इस तथ्य के कारण संभव हो पाए थे कि वे लोग एवं स्थान जहाँ क्षेत्रीय कार्य किया गया था, औपनिवेशिक साम्राज्यों का हिस्सा थे तथा यह

उन देशों द्वारा शासित थे जहाँ से पश्चिमी मानवविज्ञानी आए थे। तथापि पद्धतिशास्त्रीय कारणों की बजाए गाँव पर किए गए अध्ययन इसलिए अधिक महत्वपूर्ण थे क्योंकि उन्होंने भारतीय समाजशास्त्र को एक ऐसा विषय उपलब्ध कराया जो नए स्वतंत्र भारत में अत्यंत रुचिकर था। सरकार की रुचि विकासशील ग्रामीण भारत में थी। राष्ट्रीय आंदोलन, विशेष रूप से महात्मा गांधी 'ग्राम उत्थान' कार्यक्रमों में सक्रिय रूप से भाग ले रहे थे। यहाँ तक कि शहरी शिक्षित भारतीय भी ग्रामीण जीवन में अत्यधिक रुचि ले रहे थे क्योंकि इनमें से अधिकतर के कुछ पारिवारिक तथा वर्तमान ऐतिहासिक संबंध गाँवों से थे।

इससे बढ़कर गाँव ऐसी जगह थी जहाँ अधिकांश भारतीय रहते थे। इन्हीं कारणों से गाँवों के अध्ययन भारतीय समाजशास्त्र का अत्यंत महत्वपूर्ण हिस्सा बन गए थे तथा ग्रामीण समाज का अध्ययन करने के लिए क्षेत्रीय कार्य पद्धतियाँ अत्यंत अनुकूल थीं। सहभागी प्रेक्षण की कुछ सीमाएँ आप पहले ही देख चुके हैं कि सहभागी प्रेक्षण क्या कर सकता है। इसकी मुख्य ताकत यह है कि यह 'अंदर के' व्यक्ति के दृष्टिकोण से जीवन की महत्वपूर्ण तथा विस्तृत तस्वीर उपलब्ध कराता है। यह आंतरिक दृष्टिकोण ही है जो क्षेत्रीय कार्य करने के लिए दिए समय तथा प्रयास के अत्यधिक निवेश के बदले में प्राप्त होता है। अधिकांश अन्य अनुसंधान पद्धतियाँ काफी लंबे समय के

उपरांत 'क्षेत्र' का विस्तृत ज्ञान होने का दावा नहीं कर सकतीं, क्योंकि वे सामान्यतः संक्षिप्त तथा जल्दी में दिए गए क्षेत्रीय दौरे पर आधारित होती हैं। क्षेत्रीय कार्य में प्रारंभिक प्रभावों में सुधार करने की गुंजाइश होती है जोकि प्रायः त्रुटिपूर्ण या पूर्वाग्रहित हो सकते हैं। यह अनुसंधानकर्ता को रुचि के विषय में हुए परिवर्तनों को जानने तथा विभिन्न परिस्थितियों या संदर्भों के प्रभाव जानने में भी सहायता करता है। उदाहरणार्थ; किसी अच्छी फसल के साल में और बुरी फसल के साल में सामाजिक संरचना या संस्कृति के विभिन्न पक्षों को जाना जा सकता है, रोज़गार या बेरोज़गार व्यक्तियों का व्यवहार अलग-अलग हो सकता है आदि।

क्योंकि सहभागी प्रेक्षक क्षेत्र में 'पूरा समय' व्यतीत करता है, इसलिए उन अनेक त्रुटियों या पूर्वाग्रहों से बच सकता है जिनसे सर्वेक्षणों, प्रश्नावलियों या अल्पकालीन प्रेक्षणों के द्वारा नहीं बचा जा सकता। परंतु सभी अनुसंधान पद्धतियों की तरह क्षेत्रीय कार्य की भी कुछ कमज़ोरियाँ हैं अन्यथा सभी समाज-विज्ञानी इसी एक पद्धति का प्रयोग कर रहे होते। अपनी प्रकृति के कारण क्षेत्रीय कार्य में लंबे समय तक चलने वाला तथा किसी एक अकेले अनुसंधानकर्ता द्वारा किया जाने वाला गहन अनुसंधान निहित होता है। अतः यह विश्व के एक छोटे से भाग को ही अनुसंधान में शामिल कर पाता है। सामान्यतया यह एक अकेला गाँव या छोटा समुदाय होता है। हम कभी भी निश्चित नहीं कर सकते कि मानवविज्ञानी या समाजशास्त्री द्वारा क्षेत्रीय कार्य के दौरान किए गए प्रेक्षण बड़े समुदाय में भी अधिक रूप में समान होंगे या फिर ऐसा अपवाद स्वरूप होता है। शायद यह क्षेत्रीय कार्य की सबसे बड़ी कमज़ोरी है। क्षेत्रीय कार्य पद्धति की एक अन्य महत्वपूर्ण सीमा यह होती है कि हमें यह पता नहीं होता कि यह मानवविज्ञानी की आवाज है या फिर उन लोगों की जिनके बारे में अध्ययन किया गया है। वास्तव में इसका उद्देश्य उन लोगों के मतों का ही प्रतिनिधित्व माना जाता है जिनका अध्ययन किया गया है, परंतु इसकी सदैव संभावना रहती है कि मानवविज्ञानी द्वारा चेतन या अवचेतन मन से उसके नोट्स में लिखी गई किन बातों का चयन किया गया है तथा वह पाठकों के सामने इसे अपनी पुस्तकों या निबंधों में कैसे प्रस्तुत करता है। क्योंकि हमारे पास मानवविज्ञानी के कथन के अतिरिक्त कोई अन्य रूप उपलब्ध नहीं होता, अतः इसमें सदैव त्रुटि या पूर्वाग्रह की संभावना बनी रहती है। यद्यपि यह जोखिम अधिकांश अनुसंधान पद्धतियों में विद्यमान रहता है। सामान्यतया क्षेत्रीय कार्य पद्धतियों की आलोचना एक पक्षीय संबंधों के कारण भी की जाती है जिन पर वे आधारित होती हैं।

मानवविज्ञानी समाजशास्त्री प्रश्न पूछते हैं और उत्तर प्रस्तुत करते हैं तथा 'लोगों के लिए' बोलते हैं। इसके विरोध में कुछ विद्वानों ने अधिक 'संवादीय' प्रारूप बनाने का सुझाव दिया है—अर्थात् क्षेत्रीय कार्य के परिणामों के प्रस्तुतीकरण के तरीके, जिनमें उत्तरदाता तथा लोग प्रत्यक्ष रूप से शामिल हो सकते हैं। ठोस शब्दों में, इसमें विद्वान व्यक्ति के कार्य का समुदाय की भाषा में अनुवाद तथा इस पर उनकी राय और उनके उत्तरों को रिकार्ड करना शामिल है। ज्यों-ज्यों अनुसंधानकर्ता तथा जिन व्यक्तियों पर अनुसंधान किया जाता है, उनके बीच की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दूरी या अंतर कम होता है, त्यों-त्यों इस बात की संभावना बढ़ती जाती है कि विद्वानों के कथनों पर लोगों द्वारा प्रश्न किए जाएँगे, इन्हें मान लिया जाएगा तथा लोगों द्वारा इन्हें स्वयं ठीक कर लिया जाएगा। इससे निश्चित रूप में समाजशास्त्रीय अनुसंधान ज़्यादा विवादास्पद तथा अधिक कठिन हो जाएगा परंतु लंबे समय के लिए यह एक अच्छी बात ही हो सकती है क्योंकि इससे सामाजिक विज्ञान को आगे ले जाने में तथा इसे और अधिक जनतंत्रीय बनाने में सहायता मिलेगी अतएव अधिक से अधिक लोगों को 'ज्ञान' की रचना करने तथा इसमें आलोचात्मक दृष्टि से भाग लेने में सहायता मिलेगी।

कुछ कठिनाइयाँ संसार के दूर-दराज के इलाके में आदिम जनजाति के बारे में अध्ययन करने वाले मानवविज्ञानी की तुलना में आधुनिक अमेरिकी समुदाय के विद्यार्थी को विभिन्न विशिष्ट समस्याओं का सामना करना पड़ता है। सबसे पहले वह साक्षर लोगों के साथ काम कर रहा होता है। यह निश्चित है कि इनमें से कुछ और शायद अनेक लोग उसकी अनुसंधान रिपोर्ट को पढ़ेंगे। जैसाकि मैंने किया है यदि वह भी उस ज़िले का नाम, जहाँ उसने वास्तव में अध्ययन किया है बदल दे तो अनेक बाहरी व्यक्ति यह पता नहीं लगा पाएँगे कि वास्तव में यह अध्ययन कहाँ पर किया गया है। उस ज़िले के व्यक्ति वास्तव में जानते हैं कि यह उनके बारे में है तथा नाम बदलने के बावजूद भी उनसे व्यक्तियों की पहचान छिपाई नहीं जा सकती। वे अनुसंधानकर्ता को जानते हैं तथा वह किन लोगों के साथ जुड़ा हुआ था यह भी जानते हैं तथा यह भी पता है कि विभिन्न समूहों में कौन-कौन व्यक्ति थे और इसमें त्रुटि की संभावना बहुत कम है। ऐसी स्थिति में अनुसंधानकर्ता का उत्तरदायित्व बहुत बढ़ जाता है। वह अवश्य चाहेगा कि उसकी पुस्तक से उस ज़िले के लोगों को कुछ सहायता प्राप्त हो। कम से कम वह अवश्य चाहेगा कि इससे किसी भी प्रकार की हानि की न्यूनतम आशंका हो। वह इस संभावना को पूर्ण रूप से जानता है कि ऐसा होने से इस पुस्तक के प्रकाशन से कुछ व्यक्तियों को कठिनाइयाँ हो सकती हैं।

## 4.5 नगरीकरण व औद्योगीकरण की समस्याएं

परिवार को प्रभावित करने वाला एक अन्य कारक नगरीकरण भी है। गत कुछ दशकों में हमारे देश की शहरी जनसंख्या में तीव्र दर से वृद्धि हुई है। अठारहवीं शताब्दी के मध्य में भारत की लगभग 10% जनसंख्या ही शहरों में रहती थी। उन्नीसवीं शताब्दी में, 100 वर्षों के अन्तराल में भारत में शहरों की जनसंख्या में दस गुणा वृद्धि हुई। बीसवीं शताब्दी में समूचे देश की जनसंख्या 1901 में 23.8 करोड़ से बढ़कर 1991 में 84.63 करोड़ हो गई, शहरों में रहने वालों की संख्या में 52.3: वृद्धि हुई। 1961 में शहरी जनसंख्या समूची जनसंख्या की 17.97% हो गई किन्तु 1971 में बढ़कर 23.34 तथा 1991 में बढ़कर 25.72% हो गई। शहरी जनसंख्या का एक दशक के हिसाब से वृद्धि दर 1961 में 26.41: था जो 1971 में 38.23%, 1981 में 46.14% तथा 1991 में 36.19% हो गया। यथार्थ में, भारत की शहरी जनसंख्या 1961 में 7.8 करोड़, 1971 में 10.9 करोड़, 1981 में 15.9 करोड़, तथा 1991 में 21.7 करोड़ हो गई। नगरीय परिवार ग्रामीण परिवारों से न केवल संरचना में बल्कि विचारधारा में भी भिन्न होते हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि शहरी क्षेत्रों में एकाकी परिवार गैर-शहरी एकाकी परिवार से अपेक्षाकृत छोटा होता है और शहर में रहने वाला व्यक्ति एकाकी परिवार का चयन अधिक करता है, अपेक्षाकृत ग्रामवासी को। एस. एस. गोर (1968) की मान्यता है कि नगरीय परिवार अपने दृष्टिकोण, भूमिका-परिप्रेक्ष्य तथा व्यवहार में संयुक्त परिवार के मानदण्डों से हट रहे हैं। उदाहरणार्थ, निर्णय लेने के मामले में ग्रामीण परिवारों के विपरीत नगरीय परिवारों में बच्चों से संबंधित निर्णय परिवार का सबसे बुजुर्ग व्यक्ति ही नहीं परन्तु उनके माता-पिता लेते हैं। इसी प्रकार वे शहरी लोग जो माता-पिता की मृत्यु के उपरान्त भाईयों के इकट्ठे रहने के विचार का समर्थन करते हैं, उनकी संख्या उसी विचार वाले ग्रामीण लोगों से कम है। आई. पी. देसाई (1964) इस विचार से सहमत नहीं है कि नगरीकरण संयुक्त परिवार व्यवस्था के विघटन के लिए उत्तरदायी है। संयुक्तता पर नगरीकरण के प्रभाव का विश्लेषण करते हुए उन्होंने पाया कि परम्परागत संयुक्तता तथा शहरी क्षेत्र में परिवार के रहने की अवधि के बीच महत्वपूर्ण सम्बन्ध है। उनका अनुमान था कि शहरी क्षेत्र में परिवार जितना लम्बी अवधि तक ठहरेगा, संयुक्तता

की मात्रा में भी उतनी कमी आयेगी परन्तु उन्होंने पाया कि “बहुत पुराने” (50 या अधिक वर्षों तक शहर में रहने वाले) और “पुराने” (25 से 50 वर्षों तक शहर में रहने वाले) परिवारों में “नये” परिवारों (25 या इससे कम वर्ष तक शहर में रहने वाले) की अपेक्षा संयुक्तता अधिक मिलती है। लुईस विर्थ का भी यही विचार है कि नगर परम्परागत पारिवारिक जीवन के लिए सहायक नहीं है उनका कहना है कि सामाजिक जीवन के इकाई के रूप में (नगरीय) परिवार बड़े नातेदारी समूह से मुक्त हैं, जो कि गांव की विशेषता है, तथा व्यक्तिगत रूप में (नगरीय परिवार का) सदस्य अपनी स्वयं की शैक्षिक, व्यावसायिक, धार्मिक, मनोरंजन सम्बन्धी तथा राजनैतिक आकांक्षाओं की पूर्ति में लगा रहता है। हमारा विचार है कि परिवार व्यवस्था के परिवर्तन में नगरीकरण का विशेष महत्व है। शहरी जीवन संयुक्त परिवार के स्वरूप को कमजोर बनाता है तथा एकाकी परिवारों को दृढ़ बनाता है। नगरों में उच्च शिक्षा व नये व्यवसायों के चुनने के लिए अधिक अवसर होते हैं। वे लोग जो अपने परिवार के परम्परागत व्यवसाय को छोड़कर नये व्यवसाय अपनाते हैं।

अपने विचारों और अभिवृत्तियों में उन लोगों की अपेक्षा व्यक्ति बड़ा परिवर्तन दर्शाते हैं जो परम्परागत व्यवसाय को नहीं छोड़ते। इसी प्रकार, शहरों में शिक्षित व्यक्ति यद्यपि संयुक्त परिवार के मानदंडों का थोड़ा बहुत पालन करता है परन्तु उनके पक्ष में कम होता है परन्तु यह कहा जा सकता है कि प्रवृत्तियों में परिवर्तन तथा शहर में रहने की अवधि में निकट का सम्बन्ध है। शहर में स्त्रियों को भी नौकरी के अधिक अवसर मिल जाते हैं और जब वे धन अर्जन करने लगती हैं तब वे कई क्षेत्रों में स्वतंत्रता चाहती हैं। वे अपने पति के जनक परिवार से मुक्त होने की अधिक से अधिक प्रयत्न करने लगती हैं। इस प्रकार नगर में रहने के कारण और समाज में परिवार के स्वरूप में एक भिन्नता दिखाई पड़ती है। औद्योगीकरण उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तथा बीसवीं शताब्दी के प्रथम में भारत में औद्योगीकरण प्रारम्भ हो गया था। नये उद्योगों के चारों ओर शहरों का विकास हुआ। औद्योगीकरण से पूर्व हमारे पास यह व्यवस्था थी: कृषिक अमुद्राहीन अर्थव्यवस्था तकनीकी का वह स्तर जहां घरेलू इकाई आर्थिक विनिमय की इकाई भी थी, पिता-पुत्र व भाई-भाई के बीच व्यावसायिक भेद नहीं था, एक ऐसी मूल्य व्यवस्था थी जहां युक्तिसंगतता के मानदंड की अपेक्षा बुजुर्गों की सत्ता और परम्पराओं की पवित्रता दोनों को ही महत्व दिया जाता था लेकिन औद्योगीकरण ने हमारे समाज में सामान्य रूप से आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक परिवर्तन तथा विशेष रूप से परिवार में परिवर्तन किया है। आर्थिक क्षेत्र में इसके ये परिणाम हुए हैं: कार्य विशेषज्ञता, व्यावसायिक गतिशीलता, अर्थव्यवस्था का द्रव्यीकरण तथा व्यावसायिक संरचनाओं व नातेदारी के बीच के सम्बन्धों का टूट जाना। सामाजिक क्षेत्र में इसका परिणाम हुआ है: ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों में आगमन शिक्षा का प्रसार और एक मजबूत राजनैतिक ढाँचा। सांस्कृतिक क्षेत्र में इससे (औद्योगीकरण से) धर्म निरपेक्षाता के विचार का विकास हुआ है। पारिवारिक संगठन पर औद्योगिकीकरण के जो तीन मुख्य प्रभाव हुए हैं, वे हैं:

(1) परिवार जो कि उत्पादन की एक प्रधान इकाई थी, अब उपयोग की इकाई के रूप में बदल गया है। एक एकीकृत आर्थिक व्यवस्था में लगे परिवार के सभी सदस्यों के एक साथ काम करने की बजाय, परिवार के कुछ पुरुष परिवार की जीविका चलाने के लिए बाहर चले जाते हैं। इससे न केवल संयुक्त परिवार का परम्परागत स्वरूप ही प्रभावित हुआ है, बल्कि सदस्यों के बीच के सम्बन्ध भी।

(2) फैक्ट्रियों में नौकरी के कारण युवक अपने पैतृक परिवारों पर सीधे निर्भर नहीं रहते। वेतन मिलने से क्योंकि वे आर्थिक रूप से स्वतंत्र हैं, अतः परिवार के मुखिया की सत्ता में आरै भी कमी आई है। शहरों में तो पुरुषों के

साथ-साथ उनकी पत्नीयों ने भी अर्जन करना शुरू कर दिया है। इससे अन्तः पारिवारिक सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ा है।

(3) बच्चे अब आर्थिक रूप से आसरित न होकर देय बन गये हैं। यद्यपि वैधानिक दृष्टि से बाल-श्रम वर्जित है, फिर भी बच्चों की श्रमिकों के रूप में नियुक्ति तथा उनके साथ दुर्व्यवहार में वृद्धि हुई है। साथ ही शिक्षा बढ़ती हुई आवश्यकता को देखते हुए माता-पिता पर निर्भरता में भी वृद्धि है। शहरों में आवास मंहगा है और बच्चों की देखभाल भी समय मांगती है। अतः औद्योगीकरण के कारण कार्य और घर एक दूसरे से पृथक हो गये हैं। कुछ समाजशास्त्रियों ने औद्योगीकरण के कारण एकाकी परिवार के उदय के सिद्धान्त को हाल ही में चुनौती दी है। यह चुनौती अनुभवाश्रित अध्ययनों पर आधारित है।

एम. एस. ऐ. राव, एम. एस. गोरे तथा मिल्टन सिंगर जैसे विद्वानों के अध्ययन यह प्रकट करते हैं कि सुयुक्तता को व्यापारिक समुदायों में अधिक वरीयता दी जाती है और यह प्रचलित भी है और बहुत से एकाकी परिवार नातेदारी के बन्धनों को भी बहुत विस्तृत रूप से सुरक्षित रखते हैं। पश्चिम के औद्योगिक क्षेत्रों के अनेक अध्ययन इस बात पर बल देते हैं कि नातेदारी की एक समर्थनकारी भूमिका होती है और ये परिवार और अवैक्तिक वृहत् विश्व के बीच एक मध्यवर्ती का कार्य करते हैं। सामाजिक इतिहासकारों ने भी बताया है कि औद्योगीकरण से पूर्व भी अमेरिका व यूरोप में एकाकी परिवार साँस्कृतिक मानदण्ड के रूप में प्रचलित था लेकिन यह ध्यान देने योग्य है कि नातेदारों की समर्थनकारी भूमिका का कोई अनिवार्य लक्षण नहीं है जो कि भारतीय एकाकी परिवार में एक पारिवारिक कर्तव्य के रूप में पाया जाता है। एकाकी परिवार के युवा सदस्य स्वेच्छा से अपने प्राथमिक नातेदारों (जैसे माता-पिता व भाइयों) के प्रति अपना उत्तरदायित्व निभाते हैं तथा नजदीकी रिश्तेदारों से निकटता व परिवार में एकता की भावना प्रकट करते हैं, भले ही वे अलग घरों में रहते हों। इन सभी परिवर्तनों ने हमारी परिवार व्यवस्था को बहुत बदला है।

गाँव से शहर की ओर जनसंख्या के प्रवाह के कारण सत्तावादी अधिकार में कमी और धर्मनिरपेक्षता में वृद्धि ने एक ऐसी मूल्य-व्यवस्था का विकास किया है जो कि व्यक्ति में पहल, उपक्रम और उत्तरदायित्व पर बल देती है। अब व्यक्ति प्रतिबंधात्मक पारिवारिक नियंत्रण के बिना ही कार्य करता है। पहले जब व्यक्ति परिवार में काम करता था तथा परिवार के सभी सदस्य उसकी सहायता करते थे, तब परिवार के सदस्यों के बीच अधिक आत्मीयता थी, लेकिन आज जब कि वह परिवार से दूर फैक्ट्री में काम करता है तो आत्मीय सम्बन्धों को बुरी तरह आघात लगा है। पारिवारिक सम्बन्धों के स्वरूप पर औद्योगीकरण के प्रभाव को इस आधार पर भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि परिवार की आत्म-निर्भरता में कमी आई है और परिवार के प्रति दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आया है। औद्योगिकीकरण ने एक नई सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक व्यवस्था को जन्म दिया है जिसमें प्राधिकारवादी परिवारवादी संगठन वाले पूर्व के संयुक्त परिवार को बनाए रखना कठिन हो गया है।

नगरीकरण एक सामाजिक प्रक्रिया को दर्शाता है। जनसांख्यिकी की अर्थ में यह समाज की कुल जनसंख्या में नगरवासियों के अनुपात के बारे में बताता है। समाजशास्त्रीय अर्थ में यह उस जीवनशैली को इंगित करता है जो विशिष्ट रूप से नगरों से सम्बन्ध रखती है। बड़े नगरों की आबादी में जो अंधाधुंध तथा तेज गति से वृद्धि हुयी जिसे अति नगरीकरण का नाम दिया गया। भारतीय समाजशास्त्री: राव एवं बोस (नगरीकरण पर विचार)-एम.एस.ए. राव शहरीकरण तथा शहरवाद का विश्लेषण भारतीय समाज के वृहत्तर सामाजिक संरचनाओं को ध्यान में रखकर करते



हैं। उनके अनुसार शहरवाद एक विषमांगी प्रक्रिया है और इस प्रकार अनेक प्रकार के शहरीकरण को जन्म देते शहरवादों के अनेक रूप हो सकते हैं। राव का कहना है कि शहरों तथा गाँव दोनों में जाति एवं नातेदारी सम्बन्धी समाज ही संरचना के अभिलक्षण होते हैं और दोनों एक ही सभ्यता के हिस्से होते हैं। शहरी वातावरण में परम्परागत एवं आधुनिक संरचना सहअस्तित्व रखते हैं। इसके अतिरिक्त शहरीकरण को सामाजिक-परिवर्तन के सन्दर्भ में देखा जाता है और उससे कोई वास्तविक सामाजिक कायान्तरण नहीं जुड़ा होता है। तथापि शहरीकरण के कारण सामाजिक संगठन एवं सम्मिलन के नये स्वरूप सामने आये हैं। राव के अनुसार शहरीकरण एक जटिल बहुपक्षीय प्रक्रिया है। जिसमें वैचारिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक जनसांख्यिकीय, तुलनात्मक, परम्परागत एवं समाजशास्त्रीय तत्व होते हैं। राव शहर को शहरीकरण एवं शहरी जीवनशैली के एक केन्द्र के रूप में परिभाषित करते हैं। शहरीकरण एक द्विमागी प्रक्रिया है। भारत में शहरीकरण कोई एकरूप प्रक्रिया नहीं है बल्कि विभिन्न प्रकार के शहरवादों को जन्म देती विभिन्न धुरियों पर दिखाई देती है। जैसे-प्रशासनिक, राजनीतिक व्यापारिक, आर्थिक एवं शैक्षिक। ये विभिन्न धुरियाँ विभिन्न प्रकार के सम्पर्कों को जन्म देती है जो कि शहर ग्रामवासियों के साथ रखता है। और शहरीकरण के विशिष्ट प्रस्तावों की ओर प्रवृत्त करता है। आशीष बोस का जनसांख्यिकी वर्गीकरण शहरीकरण को परिभाषित करने में गुणात्मक कारकों के स्थान पर जनांककीय जैसे मात्रात्मक कारकों पर जोर देते हैं। उनके अनुसार शहरीकरण जनांककीय या जनसांख्यिकीय अर्थ में, एक समयावधि में कुल जनसंख्या (T) के अनुपात में शहरी जनसंख्या (U) की वृद्धि है। जितना इनका अनुपात (U/T) बढ़ता है उतना ही शहरीकरण होता है। शहरीकरण एक सतत् प्रक्रिया है जो कि महज औद्योगीकरण की सहवर्ती नहीं होती बल्कि आर्थिक वृद्धि एवं सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में निहित समस्या कारक समूह की सहगामी होती है। बोस के अनुसार शहरीकरण प्रवसन में प्रवृत्तियों द्वारा प्रभावित होता है। वह प्रवसन के पुश बैक तथा टर्न ओवर कारकों की पहचान करते हैं। उन्होंने शहरों की वृद्धि को प्रभावित करते चार परवर्ती माने हैं-

1. कुल शहरी जनसंख्या और नये नगरों का अनुपात
2. कुल जनसंख्या और अवर्गीकृत नगरों का अनुपात
3. कुल जनसंख्या और हासमान नगरों का अनुपात
4. कुल जनसंख्या और तीव्र गति से बढ़ते नगरों का अनुपात।

---

## 4.6 गतिशील आर्थिक नियोजन

---

प्रो. हैरोड के अनुसार, “आर्थिक गतिशीलता एक ऐसी अर्थव्यवस्था का अध्ययन है जिसमें उत्पादन की दरें बदल रही हैं।”

हाल ही में अर्थव्यवस्था में गतिशीलता की अवधारणा को समग्र रूप से लागू किया गया है, प्रो.। क्लार्क ने एक गतिशील अर्थव्यवस्था की निम्नलिखित विशेषताएँ बताई हैं :

1. एक गतिशील अर्थव्यवस्था में, जनसंख्या बढ़ती है;
2. पूँजी की मात्रा बढ़ती है;
3. उत्पादन में सुधार के साधन;

4. औद्योगिक संस्थान परिवर्तन से गुजरते हैं। अक्षम संगठनों को कुशल संगठनों द्वारा प्रतिस्थापित किया जाता है।

विज्ञापन :

**आर्थिक योजना का अर्थ** : आर्थिक नियोजन वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से हम आर्थिक गतिविधि को नियंत्रित और प्रबंधित करने के माध्यम से क्या और कैसे इसका उत्पादन कर सकते हैं, इसके निर्णय ले सकते हैं। यह एक आर्थिक कार्यक्रम है जो क्षेत्रीय आर्थिक प्रणाली के विकास के लिए अनुमानित है।

“आर्थिक योजना अनिवार्य रूप से सामाजिक अंत के संदर्भ में अधिकतम लाभ के लिए संसाधनों को व्यवस्थित और उपयोग करने का एक तरीका है।”

**आर्थिक योजना की विशेषताएँ या विशेषताएँ**

आर्थिक नियोजन की विशेषताओं में विभिन्न बिन्दु शामिल हैं।

(क) **आर्थिक संगठन की एक प्रणाली आर्थिक नियोजन की** इस पहली विशेषताओं में, इसमें उत्पादन, उपभोग, वितरण, विनिमय और वित्त की विभिन्न व्यापक गतिविधियाँ शामिल हैं, जिन्हें विभिन्न आर्थिक और सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए समन्वित तरीके से योजनाबद्ध और परिभाषित किया गया है।

(ख) **लक्ष्य और प्राथमिकताओं का निर्धारण** : इसमें आर्थिक नियोजन की प्रक्रिया में आर्थिक और सामाजिक लक्ष्यों को अच्छी तरह से परिभाषित किया गया है। इन लक्ष्यों के लिए एक निश्चित प्राथमिकता भी निर्धारित की जाती है।

(ग) **केन्द्रीय योजना** केन्द्रीय नियोजन प्राधिकरण द्वारा आर्थिक नियोजन की सभी गतिविधियों का प्रदर्शन किया जाता है। इस प्राधिकरण को योजना आयोग के रूप में जाना जाता है। इस प्राधिकरण द्वारा सभी निर्णय लिए जाते हैं।

(घ) **निश्चित अवधि** आर्थिक नियोजन की प्रक्रिया में एक निश्चित या विशिष्ट अवधि के लिए आर्थिक योजनाओं का निर्धारण शामिल है। उदाहरण के लिए—भारत में 5 वर्षों के लिए एक आर्थिक योजना को समाप्त कर दिया जाता है। एक पंचवर्षीय योजना को पूरा करने के बाद दूसरी योजना शुरू की जाती है।

(ङ.) **सरकारी विनियमन और नियंत्रण** : आर्थिक नियोजन एक सरकारी मामला है। सभी योजनाएँ सरकार (आमतौर पर केंद्र सरकार) द्वारा निर्धारित, विनियमित और नियंत्रित होती हैं। डेटा के सभी प्रमुख स्रोत (अर्थव्यवस्था की योजना से संबंधित) सरकार और उसकी टीम द्वारा प्रबंधित किए जाते हैं।

(च) **आर्थिक और सामाजिक सरकार** : आर्थिक नियोजन का मुख्य उद्देश्य आर्थिक विकास और सामाजिक कल्याण है। संतुलित वृद्धि हासिल करने के लिए हर संभव प्रयास किए जाते हैं।

**आर्थिक नियोजन का महत्व** : आर्थिक नियोजन के महत्व के रूप में भी जाना जाता है आर्थिक योजना के दायरे। इसमें विभिन्न बिन्दु शामिल हैं :

(क) **विश्वसनीय सांख्यिकीय डेटा** : आर्थिक योजना बहुत हद तक सांख्यिकीय पर निर्भर है ताकि लक्ष्यों और प्राथमिकताओं का उचित निर्धारण हो सके।

(ख) **उपयुक्त आर्थिक संगठन** : योजना आयोग की स्थापना भारत में आर्थिक स्थिरता और सामाजिक कल्याण प्राप्त करने के वांछित उद्देश्य के साथ की गई थी। यह संगठन वांछित परिणाम प्राप्त करने के लिए उत्पादन, खपत, वितरण और विनिमय तंत्र को सुव्यवस्थित करेगा।

(ग) **मजबूत और स्थिर सरकार का अस्तित्व** : राष्ट्र की प्रगति केन्द्र सरकार के कंधों पर टिकी हुई है। एक मजबूत और प्रगतिशील सरकार आर्थिक नियोजन के लिए एक बुनियादी ढाँचा प्रदान करेगी।

(घ) **उचित संतुलन का रखरखाव** : कृषि और उद्योग, सार्वजनिक और निजी क्षेत्र, शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों, कपास और भारी उद्योगों के बीच एक उचित संतुलन बनाए रखा जाना चाहिए, जिससे आर्थिक प्रगति होती है।

**लक्ष्य और प्राथमिकताओं का उचित निर्धारण** : आर्थिक नियोजन की प्रगति में प्राथमिकताएँ निर्धारित की जाती हैं। इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए एक निश्चित प्राथमिकता क्रम निर्धारित किया जाता है। फोकस अधिक आर्थिक और सामाजिक लक्ष्यों पर है।

(च) **कुशल और स्पष्ट प्रशासन** : आर्थिक नियोजन की प्रगति में प्राथमिकताएँ निर्धारित की जाती हैं। इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए एक निश्चित प्राथमिकता क्रम निर्धारित किया जाता है। फोकस अधिक आर्थिक और सामाजिक लक्ष्यों पर है।

(छ) **कुशल और स्पष्ट प्रशासन** : आर्थिक नियोजन केवल तभी प्रभावी होगा जब प्रशासन एक ध्वनि हो और भ्रष्टाचार की जड़ों से मुक्त हो। सभी नीतियाँ प्रगतिशील होनी चाहिए और मानव विकास पर बहुत जोर देना चाहिए।

**आर्थिक नियोजन की अनिवार्यता** : आर्थर लुईस के अनुसार, एक विकास योजना में निम्नलिखित भाग शामिल हो सकते हैं :

1. वर्तमान आर्थिक परिस्थितियों का सर्वेक्षण
2. प्रस्तावित सार्वजनिक व्यय की सूची
3. निजी क्षेत्र में संभावित विकास की चर्चा
4. अर्थव्यवस्था के मैक्रो आर्थिक अनुमान
5. सरकारी नीतियों की समीक्षा

1. **वर्तमान आर्थिक परिस्थितियों का सर्वेक्षण** : आर्थिक सर्वेक्षण जनसंख्या, कराधान, सरकारी व्यय और आदि के संबंध में परिवर्तन दिखाता है। यह हमें इन आर्थिक चर में होने वाले परिवर्तनों या अपेक्षित बदलावों के बारे में भी बताता है। आर्थिक सर्वेक्षण आमतौर पर एक वर्ष के लिए होता है।

2. **प्रस्तावित सार्वजनिक व्यय की सूची** : विभिन्न सरकारी विभागों और एजेंसियों से विकास परियोजनाओं पर सार्वजनिक व्यय को लागू करने के प्रस्ताव और सुझाव आमंत्रित किए जाते हैं। इन सिफारिशों की गहन जाँच के बाद, प्राथमिकता का एक क्रम तय किया जाता है कि क्या शामिल किया जाना है, क्या स्थगित किया जाना है या अस्वीकार कर दिया जाना चाहिए क्योंकि वित्तीय संसाधन आवश्यकता से कम हैं।

**3. निजी क्षेत्र में संभावित विकास की चर्चा :** यह कहा जाता है कि सार्वजनिक और निजी दोनों क्षेत्र अंतर-संबंधित हैं और आर्थिक विकास की दर सार्वजनिक क्षेत्र में व्यय की तुलना में निजी क्षेत्र में काम करने पर अधिक निर्भर करती है। सरकार आर्थिक नियोजन में प्रमुख उद्योगों के प्रदर्शन की समीक्षा करती है, और योजना अवधि के लिए मात्रात्मक लक्ष्य निर्धारित करती है। इस सबमें बाजार संरचना के कामकाज और निहितार्थ का संक्षिप्त विश्लेषण शामिल है।

**4. अर्थव्यवस्था के मैक्रो आर्थिक अनुमान :** यह समग्र मॉडल की तैयारी को संदर्भित करता है जो अर्थव्यवस्था के लिए समग्र रूप से लागू होते हैं। ये मॉडल एकल समुच्चय के रूप में उत्पादन और खपत से संबंधित हैं। एनआई में संभावित विकास दर, उपयोग, निवेश और निर्यात के बीच राष्ट्रीय उत्पाद के विभाजन, घरेलू बचप की आवश्यक मात्रा, आयात और विदेशी सहायता को निर्धारित विकास कार्यक्रम को पूरा करने के लिए सकल मॉडल का उपयोग किया जाता है। इसमें बड़े पैमाने पर गणना और कागज कार्य शामिल हैं।

**5. सरकारी नीतियों की समीक्षा :** विकास नीति के माध्यम से सरकार निजी क्षेत्र में अप्रत्यक्ष रूप से निर्णयों को प्रभावित कर सकती है।

**इकोनॉमिक प्लानिंग के महत्व/उद्देश्य मिश्रित अर्थव्यवस्था और अल्प-विकसित देशों को प्रभावित करते हैं**

निम्नलिखित अनुभाग में हम मिश्रित अर्थव्यवस्था और अल्प-विकसित देशों के संदर्भ में आर्थिक नियोजन पर चर्चा करेंगे :

**1. संसाधनों का कुशल उपयोग :** आर्थिक नियोजन का सबसे आवश्यक कार्य देश के भीतर दिए गए संसाधनों का सर्वोच्च उपयोग सुनिश्चित करना है। अधिकतम सामाजिक लाभ केवल तभी सुनिश्चित किए जा सकते हैं जब उपलब्ध संसाधनों का आबंटन और उपयोग सबसे कुशल तरीके से किया जाए। संसाधनों का अप्रयुक्त या सुस्त उपयोग अर्थव्यवस्था के रोजगार और उत्पादकता स्तर को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करेगा। माँग और आपूर्ति के बीच समानता लाने के लिए सरकार को कुछ व्यवस्था करनी होगी। बाजार अर्थव्यवस्था में, विक्रय लागत के रूप में व्यर्थ व्यय होते हैं। कभी-कभी कुछ उत्पादकों ने बाजार को नियंत्रित करने के लिए अपने कार्टेल्स स्थापित किए। यह सब सरकार द्वारा प्रभावी योजना के माध्यम से पूर्ववत् किया जा सकता है।

**2. बाजार की खामियाँ और मूल्य विकृतियाँ :** बाजार अर्थव्यवस्थाओं में, कमोडिटी मार्केट और फैक्टर मार्केट दोनों में कुछ बाजार खामियाँ और मूल्य विकृतियाँ हैं। संस्थागत व्यवस्था के कारण ये विकृतियाँ बढ़ती हैं। जैसा कि अर्थव्यवस्था के कुछ क्षेत्रों में मजदूरी दर श्रम की अवसर लागत से अधिक है। यह ट्रेड यूनियनों के प्रभाव के कारण हो सकता है। इसके अलावा, जिन वस्तुओं की माँग कम लोचदार है, उनके उत्पादकों का एकाधिकार व्यवहार हो सकता है। मुद्रा बाजार में दोहरे दृष्टिकोण हो सकते हैं। संगठित मुद्रा बाजार में ब्याज की दर कृत्रिम रूप से कम रखी जाती है या सस्ती ऋण सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। जबकि दूसरी ओर, कम संगठित मुद्रा बाजार या कृषि बाजार में, ROI असाधारण उच्च है। यह स्थिति मूल्य विकृति भी पैदा करती है। इन बाजार की खामियों को केवल कुशल आर्थिक नियोजन द्वारा ठीक किया जा सकता है।

**3. अधिक से अधिक अवसर :** किसी भी लोकतांत्रिक देश को सबसे अधिक लाभ यह होता है कि अधिक

से अधिक बाजार के अवसर होते हैं और उन्हें उत्पादक और उपभोक्ताओं को प्रदान किया जाना चाहिए। लेकिन यह दो कारणों से विकलांग हो सकता है :

- (क) एक व्यक्ति की सीमित जीवन अवधि
- (ख) किसी व्यक्ति के निपटान में सीमित संसाधन

4. इन सामान्य समस्याओं के कारण, व्यक्ति उन परियोजनाओं का संचालन करते हैं जिनके लिए कम मात्रा में संसाधनों की आवश्यकता होती है और लाभ कम समय के भीतर अर्जित किया जा सकता है। इन तरह, व्यक्तियों को राजमार्गों, बिजली-स्टेशनों, भूमि-पुनर्ग्रहण, जल जमाव और लवणता योजनाओं, रेल-सड़कों, समुद्री बंदरगाहों, दूरसंचार, आदि के निर्माण जैसी बड़ी परियोजनाओं को शुरू करने के लिए तैयार नहीं किया जाएगा। व्यक्तियों के निपटान में अधिक से अधिक संसाधन प्रदान करने के लिए आधुनिक सरकार। साथ ही सरकार को अत्यधिक खपत या कुछ ही हाथों में संसाधनों के निपटान को कम करना होगा। यह केवल कुशल आर्थिक नियोजन के तहत सुनिश्चित किया जा सकता है।

**5. राष्ट्रीय आय और बढ़ते जीवन स्तर का अधिकतमकरण :** यह राष्ट्रीय आय को अधिकतम करने और जीवन स्तर को बढ़ाने के लिए आधुनिक राज्य की जिम्मेदारी है। यह तभी सुनिश्चित किया जा सकता है जब सरकार देश की आर्थिक जरूरतों को सही ढंग से संबोधित करे और आर्थिक नियोजन में वांछित कदम उठाए।

## 4.7 सामाजिक व आर्थिक कल्याण के प्रयास

**आर्थिक विकास और समाज कल्याण के उपाय :** राष्ट्र के आर्थिक विकास और सामाजिक कल्याण को राष्ट्र की समृद्धि को मापने के लिए भी माना जाता है। आर्थिक विकास एक अवधारणा और सामान्य रूप से एक गतिविधि है जो किसी राष्ट्र की मूल दक्षताओं का आंकलन करती है और यह नवाचार है, और उपलब्ध संसाधनों का उपयोग करती है। यह प्रक्रिया लोगों के राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक कल्याण में सुधार करती है। जब हम आर्थिक विकास पर चर्चा करते हैं तो हम अक्सर आधुनिकीकरण, औद्योगिकीकरण इत्यादि जैसे शब्दों पर चर्चा करते हैं। कई बार आप आर्थिक विकास के साथ औद्योगिक विकास को भ्रमित करते हैं।

आर्थिक विकास सामाजिक नीति के साथ-साथ राष्ट्र की आर्थिक स्थितियों में सुधार लाने के उद्देश्य से नीति है।

जबकि आर्थिक विकास जीडीपी के साथ-साथ बाजार की उत्पादकता में वृद्धि का परिणाम है। आर्थिक विकास को मापने के दौरान विभिन्न आवश्यकताओं पर विचार करने की आवश्यकता है। यहाँ, नीचे हम इन कारकों के बारे में विस्तार से बताएँगे।

1. वास्तविक प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि
2. जीवन की गुणवत्त और प्रत्याशा
3. वास्तविक सकल राष्ट्रीय उत्पाद
4. मानव विकास सूची
5. लिंग संबंधी विकास सूचकांक

## 6. गरीबी सूचकांक

राष्ट्र के आर्थिक विकास को मापने वाले कारकों में से एक वास्तविक प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि है।

ऐसी धारणा है कि जब भी किसी व्यक्ति की आय बढ़ती है तो वह वास्तविक आय में वृद्धि करती है।

और जब ऐसा होता है तो व्यक्ति खुश और समृद्ध होता है। लेकिन इसकी कुछ सीमाएँ हैं।

प्रति व्यक्ति आय के माध्यम से ये सीमाएँ निर्धारित नहीं करती हैं कि वृद्धि समान वितरण या असमान वितरण के कारण है।

वही सामान और सेवाओं की गुणवत्ता के साथ मामला है जो प्रदान और उपभोग किया जा रहा है। इसके अलावा, सार्वजनिक वस्तुओं की गुणवत्ता भी आर्थिक कल्याण को प्रभावित करती है।

जब पानी, बिजली और आवास जैसी बुनियादी सुविधाएँ किसी के पास उपलब्ध हैं, तो उस राष्ट्र में जीवन की गुणवत्ता को अच्छा माना जाता है।

यहाँ मापने का कारक लोगों की जरूरत है। ये जरूरतें स्वास्थ्य, स्वच्छता, शिक्षा, पोषण आदि की बुनियादी जरूरतें हैं।

इसके लिए मुख्य कारक शिशु मृत्यु दर है। यह एक वर्ष से कम उम्र के बच्चे की मृत्यु दर है। जबकि जीवन प्रत्याशा उस आबादी का औसत जीवन है जो रहती है।

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, जीएनपी, साथ ही जीडीपी, एक राष्ट्र के आर्थिक विकास के लिए मापने के कारक हैं। इन दोनों में वृद्धि सुनिश्चित करती है कि उस देश में अच्छी और सेवाओं की बड़ी उपलब्धता। यदि यह लोगों की जीवन स्तर का समर्थन करता है तो यह राष्ट्र की आर्थिक स्थितियों को बढ़ाता है।

लेकिन इसकी कुछ सीमाएँ भी हैं। जैसे जीडीपी के आकार में वृद्धि का सीधा मतलब यह नहीं है कि सेवाओं और वस्तुओं की अधिक उपलब्धता।

जब भी जीडीपी की गणना मौजूदा कीमतों के लिए भी जाती है, तो मूल्य वृद्धि के कारण वृद्धि हो सकती है। इसका मतलब यह नहीं है कि वस्तुओं और सेवाओं की उपलब्धता बढ़ गई है।

इसमें कई कारक शामिल हैं जैसे लंबे और स्वस्थ जीवन, लोगों का कल्याण आदि। इस सूचकांक में लोगों के जीवन स्तर, साक्षरता दर और वास्तविक आय के संदर्भ में क्रय शक्ति समता शामिल हैं।

यह लोकप्रिय रूप से GDI के रूप में जाना जाता है। इसका उपयोग मानव विकास के तीन बुनियादी आयामों को मापकर लैंगिक असमानताओं को मापने के लिए किया जाता है। वे शिक्षा, स्वास्थ्य और आर्थिक संसाधन हैं।

वे पुरुषों और महिलाओं के लिए स्कूली शिक्षा के वर्षों की गणना करके शिक्षा को मापते हैं। जबकि स्वास्थ्य जन्म के समय पुरुष और महिला जीवन प्रत्याशा को मापता है।

जबकि आर्थिक संसाधन उन पर कमांड हैं जो पुरुषों के साथ-साथ महिलाओं द्वारा अर्जित आय से माना जाता है। यह सूचकांक उपर्युक्त आयामों में पुरुष और महिला के बीच असमानता को दिखाने के लिए उपयोगी है।

गरीबी सूचकांक जिसे अन्यथा बहुआयामी गरीबी सूचकांक कहा जाता है विभिन्न कारकों की पहचान करने में मदद करता है। ये विभिन्न कारक स्वास्थ्य, जीवन स्तर और शिक्षा हैं।

सर्वेक्षण से मिलने वाले माइक्रोडेटा का उपयोग किया जाता है। यह डेटा शौचालय, पानी, खाना पकाने के ईंधन, परिसंपत्तियों आदि के अभाव के आधार पर एकत्र किया जाता है, इन कारकों की उपलब्धता के आधार पर प्रत्येक व्यक्तियों को गरीब और गैर-गरीब करार दिया जाता है।

इस आधार पर संकेतक तय किए जाते हैं। शिक्षा के लिए, वे दो कारकों पर विचार करते हैं, विद्यालय प्राप्ति और विद्यालय उपस्थिति। स्कूल प्राप्ति यह निर्धारित करना है कि परिवार के किसी सदस्य ने कम से कम 6 साल की स्कूली शिक्षा में भाग नहीं लिया है।

जबकि स्कूल में उपस्थिति तब निर्धारित की जाती है जब बच्चा स्कूल की उम्र का होता है और वह स्कूल नहीं जाता है। इसी तरह, स्वास्थ्य के लिए, कारक बाल मृत्यु और स्वास्थ्य हैं।

**समाज कल्याण मैक्सिमाइजेशन :** हालांकि, पारेटो दक्षता अर्थव्यवस्था को कैसे व्यवस्थित किया जाना चाहिए, इसका एक अनूठा समाधान प्रदान नहीं करता है। धन, आय और उत्पादन के वितरण के एकाधिक पारेटो की कुशल व्यवस्था संभव है। पारेटो दक्षता की ओर अर्थव्यवस्था को आगे बढ़ाने से सामाजिक कल्याण में एक समग्र सुधार हो सकता है, लेकिन यह एक विशिष्ट लक्ष्य प्रदान नहीं करता है जिससे व्यक्तियों और बाजारों में आर्थिक संसाधनों की व्यवस्था वास्तव में सामाजिक कल्याण को अधिकतम करेगी। ऐसा करने के लिए कल्याणकारी अर्थशास्त्रियों ने विभिन्न प्रकार के सामाजिक कल्याण कार्यों को तैयार किया है। इस फंक्शन के मूल्य को अधिकतम करना तब बाजारों और सार्वजनिक नीति के कल्याणकारी आर्थिक विश्लेषण का लक्ष्य बन जाता है।

इस प्रकार के सामाजिक कल्याण विश्लेषण के परिणाम इस बात पर बहुत अधिक निर्भर करते हैं कि अलग-अलग व्यक्तियों की भलाई के लिए मूल्य के बारे में दार्शनिक और नैतिक मान्यताओं के साथ-साथ व्यक्तियों के बीच उपयोगिता को जोड़ा जा सकता है या नहीं। ये निष्पक्षता, न्याय, और अधिकारों के बारे में विचारों को सामाजिक कल्याण के विश्लेषण में शामिल करने की अनुमति देते हैं, लेकिन कल्याणकारी अर्थशास्त्र के अभ्यास को एक अंतर्निहित व्यक्तिपरक और संभवतः विवादास्पद क्षेत्र के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

---

## सारांश

---

**वाले**—किसी व्यक्ति को उपलब्ध लाभ राज्य द्वारा भिन्न होता है। पात्रता व्यक्ति की वित्तीय स्थिति के आसपास के कारकों के आधार पर निर्धारित की जाती है और यह किसी विशेष राज्य के भीतर न्यूनतम स्वीकार्य स्तरों से कैसे संबंधित है। साक्षात्कार मूलतः अनुसंधानकर्ता तथा उत्तरदाता के बीच निर्देशित बातचीत होती है, हालाँकि इसके साथ कुछ तकनीकी पक्ष जुड़े होते हैं। प्रारूप की सरलता भ्रामक हो सकती है क्योंकि एक अच्छा साक्षात्कारकर्ता बनने के लिए व्यापक अनुभव तथा कौशल होना जरूरी होता है। ऐसा करने के लिए कल्याणकारी अर्थशास्त्रियों ने विभिन्न प्रकार के सामाजिक कल्याण कार्यों को तैयार किया है। इस फंक्शन के मूल्य को अधिकतम करना तब बाजारों और सार्वजनिक नीति के कल्याणकारी आर्थिक विश्लेषण का लक्ष्य बन जाता है। इसके लिए मुख्य कारक शिशु मृत्यु दर है। यह एक वर्ष से कम उम्र के बच्चे की मृत्यु दर है। जबकि जीवन प्रत्याशा उस आबादी का औसत जीवन है जो रहती है। जबकि स्कूल में उपस्थिति तब निर्धारित की जाती है जब बच्चा स्कूल की उम्र का होता है और वह स्कूल नहीं जाता है। इसी तरह, स्वास्थ्य के लिए, कारक बाल मृत्यु और स्वास्थ्य हैं।

## अभ्यास प्रश्नोत्तर

### बहुविकल्पीय प्रश्न

1. सामाजिक कल्याण में किसे शामिल किया जाता है?
 

(a) परिवार	(b) समुदाय
(c) समाज के सभी वर्ग	(d) उपरोक्त सभी
2. सामाजिक कल्याण के माध्यम कौन से हैं?
 

(a) स्वास्थ्य देखभाल	(b) बेरोजगारी भत्ता
(c) आवास सहायता	(d) उपरोक्त सभी
3. सामाजिक कल्याण के मामले में भारत किस प्रकार का देश है?
 

(a) संप्रभु राज्य	(b) कल्याणकारी राज्य
(c) गणराज्य	(d) लोकशाही
4. सामाजिक प्रणाली को समझने में सर्वाधिक मददगार कौन है?
 

(a) इतिहास	(b) भूगोल
(c) मनोविज्ञान	(d) जलवायु विज्ञान
5. भारतीय समाजशास्त्र के अध्ययन का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा कौन-सा है।
 

(a) गाँव का अध्ययन	(b) नगरों का अध्ययन
(c) उद्योगों का अध्ययन	(d) समुदाय का अध्ययन
6. सहभागी को प्रेक्षक क्षेत्र में क्या करना चाहिए?
 

(a) पूरा समय वहीं व्यतीत करना चाहिए।	(b) कभी-कभी जाना चाहिए
(c) दूसरे की मदद लेनी चाहिए	(d) अपनी इच्छानुसार कार्य करना चाहिए।
7. मानवविज्ञानी समाज शास्त्रियों के क्या कार्य हैं?
 

(a) प्रश्न पूछना	(b) उत्तर देना
(c) लोगों के लिए बोलना	(d) उपरोक्त सभी
8. समाज में सर्वाधिक परिवर्तन किसने किया है?
 

(a) नगरीकरण	(b) औद्योगिकीकरण
(c) तकनीकी ज्ञान	(d) उपरोक्त सभी
9. प्रवास का प्रमुख प्रवाह कौन-सा होता है?
 

(a) गाँव से नगर	(b) गाँव से गाँव
(c) नगर से नगर	(d) नगर से गाँव
10. निम्नलिखित में से कौन-सी सामाजिक प्रणाली है?
 

(a) औद्योगिकीकरण	(b) नगरीकरण
(c) सामुदायिकीकरण	(d) सीमिति बनाना



11. आर्थिक नियोजन की आवश्यकता क्यों होती है?
- |                               |   |
|-------------------------------|---|
| (a) सरकारी नीतियों की समीक्षा | (b) निजी क्षेत्रों में संभावित विकास की चर्चा |
| (c) सार्वजनिक व्यय की सूची    | (d) उपरोक्त सभी                               |
12. सामाजिक आर्थिक कल्याण के मापक क्या है?
- |                                  |                        |
|----------------------------------|------------------------|
| (a) गरीबी सूचकांक                | (b) मानव विकास सूचकांक |
| (c) जीवन की गुणवत्ता व प्रत्याशा | (d) उपरोक्त सभी        |

### लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सामाजिक कल्याण की अवधारणा को समझाते हुए बताइए कि क्या यह अपने समुदाय के रहने वालों के लिए ही कारगर होते हैं?
2. समाज कल्याण की प्रणालियों के लाभों का वर्णन कीजिए।
3. वस्तुनिष्ठ रणनीति से क्या अभिप्राय है? यह किस प्रकार अधिक कारगर सिद्ध हो सकती है?
4. कल्याणकारी नियोजन की आवश्यकता क्यों पड़ती है?

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. समाजशास्त्र में क्षेत्रीय कार्य का महत्व समझाइए।
2. नगरीकरण व औद्योगिकीकरण किस प्रकार समस्याएँ बनती जा रही हैं?
3. गतिशील आर्थिक नियोजन से आप क्या समझते हैं?
4. सामाजिक व आर्थिक कल्याण को किस आधार पर मापा जा सकता है?

---

### संदर्भ पुस्तकें

1. समाजशास्त्र कक्षा-11 एनसीईआरटी
2. समाजशास्त्र कक्षा-12 एनसीईआरटी
3. जनसंख्या भूगोल, आर.सी. चांदना
4. समाज की समझ, योगेश अटल
5. समाजशास्त्र-अवधारणा एवं सिद्धांत, जे.पी. सिंह

# अध्याय-5

## आधुनिक समाज

5.1 परिचय

5.2 समाज की इकाई

5.3 प्रतिष्ठित समाज

---

### 5.1 परिचय

---

आमतौर पर हम अपने परिवार से गहरा लगाव महसूस करते हैं। कभी-कभी हम अपने माता-पिता, दादा-दादी, नाना-नानी, सहोदर भाई-बहनों, चाचा-चाचियों, मामा-मामियों तथा चचेरे-ममेरे भाइयों-बहनों के बारे में बहुत लगाव महसूस करते हैं, जबकि दूसरों के बारे में हम ऐसा महसूस नहीं करते। उच्चतम स्तर के धन और सामाजिक स्थिति वाले लोगों का व्यवहार और जीवन शैली है। इसमें उनके संबंधित जुड़ाव, सामाजिक कार्यक्रम और प्रथाएं शामिल हैं। अधिकतर सामाजिक क्लब पुरुषों के लिए खुले थे, सामाजिक समूह उच्च समाज के सदस्यों को स्थापित करने में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। उच्च समाज के सदस्यों को आमतौर पर पूरे साल सामाजिक समारोहों में भाग लेना चाहिए, जो आधुनिक सामाजिक जीवन में सार्वजनिक जीवन पर हावी होते हैं पारंपरिक उच्च वर्गों द्वारा आयोजित उत्तरार्द्ध दृष्टिकोण के अनुसार, व्यक्तिगत धन या प्रसिद्धि की कोई भी राशि एक व्यक्ति को एक उच्च वर्ग के सदस्य के रूप में एक अविभाजित पृष्ठभूमि से नहीं बनाएगी क्योंकि किसी व्यक्ति को उस वर्ग के परिवार में पैदा होना चाहिए और एक विशेष रूप से उठाना जाना चाहिए। उच्च वर्ग के मूल्यों परंपराओं और सांस्कृतिक मानदंडों को समझने और साझा करने के तरीके आने चाहिए। इस शब्द का प्रयोग उच्च मध्यम वर्ग, मध्य वर्ग और श्रमिक वर्ग जैसे शब्दों के साथ किया जाता है सामाजिक स्तरीकरण के एक मॉडल के हिस्से के रूप में ऐतिहासिक रूप से कुछ संस्कृतियों में, एक उच्च वर्ग के सदस्यों को अक्सर जीवित रहने के लिए काम नहीं करना पड़ता था

---

### 5.2 समाज की इकाई

---

हम में से हर कोई एक परिवार में उत्पन्न हुआ है और हममें से अधिकांश लोग परिवार में अनेक वर्ष बिताते हैं। आमतौर पर हम अपने परिवार से गहरा लगाव महसूस करते हैं। कभी-कभी हम अपने माता-पिता, दादा-दादी, नाना-नानी, सहोदर भाई-बहनों, चाचा-चाचियों, मामा-मामियों तथा चचेरे-ममेरे भाइयों-बहनों के बारे में बहुत लगाव महसूस करते हैं, जबकि दूसरों के बारे में हम ऐसा महसूस नहीं करते। एक ओर तो हम उनके हस्तक्षेप के

लिए अप्रसन्नता या रोष प्रकट करते हैं, फिर भी जब हम उनसे दूर रहते हैं तो उनके रोबदार पूर्ण तरीकों के लिए तरसते हैं और उन्हें याद करते हैं। परिवार गहरे स्नेह एवं देखभाल का स्थान है।

दूसरी ओर, यह कटु संघर्षों, अन्याय और हिंसा का स्थान भी हो सकता है। परिवार और नातेदारी में मादा शिशु की हत्या, संपत्ति के लिए भाइयों के बीच हिंसापूर्ण लड़ाई-झगड़े और घिनौने कानूनी विवाद भी इसका वैसे ही एक हिस्सा होते हैं जैसे प्यार, त्याग एवं बलिदान, पारस्परिक सुरक्षा एवं देखभाल की कहानियाँ हैं।

परिवार की संरचना का अध्ययन इसके एक सामाजिक संस्था के रूप में और समाज की अन्य सामाजिक संस्थाओं के साथ उसके संबंधों के बारे में, दोनों ही रूप में किया जा सकता है। स्वयं परिवार को मूल परिवार अथवा विस्तृत परिवार के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। इसका मुखिया (कर्ता) एक पुरुष या स्त्री भी हो सकती है। वंशानुक्रम की दृष्टि से परिवार मातृवंशीय अथवा पितृवंशीय हो सकता है।

परिवार की यह आंतरिक संरचना आमतौर पर, समाज की अन्य संरचनाओं जैसे राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि संरचनाओं से जुड़ी होती है। इस प्रकार, हिमालयी क्षेत्र के गाँवों से पुरुषों के प्रवसन से उस गाँव में ऐसे परिवारों का अनुपात असामान्य रूप से बढ़ सकता है जिनकी मुखिया स्त्रियाँ हैं। या भारत के सॉफ्टवेयर उद्योग में कार्य कर रहे युवा माता-पिता का कार्य-समय ऐसा हो कि वे अपने बच्चों की देखभाल ठीक से न कर सकें तो वहाँ दादा-दादियों तथा नाना-नानियों की संख्या बढ़ जाएगी क्योंकि उन्हें ही वहाँ आकर बच्चों की देखभाल करनी होगी। इस प्रकार, परिवार की संरचना अथवा उसके गठन में परिवर्तन हो जाता है। और इन परिवर्तनों को समाज में होने वाले अन्य परिवर्तनों के संदर्भ में समझा जा सकता है। परिवार (निजी क्षेत्र) आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक (सार्वजनिक) क्षेत्रों से जुड़ा होता है। परिवार हमारे जीवन का एक अभिन्न अंग है। हमारे लिए इसका अस्तित्व स्वतः स्वीकृत है। हम यह भी मानकर चलते हैं कि अन्य लोगों के परिवार भी हमारे परिवार की तरह ही होंगे।

तथापि हमने देखा है कि परिवारों की संरचनाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं और यह बदलती भी रहती हैं। यह परिवर्तन कभी-कभी तो आकस्मिक तौर पर होते रहते हैं जब कोई लड़ाई छिड़ जाती है अथवा लोग काम की तलाश में अन्यत्र जा बसते हैं। कभी-कभी यह परिवर्तन किसी विशेष प्रयोजन के लिए किए जाते हैं, जैसे कि जब युवा लोग बुजुर्गों द्वारा उनके लिए जीवन-साथी का चुनाव करने के बजाय स्वयं ही अपने जीवन-साथी का चुनाव कर लेते हैं। अथवा जब समाज में समलैंगिक प्यार का खुले तौर पर इजहार किया जाता है।

उपर्युक्त प्रकार के परिवर्तनों से यह स्पष्ट है कि परिवार की संरचनाओं में ही बदलाव नहीं आता बल्कि सांस्कृतिक विचार, मानकों और मूल्यों में भी परिवर्तन होते हैं। किंतु, इस प्रकार के परिवर्तन लाना आसान नहीं होता। इतिहास और आधुनिक काल की घटनाओं से पता चलता है कि अक्सर पारिवारिक और वैवाहिक प्रतिमानों में किए जाने वाले परिवर्तनों का घोर हिंसात्मक विरोध किया जाता है। इस संबंध में परिवार के भी कई आयाम होते हैं। किंतु भारत में, परिवार विषयक चर्चाएँ अक्सर मूल और विस्तृत परिवार के इर्द-गिर्द घूमती रहती हैं।

---

## 5.3 प्रतिष्ठित समाज

---

उच्च समाज जिसे कुछ संदर्भों में प्रतिष्ठित समाज भी कहा जाता है, उच्चतम स्तर के धन और सामाजिक स्थिति

वाले लोगों का व्यवहार और जीवन शैली है। इसमें उनके संबंधित जुड़ाव, सामाजिक कार्यक्रम और प्रथाएं शामिल हैं। अधिकतर सामाजिक क्लब पुरुषों के लिए खुले थे, जो उच्च समाज के भीतर उनकी रैंकिंग और भूमिका के आकलन के आधार पर थे। अमेरिकी उच्च समाज में सामाजिक रजिस्टर पारंपरिक रूप से योग्य सदस्यों की पहचान के लिए एक महत्वपूर्ण संसाधन था। वैश्विक दृष्टिकोण से उच्च वर्ग देखें। आवास, कपड़े नौकर और भोजन की गुणवत्ता सदस्यता के दृश्यमान निशान थे।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में यह शब्द आम हो गया, खासकर जब न्यूयॉर्क शहर, बोस्टन और न्यूपोर्ट, रोड आइलैंड जैसे प्रमुख शहरों में नए अमीर आए, महान हवेली का निर्माण किया और उच्च प्रचारित पार्टियों को प्रायोजित किया। मीडिया ने उन पर ध्यान आकर्षित किया, खासकर जब अखबारों ने शादियों, अंत्येष्टि, पार्टियों और स्थानीय उच्च समाज द्वारा प्रायोजित अन्य कार्यक्रमों के लिए पूरे वर्गों को समर्पित किया। प्रमुख शहरों में, एक सामाजिक रजिस्टर प्रकाशित किया गया था जो ठीक से संबंधित लोगों के नाम और पते सूचीबद्ध करता था। अनौपचारिक पहचानकर्ता दिखाई दिए, जैसे कि 19वीं शताब्दी के मध्य न्यूयॉर्क शहर में ऊपरी दसियों या 400 वार्ड एजिस्टर श्रीमती विलियम बैकहाउस एस्टोर की संख्या के लिए 19वीं सदी के उत्तरार्ध का कार्यकाल जूनियर का बॉलरूम माना जा सकता है। हालांकि वास्तविक संख्या 273 थी।

डेब्यूटेंट्स उच्च समाज की युवा महिला सदस्य हैं जिन्हें पहली बार आधिकारित तौर पर पहली बार बॉलिवुड की गलियों या कॉटिलियन में प्रस्तुत किया जा रहा है। एक उच्च सोसाइटी की पहली बॉल का उदाहरण न्यूयॉर्क शहर के वाल्डॉर्फ एस्टोरिया होटल में प्रतिष्ठित इंटरनेशनल डेब्यूटेंट बॉल है।

19वीं शताब्दी के मध्य में सोने और चांदी के खनन ने सेंट्रल सिटी, कोलोराडो और लीडविले, कोलोराडो जैसे कुछ छोटे शहरों में रातों-रात अकूत संपत्ति अर्जित की। नए अमीर आमतौर पर खनन शहर में एक भव्य ओपेरा हाउस का निर्माण करते हैं, लेकिन फिर एक बड़े शहर में चले गए, विशेष रूप से डेनवर यार सैन फ्रांसिस्को जहां उनकी संपत्ति अधिक उपयुक्त रूप से प्रदर्शित और आनंद ले सकती है। जब पुरुषों ने व्यावसायिक मामलों में भाग लिया, तो महिलाओं ने आमतौर पर उच्च समाज में कॉमिंग और गोइंग्स एंड डूइंग का कार्यभार संभाला।

1869 में खुलने वाले स्टुयवेसेंट लैंग्वरी अपार्टमेंट हाउस और 1884 में द डकोटा से शुरू होकर, संपन्न न्यूयॉर्क वासियों ने अपार्टमेंट में रहने के फायदे खेजे, जहां एक पूर्णकालिक कर्मचारी ने रखरखाव और रखरखाव के साथ-साथ सुरक्षा को भी संभाला।

अधिकांश फ्रांसीसी शहरों में बहुत समृद्ध, अक्सर एक पुराने अभिजात वर्ग का खिताब रखते हुए, 20वीं शताब्दी में एक विस्तृत उच्च समाज को बनाए रखा। दस से बीस नौकरों ने विशिष्ट उपभोग के लिए स्वाद का प्रदर्शन किया। पेरिस के सबसे अमीर घरों में आमतौर पर 30 नौकर काम करते थे। 1945 के बाद नौकरों की आपूर्ति सूख गई और कुलीन इलाकों में छोटे शहर के अपार्टमेंट के लिए एक कदम था।

इस समय में कला लगभग विशेष रूप से धन के कब्जे से जुड़ी हुई थी। उच्च समाज की कला ने दुनिया भर की संस्कृतियों को अवशोषित करने और अतीत से महान वास्तुकला को संदर्भित करने और यूरोप से आए कलाकारों को कमीशन पर काम करने पर बहुत ध्यान केंद्रित किया। संस्कृति को अन्य संस्कृतियों से ज्ञान और कलाकृतियों को अधिकारी होना था या कम से कम इसे बहुत अच्छी तरह से दोहराया गया था।

दुर्लभ और मूल्यवान वस्तुओं को प्राप्त करना उच्च समाज का एक और तरीका था जो इसकी प्रतिष्ठा का प्रतिनिधित्व करता था। कला स्वाद स्तर का प्रतिनिधित्व करने का भी एक तरीका था और किसी ने सही कलाकार को कमीशन पर काम करने की क्षमता या अपने घरों में स्थापित करने के लिए सबसे अच्छा टुकड़ा चुना।

चित्रांकन—पोर्ट्रेट चित्रकारों की लंदन में उच्च मांग थी। इस बीच, अमेरिकी कलाकारों की छोटी वाहिनी ने अपना ध्यान अमेरिका के महान परिदृश्यों को चित्रित करने से लेकर महान अमेरिकियों के चित्र बनाने में लगाया। हालांकि कला इतिहासकारों ने 20वीं सदी के अंत तक जॉन सिंगर सार्जेंट जैसे समाज के कलाकारों की उपेक्षा की।

उच्च समाज में लोगों को रिकॉर्ड करने और उनकी उपलब्धि और मूल्यवान संपत्ति के प्रमाण के लिए चित्रांकन सबसे आम कला बन गया। न्यूयॉर्क सिटी ने उच्च समाज पर केंद्रित अपनी ग्रेट पोर्ट्रेट प्रदर्शनी शुरू की। यह प्रदर्शनी लोगों के लिए एक जगह बन गई, जिसने न्यूयॉर्क शहर के उच्च समाज में हूज हू को देखा और पोर्ट्रेट्स की गुणवत्ता के बजाय पोर्ट्रेट में लोगों के नामों पर अधिक ध्यान केंद्रित किया। और कला को एक सर्कल में बदल दिव्या, जिससे संरक्षक, कलाकार और आलोचकों के बीच एक तंग बुनना बनाया।

**आर्किटेक्चर**—स्टैनफोर्ड व्हाइट हाई सोसाइटी के लिए सबसे प्रभावशाली वास्तुकार था। हाई सोसाइटी भी पतन और विस्तार में चमकती हुई हवेली की इमारत के माध्यम से अमर हो गई जो पुनर्जागरण और विक्टोरियन गोथिक की याद दिलाती थी। ये विशाल घर न्यूयॉर्क जैसे घने शहरों में दिखाई दे रहे थे, उन्होंने मुख्य रास्ते का विस्तार किया जो धन या मध्यम वर्ग के थे और उन गरीब क्षेत्रों से दूर थे जो गंदे और गरीब श्रमिक वर्ग के साथ रहते थे। रिचर्ड मॉरिस हंट ने हाई सोसाइटी के कई सदस्यों को जो वे चाह रहे थे, उन्हें देने में एक बड़ी भूमिका निभाई। वे घर जो उनके महानगरीय दृष्टिकोण और उसके चारों ओर की रूपरेखा का प्रतिनिधित्व करते थे।

**नागरिक शास्त्र**—उच्च समाज के सदस्य उन लोगों और सामाजिक क्षेत्रों पर बहुत निर्भर करते हैं जो वे घिरे हुए हैं। कई मामलों में एक कुलीन सदस्य नौकर होने से स्थिति की पुष्टि कर सकते हैं, जो लोग रोजमर्रा की जिंदगी से एक कार्य को निकालते हैं, या कलाकार और कलाकार जिनकी प्रतिभा और कौशल उनके दैनिक कार्य में है।

सामाजिक समूह उच्च समाज के सदस्यों को स्थापित करने में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। उच्च समाज के सदस्यों को आमतौर पर पूरे साल सामाजिक समारोहों में भाग लेना चाहिए, साथ ही अपने घरों में सामाजिक समारोहों में भी सम्मिलित होना चाहिए। कुछ घटनाओं में शामिल होने या आमंत्रित करने के लिए सामाजिक पूंजी का उपयोग सामाजिक पूंजी का उपयोग है। उच्च समाज के सदस्यों को सामाजिक सीढ़ी को आगे बढ़ाने के लिए उन कनेक्शनों के बारे में पता होना चाहिए, जिन्हें बनाया जाना चाहिए।

21वीं शताब्दी में उच्च समाज कम दिखाई देता है। गोपनीयता बहुत अधिक मूल्यवान है, और बहुत महंगा आवास साधारण पैदल यात्रियों के लिए प्रसिद्ध पुरानी हवेली के समान नहीं हैं बहुत कम नौकर हैं, लेकिन सुरक्षा पर अधिक ध्यान देते हैं। वेल और एस्पेन जैसी जगहों पर रिमोट स्की रिसॉर्ट विशेष रूप से उच्च समाज के साथ लोकप्रिय हैं। आवास की गुणवत्ता महत्वपूर्ण है।

परोपकार उच्च समाज में एक उच्च प्रतिष्ठा की गतिविधि है। समाजशास्त्री फ्रेंकी ओस्ट्रोएर कहते हैं। धनी लोग परोपकार करते हैं और इसे जीवन के पूरे तरीके से अनुकूलित करते हैं जो उनके वर्ग के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के लिए एक वाहन के रूप में कार्य करता है। यह दानतादाताओं के बीच शैक्षिक और सांस्कृतिक कारणों की व्यापक लोकप्रियता में परिलक्षित होता है।

उच्च वर्ग आधुनिक समाज में है इसमें सामाजिक वर्ग के लोग हैं, जो सबसे अधिक सामाजिक स्थिति पर पकड़ मजबूत कर रहे हैं, तथा सबसे धनी वर्ग के सदस्यों वर्ग समाज, और सबसे बड़ी राजनीतिक शक्ति उनके पास है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, उच्च वर्ग आमतौर पर अपार धन वाला होता है जो पीढ़ी दर पीढ़ी चलता है। 20वीं शताब्दी से पहले, अभिजात वर्ग पर जोर दिया गया था, जिसने विरासत में मिले महान दर्जे की पीढ़ियों पर जोर दिया, न कि केवल हाल की संपत्ति पर। क्योंकि समाज के उच्च वर्ग अब उस समाज पर शासन नहीं कर सकते हैं जिसमें वे रह रहे हैं, उन्हें अक्सर पुराने उच्च वर्गों के रूप में संदर्भित किया जाता है और वे अक्सर नए समृद्ध मध्यम वर्गों से सांस्कृतिक रूप से अलग होते हैं जो आधुनिक सामाजिक जीवन में सार्वजनिक जीवन पर हावी होते हैं पारंपरिक उच्च वर्गों द्वारा आयोजित उत्तरार्द्ध दृष्टिकोण के अनुसार, व्यक्तिगत धन या प्रसिद्धि की कोई भी राशि एक व्यक्ति को एक उच्च वर्ग के सदस्य के रूप में एक अविभाजित पृष्ठभूमि से नहीं बनाएगी क्योंकि किसी व्यक्ति को उस वर्ग के परिवार में पैदा होना चाहिए और एक विशेष रूप से उठाना जाना चाहिए। उच्च वर्ग के मूल्यों परंपराओं और सांस्कृतिक मानदंडों को समझने और साझा करने के तरीके आने चाहिए। इस शब्द का प्रयोग उच्च मध्यम वर्ग, मध्य वर्ग और श्रमिक वर्ग जैसे शब्दों के साथ किया जाता है सामाजिक स्तरीकरण के एक मॉडल के हिस्से के रूप में ऐतिहासिक रूप से कुछ संस्कृतियों में, एक उच्च वर्ग के सदस्यों को अक्सर जीवित रहने के लिए काम नहीं करना पड़ता था क्योंकि वे अर्जित या विरासत में मिले निवेश द्वारा समर्थित थे, हालांकि उच्च वर्ग के सदस्यों के पास व्यापारियों की तुलना में कम वास्तविक धन हो सकता है। उच्च वर्ग की स्थिति सामान्यतः किसी के परिवार की सामाजिक स्थिति से प्राप्त होती है, न कि किसी की अपनी उपलब्धियों या धन से। उच्च वर्ग की रचना करने वाली अधिकांश जनसंख्या में कुलीन शासक परिवार शीर्षक वाले लोग और धार्मिक पदानुक्रम शामिल थे। ये लोग आमतौर पर अपनी हैसियत में पैदा हुए थे और ऐतिहासिक रूप से वर्ग की सीमाओं में बहुत अधिक आंदोलन नहीं था।

---

## सारांश

---

स्वयं परिवार को मूल परिवार अथवा विस्तृत परिवार के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। इसका मुखिया (कर्ता) एक पुरुष या स्त्री भी हो सकती है। वंशानुक्रम की दृष्टि से परिवार मातृवंशीय अथवा पितृवंशीय हो सकता है। नए अमीर आमतौर पर खनन शहर में एक भव्य ओपेरा हाउस का निर्माण करते हैं, लेकिन फिर एक बड़े शहर में चले गए, उच्च समाज की कला ने दुनिया भर की संस्कृतियों को अवशोषित करने और अतीत से महान वास्तुकला को संदर्भित करने और यूरोप से आए कलाकारों को कमीशन पर काम करने पर बहुत ध्यान केंद्रित किया। कला स्वाद स्तर का प्रतिनिधित्व करने का भी एक तरीका था और किसी ने सही कलाकार को कमीशन पर काम करने की क्षमता या अपने घरों में स्थापित करने के लिए सबसे अच्छा टुकड़ा चुना। उच्च समाज के सदस्यों को सामाजिक सीढ़ी को आगे बढ़ाने के लिए उन कनेक्शनों के बारे में पता होना चाहिए, जिन्हें बनाया जाना चाहिए। क्योंकि समाज के उच्च वर्ग अब उस समाज पर शासन नहीं कर सकते हैं जिसमें वे रह रहे हैं, उन्हें अक्सर पुराने उच्च वर्गों के रूप में संदर्भित किया जाता है और वे अक्सर नए समृद्ध मध्यम वर्गों से सांस्कृतिक रूप से अलग होते हैं जो आधुनिक सामाजिक जीवन में सार्वजनिक जीवन पर हावी होते हैं पारंपरिक उच्च वर्गों द्वारा आयोजित उत्तरार्द्ध दृष्टिकोण के अनुसार, व्यक्तिगत धन या प्रसिद्धि की कोई भी राशि एक व्यक्ति को एक

उच्च वर्ग के सदस्य के रूप में एक अविभाजित पृष्ठभूमि से नहीं बनाएगी क्योंकि किसी व्यक्ति को उस वर्ग के परिवार में पैदा होना चाहिए

## अभ्यास प्रश्नोत्तर

### बहुविकल्पीय प्रश्न

- समाज की सबसे छोटी इकाई कौन-सी होती है?
  - परिवार
  - मोहल्ला
  - समुदाय
  - गाँव
- परिवार का मुखिया कौन हो सकता है?
  - पुरुष
  - स्त्री
  - घर का बड़ा व्यक्ति
  - उपरोक्त सभी
- भारत के किस क्षेत्र में अधिकतर परिवारों में मुखिया महिलाएँ होती हैं?
  - मैदानी भागों में
  - पहाड़ी भागों में
  - समुद्र तटीय क्षेत्रों में
  - मरूस्थलीय क्षेत्रों में
- भारत के नगरों में किस प्रकार के परिवार मिलते हैं?
  - एकल परिवार
  - संयुक्त परिवार
  - बड़े परिवार
  - बड़े खानदान
- परिवारों की संरचनाएँ क्यों बिगड़ जाती हैं?
  - युद्ध के कारण
  - प्राकृतिक आपदा के कारण
  - प्रवास के कारण
  - उपरोक्त सभी
- प्रतिष्ठित समाज का उदय कहाँ हुआ था?
  - भारतीय समाज में
  - यूरोपीय समाज में
  - अफ्रीकी समाज में
  - नगरीय समाज में
- प्रतिष्ठित समाज की क्या विशेषता होती थी?
  - अधिक से अधिक नौकर रखना
  - दुर्लभ व मूल्यवान वस्तुएँ प्राप्त करना
  - चित्रकारी पर पैसा लगाना
  - उपरोक्त सभी

### लघु उत्तरीय प्रश्न

- परिवार का एक सामाजिक ईकाई के रूप में वर्णन करते हुए महत्व बताइए।
- परिवार की संरचना से क्या अभिप्राय है? यह किस प्रकार खंडित होती है?
- प्रतिष्ठित समाज से क्या अभिप्राय है? इसका विकास किस कारणों से हुआ था?

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

- प्रतिष्ठित समाज की विशेषताएँ बताइए।
- सामाजिक समूह किस प्रकार उच्च समाज का निर्माण करते हैं?

## संदर्भ पुस्तकें

---

1. समाजशास्त्र कक्षा-11 एनसीईआरटी
2. समाजशास्त्र कक्षा-12 एनसीईआरटी
3. जनसंख्या भूगोल, आर.सी. चांदना
4. समाज की समझ, योगेश अटल
5. समाजशास्त्र-अवधारणा एवं सिद्धांत, जे.पी. सिंह



# भारतीय समाज व आधुनिकीकरण

6.1 परिचय

6.2 वैश्वीकरण का भारतीय समाज पर प्रभाव

6.3 हिंसा का उद्भव

---

## 6.1 परिचय

---

भूमंडलीकरण की एक केंद्रीय विशेषता दुनिया के चारों कोनों में बाजारों का विस्तार और एकीकरण का बढ़ना है। इस एकीकरण का अर्थ है कि दुनिया के किसी एक कोने में किसी बाजार में परिवर्तन होता है तो दूसरे कोनों में उसका अनुकूल-प्रतिकूल असर हो सकता है। जैसे, अगर अमेरिकी बाजार में गिरावट आती है तो भारतीय सॉफ्टवेयर के उद्योग में भी गिरावट आएगी। हिंसा जो धन-अभिमुख होती है; हिंसा जो कमजोर पर सत्ता प्राप्त करना चाहती है; हिंसा जिसका उद्देश्य भोग-विलास है; हिंसा जो अपराधकर्ता की विकृति के कारण होती है; हिंसा जो तनावपूर्ण पारिवारिक परिस्थितियों के कारण होती है; फिर भी, मुस्लिम लीग और हिन्दू महासभा, संगठन के रूप में 1936 तक काफी कमजोर रहे।

---

## 6.2 वैश्वीकरण का भारतीय समाज पर प्रभाव

---

1990 के दशक में भारत ने अपने आर्थिक इतिहास के नए दौर में प्रवेश किया, ये मुख्यतः राज्य स्तरीय विकास से उदारवाद जैसी आर्थिक नीति के परिवर्तन की वजह से हुआ। इस बदलाव से भूमंडलीकरण के युग की शुरुआत हुई। वह दौर जिसमें दुनिया पहले से ज्यादा अंतर्संबंधित है सिर्फ आर्थिक तौर पर ही नहीं बल्कि सांस्कृतिक और राजनीतिक तौर पर भी परिवर्तन हुए। भूमंडलीकरण के कई रुझान होते हैं, उनमें से खास हैं, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर वस्तुओं, पूँजी, समाचार और लोगों का संचलन एवं साथ ही प्रौद्योगिकी (कंप्यूटर, दूरसंचार और परिवहन के क्षेत्र में) और अन्य आधारभूत सुविधाओं का विकास, जो इस संचलन को गति प्रदान करते हैं। भूमंडलीकरण की एक केंद्रीय विशेषता दुनिया के चारों कोनों में बाजारों का विस्तार और एकीकरण का बढ़ना है। इस एकीकरण का अर्थ है कि दुनिया के किसी एक कोने में किसी बाजार में परिवर्तन होता है तो दूसरे कोनों में उसका अनुकूल-प्रतिकूल असर हो सकता है। जैसे, अगर अमेरिकी बाजार में गिरावट आती है तो भारतीय सॉफ्टवेयर के उद्योग में भी गिरावट आएगी (जैसाकि न्यूयार्क में वर्ल्ड ट्रेड सेंटर पर 9/11 के हमले के बाद हमें देखने को मिला था) जिससे इस क्षेत्र में लोगों का व्यवसाय एवं नौकरियाँ जाती रहेंगी। सॉफ्टवेयर सेवा उद्योग और व्यापार में बाह्यस्रोतों के प्रयोग का

उद्योग (जैसे, कॉलसेंटर) उन प्रमुख उद्योगों में से हैं जिसके द्वारा भारत वैश्विक अर्थव्यवस्था से लगातार जुड़ता जा रहा है। यहाँ की कंपनियाँ पश्चिम के विकसित देशों के उपभोक्ताओं को सस्ते दाम पर श्रम और सेवाएँ मुहैया कराती हैं। हम कह सकते हैं कि अब भारतीय सॉफ्टवेयर संबंधी सेवाएँ और उसी प्रकार की अन्य और सेवाओं का विश्वभर में एक बाज़ार बन गया है। भूमंडलीकरण के अंतर्गत सिर्फ़ पूँजी और वस्तुओं का ही नहीं बल्कि लोगों, सांस्कृतिक उत्पादों और छवियों का भी दुनिया भर में परिचालन होता है। यह विनिमय के नए दायरों से प्रवेश करती है और नए बाजारों का निर्माण करती है। उत्पाद, सेवाएँ और सांस्कृतिक तत्व जो पहले बाज़ार व्यवस्था से बाहर थे। अब उसके हिस्से हैं। एक उदाहरण है भारतीय अध्यात्म और ज्ञान व्यवस्थाओं (जैसे, योग और आयुर्वेद) का पश्चिम में बाज़ारीकरण। अंतर्राष्ट्रीय पर्यटन का बढ़ता बाज़ार भी यह दर्शाता है कि खुद संस्कृति कैसे बाज़ार का एक हिस्सा बन जाती है। इसका एक उदाहरण है पुष्कर, राजस्थान में लगने वाला प्रसिद्ध वार्षिक मेला जिसमें दूर-दराज से, व्यापारी और पशुचारी ऊँटों और अन्य पशुओं को बेचने एवं खरीदने आते हैं। जहाँ स्थानीय लोगों के लिए पुष्कर मेला एक भव्य सामाजिक और आर्थिक उपलक्ष्य होता है वहीं अब ये अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी एक बड़े पर्यटन स्थल के नाम से जाना जाता है। यह मेला पर्यटकों के लिए और भी अधिक आकर्षण का कारण है क्योंकि यह कार्तिक पूर्णिमा के ठीक पहले आता है, जब हिंदू तीर्थयात्री पवित्र पुष्कर तालाब में नहाने आते हैं। इस तरह, हिंदू तीर्थयात्रियों, ऊँटों, व्यापारियों और विदेशी पर्यटकों का सम्मेलन हो जाता है जिसमें सिर्फ़ पशुओं और पैसे का विनिमय ही नहीं बल्कि धार्मिक पुण्यों और सांस्कृतिक प्रतीकों की भी अदला-बदली होती है।

**राजनीतिक प्रभाव**—वैश्वीकरण की समकालीन प्रक्रियाओं के प्रभाव के बारे में जारी बहसों में एक यह है कि इसका राजनीतिक असर क्या हो रहा है? राज्य की संप्रभुता की परंपरागत धारणा पर वैश्वीकरण का असर कैसे होता है? इस सवाल का ज़वाब देते समय हमें कम से कम तीन पहलुओं का ध्यान रखना होगा। सबसे सीधा-सरल विचार यह है कि वैश्वीकरण के कारण राज्य की क्षमता यानी सरकारों को जो करना है उसे करने की ताकत में कमी आती है। पूरी दुनिया में कल्याणकारी राज्य की धारणा अब पुरानी पड़ गई है और इसकी जगह न्यूनतम हस्तक्षेपकारी राज्य ने ले ली है। राज्य अब कुछेक मुख्य कामों तक ही अपने को सीमित रखता है, जैसे कानून और व्यवस्था को बनाये रखना तथा अपने नागरिकों की सुरक्षा करना। इस तरह के राज्य ने अपने को पहले के कई ऐसे लोक-कल्याणकारी कामों से खींच लिया है जिनका लक्ष्य आर्थिक और सामाजिक-कल्याण होता था। लोक कल्याणकारी राज्य की जगह अब बाज़ार आर्थिक और सामाजिक प्राथमिकताओं का प्रमुख निर्धारक है।

पूरे विश्व में बहुराष्ट्रीय निगम अपने पैर पसार चुके हैं और उनकी भूमिका बढ़ी है। इससे सरकारों के अपने दम पर फैसला करने की क्षमता में कमी आती है। इसी के साथ एक बात और भी है। वैश्वीकरण से हमेशा राज्य की ताकत में कम आती हो- ऐसी बात नहीं। राजनीतिक समुदाय के आधार के रूप में राज्य की प्रधानता को कोई चुनौती नहीं मिली है और राज्य इस अर्थ में आज भी प्रमुख है। विश्व की राजनीति में अब भी विभिन्न देशों के बीच मौजूद पुरानी ईर्ष्या और प्रतिद्वंद्विता की दखल है। राज्य कानून और व्यवस्था, राष्ट्रीय सुरक्षा जैसे अपने अनिवार्य कार्यों को पूरा कर रहे हैं और बहुत सोच-समझकर अपने कदम उन्हीं दायरों से खींच रहे हैं जहाँ उनकी मर्जी हो। राज्य अभी भी महत्वपूर्ण बने हुए हैं। वस्तुतः कुछ मायनों में वैश्वीकरण के फलस्वरूप राज्य की ताकत में इजाफा हुआ है। अब राज्यों के हाथ में अत्याधुनिक प्रौद्योगिकी मौजूद है जिसके बूते राज्य अपने नागरिकों के बारे में सूचनाएँ जुटा सकते हैं। इस सूचना के दम पर राज्य ज़्यादा कारगर ढंग से काम कर सकते हैं। उनकी क्षमता

बढ़ी है; कम नहीं हुई। इस प्रकार नई प्रौद्योगिकी के परिणामस्वरूप राज्य अब पहले से ज्यादा ताकतवर हैं। आर्थिक प्रभाव वैश्वीकरण के आर्थिक पहलू के बारे में सब कुछ भले ही नहीं जाना जा सके लेकिन, यह कहा जा सकता है कि वैश्वीकरण को लेकर जारी बहसों का बड़ा हिस्सा और इस बहस की दिशा इसी पहलू से संबंधित है। इस समस्या का एक पक्ष तो यही है कि आर्थिक वैश्वीकरण को कैसे परिभाषित किया जाए।

जैसे ही आर्थिक वैश्वीकरण का उल्लेख होता है, हमारा ध्यान अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व व्यापार संगठन जैसी अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं तथा विश्व भर में आर्थिक नीतियों के निर्धारण में इनके द्वारा निभायी गई भूमिका पर जाता है। हालाँकि वैश्वीकरण को इतने संकीर्ण नज़रिए से नहीं देखा जाना चाहिए। आर्थिक वैश्वीकरण में इन अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के अलावा भी कई खिलाड़ी शामिल हैं।

आर्थिक वैश्वीकरण को अधिक व्यापक नज़र से समझने के लिए हमें इससे होने वाले आर्थिक फायदों के बँटवारे के अर्थ में सोचना चाहिए यानी इस संदर्भ में कि किससे वैश्वीकरण से सबसे ज्यादा फायदा हुआ और किससे सबसे कम। यह भी देखने की ज़रूरत है कि वैश्वीकरण के कारण किसने नुकसान उठाया।

अमूमन जिस प्रक्रिया को आर्थिक वैश्वीकरण कहा जाता है उसमें दुनिया के विभिन्न देशों के बीच आर्थिक प्रवाह तेज हो जाता है। कुछ आर्थिक प्रवाह स्वेच्छा से होते हैं जबकि कुछ अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं और ताकतवर देशों द्वारा जबरन लादे जाते हैं।

जैसा कि हमने इस अध्याय की शुरुआत में देखा, ये प्रवाह कई किस्म के हो सकते हैं, जैसे वस्तुओं, पूंजी, जनता अथवा विचारों का प्रवाह। वैश्वीकरण के चलते पूरी दुनिया में वस्तुओं के व्यापार में इजाफा हुआ है; अलग-अलग देश अपने यहाँ होने वाले आयात पर प्रतिबंध लगाते थे लेकिन अब ये प्रतिबंध कम हो गए हैं। ठीक इसी तरह दुनिया भर में पूंजी की आवाजाही पर अब कहीं कम प्रतिबंध हैं।

व्यावहारिक धरातल पर इसका अर्थ यह हुआ कि धनी देश के निवेशकर्ता अपना धन अपने देश की जगह कहीं और निवेश कर सकते हैं, खासकर विकासशील देशों में जहाँ उन्हें ज्यादा मुनाफा होगा। वैश्वीकरण के चलते अब विचारों के सामने राष्ट्र की सीमाओं की बाधा नहीं रही, उनका प्रवाह अबाध हो उठा है। इंटरनेट और कंप्यूटर से जुड़ी सेवाओं का विस्तार इसका एक उदाहरण है। लेकिन वैश्वीकरण के कारण जिस सीमा तक वस्तुओं और पूंजी का प्रवाह बढ़ा है उस सीमा तक लोगों की आवाजाही नहीं बढ़ सकी है।

विकसित देश अपनी वीजा-नीति के जरिए अपनी राष्ट्रीय सीमाओं को बड़ी सतर्कता से अभेद्य बनाए रखते हैं ताकि दूसरे देशों के नागरिक विकसित देशों में आकर कहीं उनके नागरिकों के नौकरी-धंधे न हथिया लें। वैश्वीकरण के परिणामों पर सोचते हुए हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हर जगह एक समान नीति अपना लेने का मतलब यह नहीं होता कि हर जगह परिणाम भी समान होंगे। वैश्वीकरण के कारण दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में सरकारों ने एकसार आर्थिक नीतियों को अपनाया है, लेकिन विश्व के विभिन्न भागों में इसके परिणाम बहुत अलग-अलग हुए हैं। यहाँ भी हमें सर्व-सामान्य निष्कर्ष निकालने के बजाय संदर्भ-विशेष पर ध्यान देना होगा। आर्थिक वैश्वीकरण के कारण पूरे विश्व में जनमत बड़ी गहराई से बँट गया है। आर्थिक वैश्वीकरण के कारण सरकारें कुछ जिम्मेदारियों से अपने हाथ खींच रही हैं और इससे सामाजिक न्याय से सरोकार रखने वाले लोग चिंतित हैं। इनका कहना है कि आर्थिक वैश्वीकरण से आबादी के एक बड़े छोटे तबके को

फायदा होगा जबकि नौकरी और जन-कल्याण (शिक्षा, स्वास्थ्य, साफ-सफाई की सुविधा आदि) के लिए सरकार पर आश्रित रहने वाले लोग बदहाल हो जाएँगे।

सामाजिक न्याय के पक्षधर इस बात पर जोर देते हैं कि कुछ सांस्थानिक उपाय किए जाने चाहिए या कहें कि 'सामाजिक सुरक्षा कवच' तैयार किया जाना चाहिए ताकि जो लोग आर्थिक रूप से कमजोर हैं उन पर वैश्वीकरण के दुष्प्रभावों को कम किया जा सके। दुनिया के अनेक आंदोलनों की मान्यता है कि 'सामाजिक सुरक्षा-कवच' की बात अव्यावहारिक है और इतना भर उपाय पर्याप्त नहीं होगा। ऐसे आंदोलनों ने बलपूर्वक किए जा रहे वैश्वीकरण को रोकने की आवाज लगाई है क्योंकि इससे गरीब देश आर्थिक-रूप से बर्बादी की कगार पर पहुँच जाएँगे; खासकर इन देशों के गरीब लोग एकदम बदहाल हो जाएँगे। कुछ अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक वैश्वीकरण को विश्व का पुनःउपनिवेशीकरण कहा है।

आर्थिक वैश्वीकरण की प्रक्रियाओं के समर्थकों का तर्क है कि इससे समृद्धि बढ़ती है और 'खुलेपन' के कारण ज़्यादा से ज़्यादा आबादी की खुशहाली बढ़ती है। व्यापार की बढ़ती से हर देश को अपना बेहतर कर दिखाने का मौका मिलता है। इससे पूरी दुनिया को फायदा होगा। इन लोगों का कहना है कि आर्थिक वैश्वीकरण अपरिहार्य है और इतिहास की धारा को अवरुद्ध करना कोई बुद्धिमानी नहीं। वैश्वीकरण के मध्यमार्गी समर्थकों का कहना है कि वैश्वीकरण ने चुनौतियाँ पेश की हैं और सजग-सचेत होकर पूरी बुद्धिमत्ता से इसका सामना किया जाना चाहिए। बहरहाल, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि 'पारस्परिक निर्भरता' की रफ्तार अब तेज हो चली है। वैश्वीकरण के फलस्वरूप विश्व के विभिन्न भागों में सरकार, व्यवसाय तथा लोगों के बीच जुड़ाव बढ़ रहा है। सांस्कृतिक प्रभाव वैश्वीकरण के परिणाम सिर्फ आर्थिक और राजनीतिक दायरों में ही नज़र नहीं आते; हम घर में बैठे हों तब भी इसकी चपेट में होते हैं। हम जो कुछ खाते-पीते-पहनते हैं अथवा सोचते हैं-सब पर इसका असर नज़र आता है। हम जिन बातों को अपनी पसंद कहते हैं वे बातें भी वैश्वीकरण के असर में तय होती हैं। वैश्वीकरण के सांस्कृतिक प्रभावों को देखते हुए इस भय को बल मिला है कि यह प्रक्रिया विश्व की संस्कृतियों को खतरा पहुँचाएगी। वैश्वीकरण से यह होता है क्योंकि वैश्वीकरण सांस्कृतिक समरूपता ले आता है। सांस्कृतिक समरूपता का यह अर्थ नहीं कि किसी विश्व-संस्कृति का उदय हो रहा है।

विश्व-संस्कृति के नाम पर दरअसल शेष विश्व पर पश्चिमी संस्कृति लादी जा रही है। हम लोग अमरीकी वर्चस्व वाले अध्याय तीन में वर्चस्व के सांस्कृतिक अर्थ के अंतर्गत इस बात को पढ़ चुके हैं। कुछ लोगों का तर्क है कि बर्गर अथवा नीली जीन्स की लोकप्रियता का नजदीकी रिश्ता अमरीकी जीवनशैली के गहरे प्रभाव से है क्योंकि राजनीतिक और आर्थिक रूप से प्रभुत्वशाली संस्कृति कम ताकतवर समाजों पर अपनी छाप छोड़ती है और संसार वैसा ही दीखता है जैसा ताकतवर संस्कृति इसे बनाना चाहती है। जो यह तर्क देते हैं वे अक्सर दुनिया के 'मैक्डोनाल्डकीकरण' की तरफ इशारा करते हैं। उनका मानना है कि विभिन्न संस्कृतियाँ अब अपने को प्रभुत्वशाली अमरीकी ढर्रे पर ढालने लगी हैं। चूँकि इससे पूरे विश्व की समृद्ध सांस्कृतिक धरोहर धीरे-धीरे खत्म होती है इसलिए यह केवल गरीब देशों के लिए ही नहीं बल्कि समूची मानवता के लिए खतरनाक है। इसके साथ-साथ यह मान लेना एक भूल है कि वैश्वीकरण के सांस्कृतिक प्रभाव सिर्फ नकारात्मक हैं। संस्कृति कोई जड़ वस्तु नहीं होती। हर संस्कृति हर समय बाहरी प्रभावों को स्वीकार करते रहती है। कुछ बाहरी प्रभाव नकारात्मक होते हैं क्योंकि इससे हमारी पसंदों में कमी आती है। कभी-कभी बाहरी प्रभावों से हमारी पसंद-नापसंद का दायरा बढ़ता

है तो कभी इनसे परंपरागत सांस्कृतिक मूल्यों को छोड़े बिना संस्कृति का परिष्कार होता है। बर्गर मसाला-डोसा का विकल्प नहीं है इसलिए बर्गर से वस्तुतः कोई खतरा नहीं है। इससे हुआ मात्र इतना है कि हमारे भोजन की पसंद में एक चीज़ और शामिल हो गई है। दूसरी तरफ, नीली जीन्स भी हथकरघा पर बुने खादी के कुर्ते के साथ खूब चलती है। यहाँ हम बाहरी प्रभाव से एक अनूठी बात देखते हैं कि नीली जीन्स के ऊपर खादी का कुर्ता पहना जा रहा है। मज़ेदार बात तो यह है कि इस अनूठे पहरावे को अब उसी देश को निर्यात किया जा रहा है जिसने हमें नीली जीन्स दी है। जीन्स के ऊपर कुर्ता पहने अमरीकियों को देखना अब संभव है। सांस्कृतिक समरूपता वैश्वीकरण का एक पहलू है तो वैश्वीकरण से इसका उलटा प्रभाव भी पैदा हुआ है। वैश्वीकरण से हर संस्कृति कहीं ज़्यादा अलग और विशिष्ट होते जा रही है। इस प्रक्रिया को सांस्कृतिक वैभिन्नीकरण कहते हैं। इसका मतलब यह नहीं कि संस्कृतियों के मेलजोल में उनकी ताकत का सवाल गौण है परंतु इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि सांस्कृतिक प्रभाव एकतरफा नहीं होता।

### 6.3 हिंसा का उद्भव

विभिन्न प्रकार के उत्पीड़न होते हैं—जो अवसादग्रस्त होते हैं, जिनमें हीन-भावना होती है और आत्मसम्मान कम होता है; जिन्हें व्यक्तित्व के दोष होते हैं और जो मनोरोगी होते हैं; जिनके पास संसाधनों, प्रवीणताओं और प्रतिभाओं का अभाव होता है और जिनका व्यक्तित्व समाज वैज्ञानिक रूप से विकृत होता है; जिनकी प्रकृति में मालिकानापन शक्कीपन, और प्रबलता है; जो पारिवारिक जीवन में तनावपूर्ण स्थितियों का सामना करते हैं; जो बचपन में हिंसा के शिकार हुए थे; और जो बहुधा मदिरापान करते हैं। हिंसा के प्रकार यदि हम महिलाओं के विरुद्ध हिंसा का वर्गीकरण करें तो हम हिंसा के छह प्रकार बता सकते हैं : हिंसा जो धन-अभिमुख होती है; हिंसा जो कमजोर पर सत्ता प्राप्त करना चाहती है; हिंसा जिसका उद्देश्य भोग-विलास है; हिंसा जो अपराधकर्ता की विकृति के कारण होती है; हिंसा जो तनावपूर्ण पारिवारिक परिस्थितियों के कारण होती है; और हिंसा जो पीड़ित प्रेरित होती है। हिंसा के कारण महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की तीन कारकों के आधार पर व्याख्या की जा सकती है; (1) स्थितियां जिनके कारण हिंसापूर्ण व्यवहार होता है, (2) पीड़ितों की विशेषताएं, और (3) उत्पीड़ित करने वाले की विशेषताएं। महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के चार कारण पहचाने जा सकते हैं; (अ) पीड़ित द्वारा भड़काना, (ब) नशा, (स) महिलाओं के प्रति शत्रुता की भावना, और (द) परिस्थितिवश प्रेरणा।

**भारत में साम्प्रदायिकता**—भारत के अनेकवादी समाज में केवल धार्मिक समुदाय ही नहीं हैं जैसे, हिन्दू (82.63%), मुसलमान (11.36%) ईसाई (2.43%) सिख (1.96%) बौद्ध, (0.71%), जैन (0.48%) आदि। हिन्दू कई संप्रदायों में बँटे हुए हैं, जैसे आर्यसमाजी, शैव, सनातनी, और वैष्णव। इसी प्रकार जहाँ एक ओर मुसलामन शिया और सुन्नी में बँटे हुए हैं वहीं दूसरी ओर उनमें अशरफ अज़लफ (जुलाहे, कसाई, खाती, तेली) और अरज़ल भी सम्मिलित हैं। हिन्दूओं और मुसलमानों के पारस्परिक संबंध एक लंबे अंतराल से तनावपूर्ण रहे हैं। हिन्दुओं और सिखों ने एक दूसरों को कुछ वर्षों के लिए (विशेष कर 1984 से 1990 के बीच) संदेह की दृष्टि से देखना शुरू किया था। यद्यपि दक्षिण भारत के एक राज्य में हिन्दुओं और ईसाईयों, और मुसलमानों और ईसाईयों में और अब गुजरात और दक्षिण में दो राज्यों में हिन्दुओं और ईसाईयों के झगड़ों के बारे में सुना जाता है, परन्तु सब मिलाकर भारत में ईसाई यह नहीं सोचते कि दूसरे समुदाय उनका वंचना या शोषण करते हैं। मुसलमानों में

शिया और सुन्नी अवश्य एक दूसरे के प्रति द्वेष की भावना रखते हैं। यहां हम मुख्यतः हिन्दू-मुसलमान संबंधों और संक्षेप में हिन्दू-सिख संबंधों का विश्लेषण करेंगे। हिन्दू-मुसलमान साम्प्रदायिकता भारत पर मुसलमानों के आक्रमण दसवीं शताब्दी में आरम्भ हो गये थे, परन्तु मौहम्मद गजनवी और मौहम्मद गोरी जैसे प्रारम्भिक मुसलमान विजेता धार्मिक आधिपत्य जमाने की अपेक्षा लूटने में अधिक दिलचस्पी रखते थे। उस समय जब कुतुबुद्दीन दिल्ली का पहला सुल्तान बना तब इस्लाम ने भारत में पैर जमाये। इसके पश्चात् मुगलों ने अपने साम्राज्य को संगठित किया और इस प्रक्रिया में इस्लाम को भी। मुगल शासकों द्वारा अपनाई गई नीतियों में से कुछ ने धर्म-परिवर्तन के प्रयत्न और हिन्दू मंदिरों को तोड़ कर उन पर मस्जिद बनाने जैसे कार्यों द्वारा हिन्दू और मुसलमान समुदायों के बीच साम्प्रदायिक झगड़ों को भड़काया। जब अंग्रेजों ने ईस्ट इंडिया कंपनी के माध्यम से भारत पर अपना आधिपत्य जमाया, तो उन्होंने प्रारम्भ में हिन्दुओं को संरक्षण देने की नीति अपनाई, परन्तु 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के पश्चात् जिसमें हिन्दू और मुसलमान कंधे से कंधा मिलाकर लड़े, अंग्रेजों ने 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपनाई, जिसके फलस्वरूप साम्प्रदायिक झगड़ों को प्रोत्साहन मिला और उनका आधिपत्य कायम रहा। हिन्दुओं और मुसलमानों के संबंध तब और अधिक तनावपूर्ण हो गये जब स्वतंत्रता संग्राम के दौरान शक्ति-राजनीति का प्रयोग होने लगा। इस प्रकार यद्यपि हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच पारस्परिक विरोध एक पुराना मामला है परन्तु भारत में हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता स्वतंत्रता संग्राम के दौरान अंग्रेजी शासन की विरासत है। साम्प्रदायिकता आज महत्वपूर्ण तरीके से परिवर्तित सामाजिक और राजनीतिक वातावरण में चलती है। अब यह एक ऐसी समस्या समझी जाती है जो देश के विकास की प्रक्रिया में बाधा और विकार उत्पन्न करती है। हमारे धर्मनिरपेक्ष आदर्शों के लिये जिन पर हमारा संविधान बल देता है, यह अकेला सबसे बड़ा खतरा है। साम्प्रदायिक स्वार्थ सांप्रदायिक द्वेष की आग को भड़काते रहते हैं। हम हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता की उत्पत्ति और ऐतिहासिक मूल कारणों का परीक्षण करेंगे जिससे समकालीन संदर्भ में इस तथ्य के बारे में कुछ जानकारी प्राप्त हो सके। राजनीतिक दलों, जिन्होंने स्वतंत्रता संग्राम में भाग लिया, ये क्या धार्मिक और राजनीतिक विचार और आकांक्षाएं थी? भारतीय समाज की विविधता को देखते हुए राष्ट्रीय आंदोलन के सभी समूहों के स्वार्थों को समायोजित करना था जैसे आर्थिक, भाषाई और धार्मिक। राष्ट्रीय अपील की विविध समूहों की एकता के लिये दो महत्वपूर्ण कारकों पर कार्य करना था। प्रथम, उपनिवेशी शासकों के शोषण से मुक्ति, और द्वितीय, समस्त नागरिकों के लिये प्रजातान्त्रिक अधिकार। क्या प्रमुख राजनीतिक दल जैसे कांग्रेस, मुस्लिम लीग, कम्युनिस्ट पार्टी और हिन्दू महासभा इन विचारों से सहमत थे? कदाचित नहीं। कांग्रेस दल की साम्प्रदायिकता और साम्प्रदायिक दलों के प्रति क्या नीति थी? इतिहासकार विपिन चन्द के अनुसार (कम्युनलिज़्म इन मॉडर्न इंडिया) कांग्रेस ने प्रारम्भ से ही 'चोटी से एकता' की नीति अपनाई जिसके अन्तर्गत मध्यम वर्ग और उच्च वर्ग के मुसलमानों, जिन्हें मुसलमान समुदाय का नेता माना जाता था, को अपनी ओर करने का प्रयत्न किया गया। हिन्दू और मुसलमान दोनों की जनता की साम्राज्य विरोधी भावनाओं से सीधी अपील करने के बजाय यह उन पर छोड़ दिया गया कि वे मुसलमान जनता को आन्दोलन में सम्मिलित करें। यह 'चोटी से एकता' उपागम साम्राज्यवाद से लड़ने के लिये हिन्दू-मुस्लिम एकता को प्रोत्साहित नहीं कर पाया। टर्की में अंग्रेजों के हस्तक्षेप के विरुद्ध मुस्लिम लीग द्वारा चलाया हुआ खिलाफत आन्दोलन एक धार्मिक मामले से जुड़ा हुआ था। कांग्रेस ने तो इस आन्दोलन को केवल समर्थन दिया था। जितने गंभीर प्रयत्न हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिये 1918 और 1922 के मध्य हुए, वे हिन्दू, मुसलमान और सिख समुदायों और कांग्रेस के शीर्षस्थ नेताओं

के वार्तालाप के रूप में हुए। कई बार कांग्रेस धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीयता की शक्तियों के एक सक्रिय संगठनकर्ता के रूप में कार्य करने के बजाय विभिन्न साम्प्रदायिक नेताओं में बिचौलिये के रूप में कार्य करती थी। इस प्रकार प्रारम्भ में राष्ट्रीय नेतृत्व में यह अप्रत्यक्ष सहमति थी कि हिन्दू मुसलमान और सिख पृथक समुदाय हैं जिनमें केवल राजनीतिक और आर्थिक मामलों में एकता है, परन्तु धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रथाओं में नहीं।

साम्प्रदायिकता के बीज इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में बोये गये। फिर भी, मुस्लिम लीग और हिन्दू महासभा, संगठन के रूप में 1936 तक काफी कमजोर रहे। 1937 के चुनावों में मुस्लिम लीग ने प्रान्तीय विधान सभाओं में मुसलमानों के लिये कुल आरक्षित सीटों (482) में से केवल 22.0: सीटें जीतीं। मुस्लिम बहुसंख्यक प्रान्तों में भी उसकी स्थिति ठीक नहीं रही। 1942 के बाद ही मुस्लिम लीग एक सशक्त राजनीतिक दल की तरह उभरी और उसने समस्त मुसलमानों की तरफ से बोलने का दावा किया। एम.ए.जिन्ना ने कांग्रेस को एक 'हिन्दू' संगठन कहा और अंग्रेजों ने इस दावे का अनुमोदन किया।

कांग्रेस के अन्दर भी मदन मोहन मालवीय, के.एम. मुन्शी, और सरदार पटेल जैसे कुछ नेताओं ने हिन्दू-समर्थक दृष्टिकोण अपनाया। इस प्रकार कांग्रेस अपने में से साम्प्रदायिक तत्वों को निकाल नहीं पाई। पाकिस्तान का नारा मुस्लिम लीग ने लाहौर में सर्वप्रथम 1940 में दिया। मुस्लिम जनता के विभिन्न समूहों में पाकिस्तान के बारे में विभिन्न मत थे। मुसलमान कृषकों के लिये पाकिस्तान का अर्थ था हिन्दू जमींदार के शोषण से मुक्ति मुसलमान व्यापारी वर्ग के लिये उसका मतलब था सुव्यवस्थित हिन्दू व्यापारिक तंत्र से छुटकारा; मुसलमान बुद्धिजीवी वर्ग के लिये उसका अर्थ था बेहतर रोजगार के अवसर बाद में जब कांग्रेस नेताओं ने 1946 में विभाजन की स्वीकृति दे दी, तो उससे 1947 में लाखों की संख्या में हिन्दुओं, मुसलमानों और सिखों का रक्तपात और हत्याकाण्ड की वीभत्सता में उनका विस्थापन; हुआ। लगभग दो लाख व्यक्तियों का 1947 के विभाजन दंगों में मारे जाने का अनुमान है और लगभग 60 लाख मुसलमान आरै साढ़े चार लाख हिन्दू आरै सिख शरणार्थी हो गये। विभाजन के बाद भी कांग्रेस साम्प्रदायिकता पर काबू नहीं पा सकी। इसलिये यह कहा जा सकता है कि भारत में हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता के राजनीतिक-सामाजिक स्रोत थे और उनमें झगड़े के लिये केवल धर्म ही कारण नहीं था। आर्थिक स्वार्थ आरै सांस्कृतिक एवं सामाजिक रीति-रिवाज भी कारक थे जिन्होंने दोनों समुदायों को और विभाजित किया।

---

## सारांश

---

1990 के दशक में भारत ने अपने आर्थिक इतिहास के नए दौर में प्रवेश किया, ये मुख्यतः राज्य स्तरीय विकास से उदारवाद जैसी आर्थिक नीति के परिवर्तन की वजह से हुआ। इस बदलाव से भूमंडलीकरण के युग की शुरुआत हुई। वह दौर जिसमें दुनिया पहले से ज्यादा अंतर्संबंधित है भूमंडलीकरण के अंतर्गत सिर्फ पूँजी और वस्तुओं का ही नहीं बल्कि लोगों, सांस्कृतिक उत्पादों और छवियों का भी दुनिया भर में परिचालन होता है। यह विनिमय के नए दायरों से प्रवेश करती है और नए बाजारों का निर्माण करती है। परन्तु मौहम्मद गजनवी और मौहम्मद गोरी जैसे प्रारम्भिक मुसलमान विजेता धार्मिक आधिपत्य जमाने की अपेक्षा लूटने में अधिक दिलचस्पी रखते थे। उस समय जब कुतुबुद्दीन दिल्ली का पहला सुल्तान बना तब इस्लाम ने भारत में पैर जमाये। वे हिन्दू, मुसलमान और सिख समुदायों और कांग्रेस के शीर्षस्थ नेताओं के वार्तालाप के रूप में हुए। कई बार कांग्रेस धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीयता की शक्तियों के एक सक्रिय संगठनकर्ता के रूप में कार्य करने के बजाय विभिन्न साम्प्रदायिक नेताओं में बिचौलिये के

रूप में कार्य करती थी। इस प्रकार प्रारम्भ में राष्ट्रीय नेतृत्व में यह अप्रत्यक्ष सहमति थी कि हिन्दू मुसलमान और सिख पृथक् समुदाय हैं जिनमें केवल राजनीतिक और आर्थिक मामलों में एकता है, परन्तु धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रथाओं में नहीं।

## अभ्यास प्रश्नोत्तर

### बहुविकल्पीय प्रश्न

- वैश्वीकरण के आयाम क्या हैं?
 

(a) सामाजिक व आर्थिक	(b) राजनीतिक
(c) सांस्कृतिक	(d) उपरोक्त सभी
- भारत में भू-मण्डलीकरण की शुरुआत कब मानी जाती है?
 

(a) 1970 के दशक में	(b) 1980 के दशक में
(c) 1990 के दशक में	(d) सन् 2000 के बाद
- भूमण्डलीयकरण किन देशों द्वारा शुरू की गई प्रक्रिया है?
 

(a) पश्चिमी देशों द्वारा	(b) पूर्वी देशों द्वारा
(c) दूसरी दुनिया के देशों द्वारा	(d) तीसरी दुनिया के देशों द्वारा
- अंतर्राष्ट्रीय पर्यटन किसका उदाहरण है?
 

(a) राजनीतिक वैश्वीकरण	(b) सांस्कृतिक वैश्वीकरण
(c) आर्थिक वैश्वीकरण	(d) सामाजिक वैश्वीकरण
- महिलाओं के विरुद्ध हिंसा का प्रमुख कारण क्या है?
 

(a) पुरुषवादी सोच	(b) नारीवादी भावना
(c) महिलाओं का आगे बढ़ना	(d) महिलाओं की कमजोरी
- सांप्रदायिकता से क्या अभिप्राय है?
 

(a) दो भिन्न जाति के लोगों में संघर्ष	(b) दो भिन्न धर्म के लोगों में संघर्ष
(c) दो भिन्न गाँव के लोगों में संघर्ष	(d) दो भिन्न परिवारों के बीच में संघर्ष

### लघु उत्तरीय प्रश्न

- वैश्वीकरण से क्या अभिप्राय है? इसका भारतीय समाज पर क्या प्रभाव पड़ा है?
- वैश्वीकरण ने किस प्रकार संस्कृति का विकास किया है?

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

- महिलाओं के विरुद्ध हिंसा पर टिप्पणी दीजिए।
- भारत में विभिन्न धर्मों के मध्य उपजी हिंसा पर टिप्पणी कीजिए।



---

## संदर्भ पुस्तकें

---

1. समाजशास्त्र कक्षा-11 एनसीईआरटी
2. समाजशास्त्र कक्षा-12 एनसीईआरटी
3. जनसंख्या भूगोल, आर.सी. चांदना
4. समाज की समझ, योगेश अटल
5. समाजशास्त्र-अवधारणा एवं सिद्धांत, जे.पी. सिंह

# जनसंख्या और जनसांख्यिकी समाज

7.1 परिचय

7.2 जनसंख्या वृद्धि

7.3 जनसंख्या वृद्धि के घटक

7.4 गतिशील जनसंख्या

---

## 7.1 परिचय

---

जनसंख्या वृद्धि में परिवर्तन धनात्मक भी हो सकता है और ऋणात्मक भी। इसे निरपेक्ष संख्या अथवा प्रतिशत के रूप में अभिव्यक्त किया जा सकता है। अशोधित मृत्यु दर किसी क्षेत्र में मृत्यु दर को मापने की एक सरल विधि है। अशोधित मृत्यु दर को किसी क्षेत्र विशेष में किसी वर्ष के दौरान प्रति हजार जनसंख्या के पीछे मृतकों की संख्या के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है। जनसंख्या वृद्धि की कहानी बताता है। लगभग 8000 से 12000 वर्ष पूर्व कृषि के उद्भव व आरंभ के पश्चात् जनसंख्या का आकार बहुत छोटा था-मोटे तौर पर 80 लाख। ईसा की पहली शताब्दी में जनसंख्या 30 करोड़ से कम थी। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में बढ़ते विश्व व्यापार ने जनसंख्या की तीव्र वृद्धि के लिए मंच तैयार किया। अधिकांश जनसांख्यिकीय संकल्पनाओं को दरों या अनुपातों के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है, उनमें दो संख्याएँ शामिल होती हैं। इन संख्याओं में से एक खास आँकड़ा होता है जिसकी गणना एक विशिष्ट भौगोलिक-प्रशासनिक इकाई के लिए की जाती है।

---

## 7.2 जनसंख्या वृद्धि

---

जनसंख्या वृद्धि अथवा जनसंख्या परिवर्तन का अभिप्राय किसी क्षेत्र में समय की किसी निश्चित अवधि के दौरान बसे हुए लोगों की संख्या में परिवर्तन से है। यह परिवर्तन धनात्मक भी हो सकता है और ऋणात्मक भी। इसे निरपेक्ष संख्या अथवा प्रतिशत के रूप में अभिव्यक्त किया जा सकता है। जनसंख्या परिवर्तन किसी क्षेत्र की अर्थिक प्रगति, सामाजिक उत्थान, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का महत्वपूर्ण सूचक होता है।

भारत विश्व में चीन के बाद दूसरा सबसे बड़ी जनसंख्या वाला देश है, सन् 2011 की जनगणना के अनुसार इसकी कुल जनसंख्या 121 करोड़ (यानी 1.21 अरब) है। जैसा कि सारणी 1 में देखा जा सकता है भारत की जनसंख्या संवृद्धि दर हमेशा बहुत ऊँची नहीं रही। वर्ष 1901-1951 के बीच औसत वार्षिक संवृद्धि दर 1.33% से अधिक नहीं हुई जो कि एक साधारण संवृद्धि दर कही जा सकती है। सच तो यह है कि 1911 से 1921 के बीच

संवृद्धि की दर नकारात्मक यानी ऋणात्मक रूप से  $-0.03\%$  रही। इसका कारण 1918-19 के दौरान इन्फ्लूएंजा महामारी का भीषण तांडव था जिसने लगभग 1.25 करोड़ लोगों यानी देश की कुल जनसंख्या के 5% अंश को मौत के मुँह में ढकेल दिया था। ब्रिटिश राज से स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जनसंख्या संवृद्धि की दर में काफी बढ़ोतरी हुई और वह 1961-1981 के दौरान 2.2% पर पहुंच गई। तब से, यद्यपि वार्षिक संवृद्धि दर में गिरावट तो आई है फिर भी वह विकासशील दुनिया में सबसे ऊँची बनी हुई है। चार्ट 1 में स्थूल जन्म और मृत्यु दरों की तुलनात्मक घट बढ़ दिखाई गई है। जनसांख्यिकीय संक्रमण की अवस्था का प्रभाव स्पष्ट रूप से आरेख में दिखाया गया है जिससे यह प्रकट होता है कि ये दरें 1921 से 1931 तक के दशक के बाद एक दूसरे से भिन्न दिशा में जाने लगी थीं।

1931 से पहले, मृत्यु दरें और जन्म दरें दोनों ही ऊँची रही हैं। इस संक्रमण वर्ष के बाद मृत्यु दरों में तेजी से गिरावट आई है जबकि जन्म दर थोड़ी-सी गिरी है। 1921 के बाद मृत्यु दर में गिरावट आने का प्रमुख कारण यह था कि अकालों और महामारियों पर नियंत्रण बढ़ गया। इनमें महामारियों की रोकथाम संभवतः अधिक महत्त्वपूर्ण साबित हुई। पहले अनेक प्रकार की महामारियाँ थीं जिनमें विभिन्न प्रकार के ज्वर, प्लेग, चेचक और हैजा अधि क विनाशकारी थे। लेकिन 1918-19 की इन्फ्लूएंजा नामक महामारी ने तो अकेले ही देशभर में तबाही मचा दी जिसमें 125 लाख यानी सवा करोड़ लोगों को अर्थात् तत्कालीन भारत की कुल जनसंख्या के लगभग 5% भाग को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा। ऐसी बीमारियों के उपचार में किए गए सुधारों, बड़े पैमाने पर चलाए गए टीकाकरण कार्यक्रमों और व्यापक रूप से संचालित स्वच्छता अभियानों ने महामारियों को नियंत्रित करने में सहायता की। किंतु मलेरिया, क्षय रोग और पेचिश व दस्त की बीमारियाँ आज भी लोगों के लिए जानलेवा बनी हुई हैं हालाँकि, अब उनसे मरने वालों की संख्या उतनी अधिक नहीं होती जितनी पहले महामारी के रूप में उनके प्रकोप के कारण हुआ करती थीं। सूरत नगर सितंबर 1994 में कुछ हद तक प्लेग की महामारी की चपेट में आ गया था और 2006 में देश के अनेक भागों में डेंगी और चिकनगुनिया की बीमारी के व्यापक रूप से फैलने की खबरें पढ़ने-सुनने को मिलीं।

### भारत की जनसंख्या और 20वीं एवं 21वीं शताब्दी में इसकी संवृद्धि

वर्ष	कुल जनसंख्या (लाखों में)	औसत वार्षिक संवृद्धि दर (%)	दशकीय संवृद्धि दर (%)
1901	238	-	-
1911	252	0.56	5.8
1921	251	-0.03	-0.3
1931	279	1.04	11.0
1941	319	1.33	14.2
1951	361	1.25	13.3
1961	439	1.96	21.6

1971	548	2.22	24.8
1981	683	2.20	24.7
1991	846	2.14	23.9
2001	1028	1.95	21.5
2011	1210	1.63	17.7

### 7.3 जनसंख्या वृद्धि के घटक

जनसंख्या परिवर्तन के तीन घटक हैं—जन्म, मृत्यु और प्रवास। अशोधित जन्म दर को प्रति हजार स्त्रियों द्वारा जन्म दिए जीवित बच्चों के रूप में व्यक्त किया जाता है।

मृत्यु दर जनसंख्या परिवर्तन में सक्रिय भूमिका निभाती है। जनसंख्या वृद्धि केवल बढ़ती हुई जन्म दर से नहीं होती अपितु घटती हुई मृत्यु दर से भी होती है। अशोधित मृत्यु दर किसी क्षेत्र में मृत्यु दर को मापने की एक सरल विधि है। अशोधित मृत्यु दर को किसी क्षेत्र विशेष में किसी वर्ष के दौरान प्रति हजार जनसंख्या के पीछे मृतकों की संख्या के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है।

मोटे तौर पर मृत्यु दर किसी क्षेत्र की जनांकिकीय संरचना, सामाजिक उन्नति और आर्थिक विकास के स्तर द्वारा प्रभावित होती है।

**प्रवास**—जन्म और मृत्यु के अतिरिक्त एक और घटक है जिससे जनसंख्या का आकार परिवर्तित होता है। जब लोग एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हैं तो वह स्थान जहाँ से लोग गमन करते हैं उद्गम स्थान कहलाता है और

जिस स्थान में आगमन करते हैं वह गंतव्य स्थान कहलाता है। उद्गम स्थान जनसंख्या में कमी को दर्शाता है जबकि गंतव्य स्थान पर जनसंख्या बढ़ जाती है। प्रवास को मनुष्य और संसाधन के बीच बेहतर संतुलन प्राप्त करने की दिशा में एक स्वतःस्फूर्त प्रयास के रूप में निरूपित किया जा सकता है। प्रवास स्थायी, अस्थायी अथवा मौसमी हो सकता है। यह गाँव से गाँव, गाँव से नगर, नगर से नगर तथा नगर से गाँव की ओर हो सकता है। क्या आप महसूस करते हैं कि एक ही व्यक्ति दोनों एक आप्रवासी और एक उत्प्रवासी हो सकता है?

आप्रवास—प्रवासी जो किसी नए स्थान पर जाते हैं, आप्रवासी कहलाते हैं।

उत्प्रवास—प्रवासी जो एक स्थान से बाहर चले जाते हैं, उत्प्रवासी कहलाते हैं।

“जनसांख्यिकी” शब्द लैटिन शब्द ‘डेमोस’ से लिया गया है। जिसका अर्थ होता है ‘लोग’। इस तरह जनसांख्यिकी जनसंख्या का विज्ञान है। एक ओर जनसांख्यिकी आकार संरचना, लक्षणों, मानव-आबादी में परिवर्तनों और क्षेत्रीय वितरण से संबंधित मात्रात्मक अध्ययन है। दूसरी ओर यह जनसंख्या विकास के अंतर्निहित कारणों तथा निर्धारक तत्वों से भी संबंधित है। यह जनसंख्या घटक तथा परिस्थितियाँ साथ ही उनमें जैविक सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विन्यास के संदर्भ में आते परिवर्तनों की व्याख्या करने का प्रयास करता है। सामाजिक जनसांख्यिकी, जनसंख्या घटक को मुख्यतः सामाजिक स्तर पर देखता है। जनसंख्या आकार, वृद्धि, विकास, वितरण एवं संघटन — भारत विश्व में चीन के बाद दूसरा सर्वाधिक आबादी वाला देश है। इसकी आबादी 2001 में जनगणना के

अनुसार 103 करोड़ तथा 2011 की जनगणना के अनुसार 125 करोड़ है। भारत की जनसंख्या आजादी के बाद दो गुने से भी ज्यादा बढ़ी है। 1951 में भारत की जनसंख्या 36 करोड़ थी, जिसमें 1941-1951 के दशक में वार्षिक वृद्धि की औसत दर 1.25 प्रतिशत थी तथा 1991-2001 में 2.1% है। भारत की जनसंख्या का आकार स्वयं ही अधिक है और यह बढ़ती जा रही है। विकास कार्यक्रमों के माध्यम से गहन प्रयासों के बावजूद, उपलब्धियों बढ़ती माध्यम से गहन प्रयासों के बावजूद, उपलब्धियाँ बढ़ती जनसंख्या की आवश्यकताओं के साथ सामान्यजस्ता नहीं मिला पा रही हैं। प्रति व्यक्ति खाद्यान्न की पैदावार की इन वर्षों में बढ़ोतरी हुयी है। किन्तु जनसंख्या की ऊँची दर के कारण प्रति व्यक्ति वृद्धि कम हो रही है। इन वर्षों में आवासो की कमी में भी वृद्धि हुयी है। स्वास्थ्य और चिकित्सा सेवा का वांछित स्तर प्राप्त नहीं किया जा सका है। भारत की अधिकांश जनता ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करती है। 2001 की जनगणना के अनुसार 72% जनसंख्या गांव में ही रहती है और 28% शहरों तथा कस्बों में यहाँ नगरीकरण की प्रक्रिया बहुत तेज गति से चल रही है इसके अंतर्गत सबसे बड़े शहर मेट्रोपोलिस ही सबसे अधिक बढ़ते जा रहे हैं। इस समय भारत में 5,161 कस्बे और शहर हैं जिनमें 28.60 करोड़ लोग रहते हैं तथा नगरीय जनसंख्या का दो/तिहाई से भी अधिक भाग 27 बड़े शहरों में रहता है। जिसकी आबादी 10 लाख से ज्यादा है। अतः स्पष्ट है कि भारत में अपेक्षाकृत बड़े शहरों में जनसंख्या का संगठन बढ़ा है। जनसंख्या वृद्धि के घटक – जन्म, मृत्यु, प्रवासन तीन तथ्य किसी भी देश की जनसंख्या के आकार में परिवर्तन के कारक होते हैं। जनन क्षमता, मृत्युदर तथा प्रवासन। जन्मदर की गणना कैलेण्डर वर्ष के दरम्यान एक क्षेत्र विशेष में हुए जीवित जन्म को उस वर्ष के मध्य वर्ष की जनसंख्या से विभाजित कर के किया जाता है। जन्मदर सामान्यतः प्रति हजार जनसंख्या से दशायाँ जाता है। जनसंख्या वृद्धि दर में जनन क्षमता की में सीधा संबंध होता है। यह संख्या उस पूरी जनसंख्या को सूचित करती है जिसमें पुरुष साथ ही अल्पव्यस्क तथा अतिव्यस्क औरतें शामिल होती है। भारत में प्रायः उच्च जन्मदर रही है। 20वीं शताब्दी के प्रथम दशक में भारत के लिए संभावित जन्म दर 49.2 प्रति हजार था। 1951-61 के दशक में, जो हमारी आजादी के बाद का दशक है जन्म दर में चार बिन्दुओं की गिरावट आयी और यह लगभग प्रति हजार जनसंख्या 45 थी। नमूना पंजीकरण विधि के अनुसार 2002 में भारत में जन्मदर 25.8/1000 थी। राज्य स्तर पर इसमें व्यापक भिन्नता पायी गयी है। मृत्युदर-एक वर्ष में हुए संपूर्ण पंजीकृत मृत्यु का उस वर्ष के मध्य वर्ष में संपूर्ण जनसंख्या का एक हजार से गुणित अनुपात होता है। यह जनसंख्या के विभिन्न समूहों के मृत्यु दरों के अनुभवों को समाहित करता है। उम्र तथा लिंग संरचना का इसमें ध्यान नहीं रखा गया है। जैसे यदि किसी देश की मृत्यु दर जिसमें बड़ों की संख्या ज्यादा है। उतनी ही होगी जितनी किसी दूसरे देश की, जहाँ बुढ़ावे का यह अनुपात काफी कम है। इन देशों की मृत्यु दर की परिस्थितियों को समान नहीं माना जा सकता है। 1921 तक भारत में मृत्यु दर उच्च थी, जो 1911-21 के दशक में सर्वाधिक हो गयी जिसका कारण था इन्फ्लुएंजा महामारी। 1971-81 तक औसत मृत्युदर 48.6% प्रति हजार जनसंख्या से गिरकर 14.9 प्रति हजार जनसंख्या हो गयी। नमूना पंजीकरण विधि का अनुमान है वर्ष कि 1988 के लिए स्थूल मृत्यु दर 11.0 प्रति हजार जनसंख्या थी और यह वर्ष 2000 में घटकर 8.5 प्रति हजार हो गयी है। प्रवास जनसंख्या वृद्धि के निर्धारक के रूप में प्रवास एक महत्वपूर्ण घटक है जो जनसंख्या वृद्धि के साथ-साथ जनसंख्या संरचना के सभी पक्षों को प्रभावित करता है। जिसका कारण सामाजिक संरचनाओं में महत्वपूर्ण परिवर्तन दृष्टिगत होता है। स्वतंत्रोत्तर काल में संचार, यातायात के साधनों में वृद्धि के कारण जनसंख्या के प्रवास में तेजी से वृद्धि हुयी है। जिसे हम दो रूपों में देख सकते हैं—

## 1. अंतर्राष्ट्रीय प्रवास तथा

2. राष्ट्रीय प्रवास स्वतंत्रता के पश्चात अंतर्राष्ट्रीय प्रवास के दौरान भारत से बाहर जाने वाले उत्प्रवासियों में मुख्य रूप से खाड़ी देशों में श्रमिक के तौर पर तथा यूरोप, अमेरिका तथा कनाडा आदि देशों में भी भारतीय प्रवासी पाये जाते हैं। भारत में आने वाले अप्रवासियों में नेपाल, तिब्बत, भूटान एवं बांग्लादेश से आने वाले लोगों को एवं शरणार्थियों को शामिल किया जाता है। जो भारतीय जनसांख्यिकी संरचना को प्रभावित करते हैं। आंतरिक प्रवास के अंतर्गत विवाह के करण और मजदूरी करने के लिए गांव से शहरों की तरफ प्रवास दर अपेक्षाकृत अधिक दिखाई देती है। औद्योगिकीकरण के कारण गांव से नगरों में नगरों से नगरों में प्रवास में वृद्धि हुयी है।

## 7.4 गतिशील जनसंख्या

लोग बेहतर आर्थिक और सामाजिक जीवन के लिए प्रवास करते हैं। प्रवास को प्रभावित करने वाले कारकों के दो समूह हैं। प्रतिकर्ष कारक बेरोजगारी, रहन-सहन की निम्न दशाएँ, राजनीतिक उपद्रव, प्रतिकूल जलवायु, प्राकृतिक विपदाएँ, महामारियाँ तथा सामाजिक-आर्थिक पिछड़ेपन जैसे कारण उद्गम स्थान को कम आकर्षित बनाते हैं। अपकर्ष कारक काम के बेहतर अवसर और रहन-सहन की अच्छी दशाएँ, शांति व स्थायित्व, जीवन व संपत्ति की सुरक्षा तथा अनुकूल जलवायु जैसे कारण गंतव्य स्थान को उद्गम स्थान की अपेक्षा अधिक आकर्षक बनाते हैं।

**जनसंख्या वृद्धि की प्रवृत्तियाँ**—पृथ्वी पर जनसंख्या 700 करोड़ से भी अधिक है। इस आकार तक पहुचने में जनसंख्या को शताब्दियाँ लगी हैं। आरंभिक कालों में विश्व की जनसंख्या धीरे-धीरे बढ़ी। विगत कुछ सौ वर्षों के दौरान ही जनसंख्या आश्चर्यजनक दर से बढ़ी है। जनसंख्या वृद्धि की कहानी बताता है। लगभग 8000 से 12000 वर्ष पूर्व कृषि के उद्भव व आरंभ के पश्चात् जनसंख्या का आकार बहुत छोटा था—मोटे तौर पर 80 लाख। ईसा की पहली शताब्दी में जनसंख्या 30 करोड़ से कम थी। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में बढ़ते विश्व व्यापार ने जनसंख्या की तीव्र वृद्धि के लिए मंच तैयार किया। 1750 ई. के आस-पास जब औद्योगिक क्रांति का उदय हुआ, विश्व की जनसंख्या 55 करोड़ थी। अठारहवीं शताब्दी में औद्योगिक क्रांति के पश्चात् विश्व जनसंख्या में विस्फोटक वृद्धि हुई अब तक प्राप्त प्रौद्योगिकी प्रगति ने जन्म दर को घटाने में सहायता की तथा त्वरित जनसंख्या वृद्धि के लिए मंच प्रदान किया।

**विश्व जनसंख्या के दो गुना होने की अवधि**—मानव जनसंख्या को प्रारंभिक एक करोड़ होने में 10 लाख से भी अधिक वर्ष लग गए। किंतु इसे 5 अरब से 6 अरब होने में मात्र 12 वर्ष लगे। विश्व जनसंख्या के दो गुना होने की अवधि तेजी से घट रही है। विभिन्न प्रदेशों में उनकी जनसंख्या के दो गुना होने में अत्यधिक भिन्नताएँ पाई जाती हैं। विकसित देश विकासशील देशों की तुलना में अपनी जनसंख्या दो गुना करने में अधिक समय ले रहे हैं। जनसंख्या की अधिकतर वृद्धि विकासशील विश्व में हो रही है जहाँ जनसंख्या विस्फोट हो रहा है। ऐसा क्यों है?

**जनसंख्या परिवर्तन के स्थानिक प्रारूप**—विश्व के विभिन्न भागों में जनसंख्या वृद्धि की तुलना की जा सकती है। विकसित देशों में विकासशील देशों की तुलना में जनसंख्या वृद्धि कम है। जनसंख्या वृद्धि और आर्थिक विकास

में ऋणात्मक सह-संबंध पाया जाता है। यद्यपि जनसंख्या परिवर्तन की वार्षिक दर (1.4 प्रतिशत)

निम्न प्रतीत होती है, वास्तव में ऐसा नहीं है। इसका कारण है :

- जब एक निम्न वार्षिक दर अत्यंत बड़ी जनसंख्या पर लागू होती है तो इससे जनसंख्या में विशाल परिवर्तन होगा
- यद्यपि वृद्धि दर निरंतर घटती रहे तो भी कुल जनसंख्या प्रतिवर्ष बढ़ती है। प्रसव के दौरान, मृत्यु दर की भाँति, शिशु मृत्यु दर में भी वृद्धि हुई हो सकती है।

**जनसंख्या परिवर्तन का प्रभाव**—एक विकासशील अर्थव्यवस्था में जनसंख्या की अल्प वृद्धि अपेक्षित है। फिर भी एक निश्चित स्तर के बाद जनसंख्या वृद्धि समस्याओं को उत्पन्न करती है। इनमें से संसाधनों का हास सर्वाधिक गंभीर है। जनसंख्या का हास भी चिंता का विषय है। यह इंगित करता है कि वे संसाधन जो पहले जनसंख्या का पोषण करते थे अब उस जनसंख्या के पोषण में सक्षम नहीं रहे। एड्स/एच.आई.वी. (एक्वायर्ड इम्यून डेफिसिएंसी सिंड्रोम) जैसी घातक महामारियों ने अफ्रीका, स्वतंत्र राष्ट्रों के राष्ट्रमंडल (सी.आई.एस.) के कुछ भागों और एशिया में मृत्यु दर बढ़ा दी है और औसत जीवन-प्रत्याशा घटा दी है। इससे जनसंख्या वृद्धि धीमी हुई है।

अधिकांश जनसांख्यिकीय संकल्पनाओं को दरों या अनुपातों के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है, उनमें दो संख्याएँ शामिल होती हैं। इन संख्याओं में से एक खास आँकड़ा होता है जिसकी गणना एक विशिष्ट भौगोलिक-प्रशासनिक इकाई के लिए की जाती है; और दूसरी संख्या तुलना के लिए मानक का काम देती है। उदाहरण के लिए, जन्म दर दर्शाने के लिए किसी एक विशेष क्षेत्र में (जो एक पूरा देश, एक राज्य, एक जिला अथवा अन्य कोई प्रादेशिक इकाई हो सकता है), एक निर्धारित अवधि के दौरान (जो आमतौर पर एक वर्ष की होती है) हुए जीवन्त-जन्मों यानी जीवित उत्पन्न हुए बच्चों की कुल संख्या को उस क्षेत्र में हजार की इकाइयों में अभिव्यक्त कुल जनसंख्या से भाग दिया जाता है। दूसरे शब्दों में, जन्म दर प्रति एक हजार की जनसंख्या के पीछे जीवित उत्पन्न हुए बच्चों की संख्या होती है।

इसी प्रकार मृत्यु दर भी एक ऐसा ही आँकड़ा है जो किसी एक क्षेत्र-विशेष में एक निर्धारित अवधि के दौरान हुई मृत्यु की संख्या के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है। ये आँकड़े संबंधित परिवारों द्वारा उनके यहाँ हुए जन्म या मृत्यु के मामलों की सूचना दिए जाने पर निर्भर करते हैं। वस्तुतः अधिकांश देशों में, जिनमें भारत भी एक है, लोगों को उनके यहाँ हुए जन्म या मृत्यु के बारे में कानूनन उपयुक्त प्राधिकरण को सूचना देनी होती है। यह उपयुक्त प्राधिकरण गाँवों के मामलों में पुलिस थाना या प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र होता है और कस्बों तथा शहरों के मामले में वहाँ का संबंधित नगरपालिका का कार्यालय। प्राकृतिक वृद्धि दर या जनसंख्या संवृद्धि दर का तात्पर्य है जन्म दर और मृत्यु दर के बीच का अंतर। जब यह अंतर शून्य होता है तब हम यह कह सकते हैं कि जनसंख्या 'स्थिर' हो गई है या वह 'प्रतिस्थापन स्तर' पर पहुँच गई है। यह एक ऐसी अवस्था होती है जब जितने बूढ़े लोग मरते हैं उनका खाली स्थान भरने के लिए उतने ही नए बच्चे पैदा हो जाते हैं। कभी-कभी कुछ समाजों को ऋणात्मक संवृद्धि दर की स्थिति से भी गुजरना होता है; अर्थात् उनका प्रजनन शक्ति स्तर प्रतिस्थापन दर से नीचा रहता है। आज विश्व में कई ऐसे देश और क्षेत्र हैं जहाँ ऐसी स्थिति है जैसे, जापान, रूस, इटली एवं पूर्वी यूरोप। दूसरी ओर, कुछ समाजों में जनसंख्या संवृद्धि दर बहुत ऊँची हो जाती है विशेष रूप से उस स्थिति में, जब वे ऊपर वर्णित जनसांख्यिकीय संक्रमण से गुजर रहे होते हैं। प्रजनन दर का अर्थ है बच्चे पैदा कर सकने की आयु (जो आमतौर पर 15 से 49 वर्ष की मानी जाती है) वाली प्रति 1000 स्त्रियों की इकाई के पीछे जीवित जन्में बच्चों की

संख्या। लेकिन ऊपर चर्चित अन्य दरों (जन्म तथा मृत्यु दरों) की तरह यह दर भी अशोधित दर ही होती है यानी कि यह संपूर्ण जनसंख्या के लिए मोटे तौर पर एक स्थूल औसत दर होती है और इसमें विभिन्न आयु वर्गों में पाए जाने वाले अंतरों का कोई ध्यान नहीं रखा जाता। विभिन्न आयु वर्गों के बीच पाया जाने वाला अंतर कभी-कभी संकेतकों के अर्थ को प्रभावित करने में बहुत महत्वपूर्ण हो सकता है। इसीलिए जनसांख्यिकीविद् भी आयु विशेष की दरों का हिसाब लगाते हैं। सकल प्रजनन दर से तात्पर्य है ऐसे जीवित जन्म लेने वाले बच्चों की कुल संख्या जिन्हें कोई एक स्त्री जन्म देती यदि वह बच्चे पैदा करने के आयु वर्ग में पूर्णतः जीवित रहती और इस आयु वर्ग के प्रत्येक हिस्से में औसत उतने ही बच्चों पैदा करती जितने कि उस क्षेत्र में आयु विशेष की प्रजनन दरों के अनुसार होने चाहिए। इस बात को कहने का एक दूसरा तरीका यह है कि सकल प्रजनन दर 'स्त्रियों के एक विशेष वर्ग द्वारा उनकी प्रजनन आयु की अवधि के अंत तक पैदा किए गए बच्चों की औसत संख्या के बराबर होती है।

---

## सारांश

---

जनसंख्या परिवर्तन किसी क्षेत्र की अर्थिक प्रगति, सामाजिक उत्थान, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का महत्वपूर्ण सूचक होता है। मोटे तौर पर मृत्यु दर किसी क्षेत्र की जनांकिकीय संरचना, सामाजिक उन्नति और आर्थिक विकास के स्तर द्वारा प्रभावित होती है। भारत की अधिकांश जनता ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करती है। 2001 की जनगणना के अनुसार 72% जनसंख्या गांव में ही रहती है और 28% शहरों तथा कस्बों में यहां नगरीकरण की प्रक्रिया बहुत तेज गति से चल रही है इसके अंतर्गत सबसे बड़े शहर मेट्रोपोलिस ही सबसे अधिक बढ़ते जा रहे हैं। इस समय भारत में 5,161 कस्बे और शहर हैं जिनमें 28.60 करोड़ लोग रहते हैं तथा नगरीय जनसंख्या का दो/तिहाई से भी अधिक भाग 27 बड़े शहरों में रहता है। जिसकी आबादी 10 लाख से ज्यादा है। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में बढ़ते विश्व व्यापार ने जनसंख्या की तीव्र वृद्धि के लिए मंच तैयार किया। 1750 ई. के आस-पास जब औद्योगिक क्रांति का उदय हुआ, विश्व की जनसंख्या 55 करोड़ थी। एक निर्धारित अवधि के दौरान (जो आमतौर पर एक वर्ष की होती है) हुए जीवित-जन्मों यानी जीवित उत्पन्न हुए बच्चों की कुल संख्या को उस क्षेत्र में हजारों की इकाइयों में अभिव्यक्त कुल जनसंख्या से भाग दिया जाता है।

---

## अभ्यास प्रश्नोत्तर

---

### बहुविकल्पीय प्रश्न

- जनसंख्या वृद्धि किस प्रकार की होती है?
 

(a) सकारात्मक	(b) नकारात्मक
(c) तेज व धीरे	(d) उपरोक्त सभी
- सन् 1921 के बाद भारत में मृत्यु दर में कमी आने का कारण क्या था?
 

(a) अंग्रेजों द्वारा भारतीयों का ख्याल रखना	(b) स्वास्थ्य सेवाओं का विकास
(c) भारतीयों द्वारा अपना ख्याल रखना	(d) सरकार द्वारा मदद



3. मृत्यु दर किसके द्वारा प्रभावित होती हैं?
 

(a) सामाजिक उन्नति	(b) आर्थिक विकास
(c) जनांकिकीय संरचना	(d) उपरोक्त सभी
4. प्रवास के कारण किसकी जनसंख्या में वृद्धि होती है?
 

(a) उदगम स्थल की	(b) गंतव्य स्थल की
(c) गाँव की	(d) विभिन्न राज्यों की
5. आप्रवासी किसे कहते हैं?
 

(a) गाँव से शहर जाने वाले	(b) नए स्थान पर जाने वाले
(c) बड़े नगरों में जाने वाले	(d) उपरोक्त सभी
6. जनसांख्यिकी का क्या अर्थ होता है?
 

(a) लोग	(b) परिवार
(c) समुदाय	(d) समिति
7. प्रवास में वृद्धि का प्रमुख कारण क्या है?
 

(a) संचार के साधनों का विकास	(b) परिवहन के साधनों का विकास
(c) तकनीकी का विकास	(d) उपरोक्त सभी
8. किन देशों में जनसंख्या वृद्धि अधिक है?
 

(a) पश्चिमी देश	(b) यूरोपीय देश
(c) एशियाई देश	(d) अमीर देशों में
9. प्रजनन दर की आयु कौन-सी मानी जाती है?
 

(a) 15-49 वर्ष	(b) 20-40 वर्ष
(c) 18-50 वर्ष	(d) 16-40 वर्ष

### लघु उत्तरीय प्रश्न

1. जनसंख्या परिवर्तन से क्या अभिप्राय है?
2. भारत में जनसंख्या वृद्धि कब से शुरू हुई थी और क्यों?
3. जनसंख्या वृद्धि के घटकों की विस्तृत व्याख्या कीजिए।

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. जनसंख्या वृद्धि की प्रवृत्तियों पर टिप्पणी कीजिए।
2. जनसंख्या परिवर्तन के स्थानिक परिवर्तन पर टिप्पणी कीजिए।
3. जनसंख्या परिवर्तन के प्रभावों की व्याख्या कीजिए।

## संदर्भ पुस्तकें

---

1. समाजशास्त्र कक्षा-11 एनसीईआरटी
2. समाजशास्त्र कक्षा-12 एनसीईआरटी
3. जनसंख्या भूगोल, आर.सी. चांदना
4. समाज की समझ, योगेश अटल
5. समाजशास्त्र-अवधारणा एवं सिद्धांत, जे.पी. सिंह

# भारत के ग्रामीण समाज में जाति की भूमिका

- 8.1 परिचय
- 8.2 ग्रामीण समाज में जजमानी प्रथा
- 8.3 ग्रामीण समाज में आजादी के पश्चात् कृषि गत परिवर्तन
- 8.4 ग्रामीण समुदाय में सामुदायिक विकास कार्यक्रम
- 8.5 आधुनिक समय में जाति प्रथा
- 8.6 अनुसूचित जाति आयोग

---

## 8.1 परिचय

---

जजमानी प्रणाली के तहत भूमिगत उच्च जातियों और भूमिहीन सेवा जातियों के बीच वस्तुओं और सेवाओं का आदान-प्रदान होता था। सेवा जातियों में परम्परागत रूप से बुनकर, चमड़े के श्रमिक, लोहार, सुनार, नाई, धोबी, और समुदाय की सेवा करने वाले कारीगरों के समूह शामिल होते थे। भूमिगत उच्च जाति वाले जजमान संरक्षक होते थे, और सेवा जाति वाले 'कामिन' कहलाते थे। तकनीकी तत्वों के अर्न्तगत बीज, उर्वरक, उन्नत हल, ट्रैक्टर, सिंचाई आदि कृषि आदानों तथा विधियों का समावेश है जिनके उपयोग से कृषि उन्नत दिशा की ओर उन्मुख होती है। भारत में ग्रामीण एवं कृषि रुपान्तरण भारतीय समाज प्राथमिक रूप से ग्रामीण समाज रहा है। हालांकि नगरीकरण बढ़ रहा है परन्तु आज भी भारत के बहुसंख्यक लोग गाँव में ही रहते हैं। परिवर्तन की इन प्रक्रियाओं को आजमाने और समझने के लिए समाजशास्त्रियों एवं सामाजिक मानवविज्ञानियों ने कई नई-नई संकल्पनाएँ गढ़ीं। इस आयोग में एक अध्यक्ष, एक उपाध्यक्ष और तीन पूर्णकालिक सदस्य (एक महिला सदस्य सहित) शामिल हैं। कार्यकारी अध्यक्ष, उपाध्यक्ष और NCST के सदस्यों का कार्यकाल पदभार ग्रहण करने की तिथि से लेकर तीन वर्ष तक का होता है।

---

## 8.2 ग्रामीण समाज में जजमानी प्रथा

---

औपनिवेशिक युग में जाति व्यवस्था ने काफी गहराई तक जड़ें जमाई हुई थीं। उस वक्त प्रत्येक जाति के सदस्यों को पैदा होते ही उपहार स्वरूप मिली परम्पराओं और कार्य का पालन करना होता था, हालांकि विभिन्न जातियों को सामाजिक रूप से अलग किया गया, फिर भी उस समय कई जातियाँ एक दूसरे पर निर्भर रहती थी। इस तरह की परस्पर निर्भरता को "जजमानी प्रणाली" का नाम दिया गया था।

इस प्रणाली के तहत भूमिगत उच्च जातियों और भूमिहीन सेवा जातियों के बीच वस्तुओं और सेवाओं का आदान-प्रदान होता था। सेवा जातियों में परम्परागत रूप से बुनकर, चमड़े के श्रमिक, लोहार, सुनार, नाई, धोबी, और समुदाय की सेवा करने वाले कारीगरों के समूह शामिल होते थे। भूमिगत उच्च जाति वाले जजमान संरक्षक होते थे, और सेवा जाति वाले 'कामिन' कहलाते थे। यह प्रणाली वंशानुगत थी, इसलिए इसमें जजमानी और कामिन अधिकार मृतक जजमान और कामिन के उत्तराधिकारी के बीच में समान रूप से वितरित किये गये थे। यानी भूमिहीन सेवा जातियों से संबंधित परिवार पीढ़ी दर पीढ़ी भूमिगत उच्च जातियों के परिवारों को अपनी विशेष सेवाएँ प्रदान करते रहेंगे। इसमें यदि किसी व्यक्ति की केवल बेटी होती थी, तो उसका दामाद इसे आगे बढ़ाता था। अगर कोई निःसंतान है तो उसके किसी निकटतम रिश्तेदार को इसे आगे बढ़ाना पड़ता था।

जजमानी प्रणाली की शब्दावली विलियम विसार द्वारा भारतीय सामाजिक मानव विज्ञान में पेश की गई थी। जिसमें उन्होंने अपने उत्तर प्रदेश के एक गाँव के अध्ययन में, यह पाया कि विभिन्न जातियों द्वारा वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन का आदान-प्रदान होता था। वहीं रूपांतर के साथ, यह प्रणाली पूरे भारत में मौजूद थी।

**जजमानी प्रथा :** भारत में ग्रामीण समुदाय के अंतर्गत विभिन्न जातियों के परिवारों के बीच एक सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था, जिसके अनुसार एक परिवार दूसरे को संपूर्ण रूप से कुछ नियम सेवाएं देता है। जैसे कर्मकांड संपन्न करवाना, हजामत बनाना या कृषि हेतु मजदूरी करना। ये संबंध पीढ़ियों तक जारी रहते हैं और भुगतान सामान्यः नकद की अपेक्षा फसल के एक नियत भाग के रूप में किया जाता है।

संरक्षक परिवार को 'जजमान' (संस्कृत शब्द 'यजमान', यानी 'त्यागी संरक्षक', जो पुजारियों का उपयोग कर्मकांड कराने हेतु करता है) और आश्रित परिवार 'जजमानी' कहलाते हैं। संरक्षक परिवार स्वयं दूसरे का आश्रित हो सकता है, जिसे वह कुछ सेवाओं के लिए संरक्षित करता है और उनके द्वारा वह भी कुछ सेवाओं हेतु संरक्षण पाता है। वंशानुगत प्रवृत्ति कुछ प्रकार की बंधुआ मजदूरी को बढ़ाती है, क्योंकि वंशानुगत संरक्षकों की सेवा पारिवारिक बाध्यता है।

ग्राम समुदाय हमारे समाज की मूल इकाई रही है और इसमें ग्राम की सभी जातियाँ, ग्राम समुदाय के अंग रूप से ही व्यवस्थित थीं। ये सभी जातियाँ मूलतः पेशों पर आधारित होती थीं।

'जजमानी प्रथा' में कृषक-गृहस्थ ही जजमान होता था और बाकी सब लोग एक प्रकार से उसके पुरोहित होते थे। चाहे वे ब्राह्मण पुरोहित हों अथवा कुम्हार, तेली, नाई,, धोबी, दर्जी, लुहार, बढई, सुनार, चर्मकार, धुनिया, बारी, माली, पटहारे आदि ग्रामीण कारीगर हों, सभी कृषक-गृहस्थों को अपना जजमान मानते थे। और वे उसके लिए सामग्री प्रस्तुत करते थे। यह सामग्री दो प्रकार की होती थी-एक तो सीधे कृषि के उपयोग की, जैसे हल बनाना या बैलगाड़ी बनाना। दूसरी वह जो कि कृषि की नहीं बल्कि कृषकों तथा अन्य सभी ग्रामीणों की आवश्यकताओं की पूर्ति करती थी। इन ग्रामीण कारीगरों के अतिरिक्त गाँवों में एक वर्ग हलवाहों का होता था, जो न कृषि के लिए, न कृषकों के लिए कोई सामग्री बनाता था किन्तु वह सीधे कृषि कार्य में कठोर शरीर श्रम से कृषकों की सेवा सहायता करता था। यह वर्ग भूमिहीन कृषकों का था जो कृषि तो करता था, लेकिन दूसरों की भूमि पर। हाँ, कृषकों ने उसे थोड़ी-बहुत भूमि वंश परम्परा से उनकी सेवाओं के पुरस्कार स्वरूप दे रखी थी, किन्तु इससे इनका भरण-पोषण नहीं होता था। मुख्य रूप से वे भूमिधर कृषकों के लिए हल चलाकर ही अपनी जीविका का निर्वाह करते थे।

जजमानी व्यवस्था मुख्य पेशों और सेवाओं के आधार पर गठित थी। इस प्रकार कुल मिलाकर एक सुदृढ़ ग्राम समुदाय बनता था, जो सबकी सेवाओं का पारस्परिक हित के लिए उपयोग करता था।

जजमानी व्यवस्था का अर्थ

जजमानी व्यवस्था परम्परागत व्यवस्था पर निर्भर है। इस व्यवस्था में प्रत्येक जाति का एक निश्चित व्यवसाय तय हो जाता है जो परम्परागत होता है तथा यह पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होता रहता है।

जजमानी व्यवस्था की विशेषताएँ

**1. सामुदायिक संगठन में सहायक**—जजमानी व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न ऊँची-नीची जातियों को पारस्परिक रूप से एक-दूसरे की सेवाओं पर निर्भर रहना पड़ता है। इस पारस्परिक आश्रितता तथा निर्भरता के कारण ग्रामीण समाज का संगठन सुदृढ़ बना रहता है। इस प्रकार ग्रामीण समुदाय के लोगों में सामूहिक इच्छा और संगठन की भावना विकसित होती है।

**2. मानसिक सुरक्षा**—जजमानी प्रथा के कारण परिजन के जीवन निर्वाह का साधन पूर्व निश्चित होता है। व्यक्ति को यह सोचना नहीं पड़ता है कि उसको क्या व्यवसाय करना है।

**3. शान्ति व सन्तोष की भावना**—यह व्यवस्था ग्रामीण समुदाय के सदस्यों को सन्तोष व शान्ति प्रदान करती है। परिजनों के व्यवसाय पैतृक तथा परम्परागत होने के कारण उन्हें नये धंधों को ढूँढ़ना नहीं पड़ता है।

**4. स्थायी सम्बन्ध**—इस व्यवस्था का प्रथम लक्षण यह है कि इसमें जजमान और परिजन के मध्य स्थायी सम्बन्ध पाये जाते हैं।

**5. पैतृक सम्बन्ध**—जजमान और परिजन के मध्य पाये जाने वाले सम्बन्धों का स्वरूप पैतृक होता है। जजमानी अधिकार सम्पत्ति के अधिकारों के समान ही होते।

**1. व्यवसाय की सुरक्षा**—जजमानी प्रणाली में व्यवसाय की सुरक्षा रहती थी। चूँकि यह प्रणाली वंशानुगत थी, इसलिए कामिन को अपने व्यवसाय का आश्वासन रहता था। इसमें बंधा हुआ हर व्यक्ति यह जानता था कि यदि वह अपने परिवार के व्यवसाय को तोड़ देता है तो वह अपनी आजीविका कमाने में अक्षम हो जाएगा।

**2. आर्थिक सुरक्षा**—यह कामिन को आर्थिक सुरक्षा प्रदान करती थी, क्योंकि जजमान उसकी सारी जरूरतों को पूरा करता था। हर आर्थिक संकट में जजमान कामिन की मदद करता था।

**शोषण का स्रोत** : यह प्रणाली शोषणकारी होती थी। इसमें भूमिहीन सेवा जातियों का शोषण पितृत्व संबंधों की वजह से किया जाता था। ऑस्कर लुईस ने रामपुर गाँव में जजमानी प्रणाली के अपनी अध्ययन में बताया कि पहले ये व्यक्तिगत संबंधों पर आधारित होता था, लेकिन अब यह जजमानों द्वारा शोषण का साधन बन गया।

**उच्चता और असमानता का अनुभव** : इस प्रणाली में कामिन को कम माना जाता था, जबकि जजमानों को उच्च दर्जा दिया जाता था। चूँकि यह प्रणाली अनुवांशिकता पर आधारित थी, इसलिए कामिन अन्य नौकरी और व्यवसाय में या अपनी आर्थिक स्थिति में भी कोई बदलाव नहीं कर सकते थे। इसने लोगों की मानसिकता पर प्रभाव डाला और जजमानों द्वारा भी उनका शोषण और दुर्व्यवहार किया जाने लगा।

**3. जाति व्यवस्था द्वारा समर्थित** : जाति व्यवस्था जजमानी प्रणाली का आधार थी, जो जाति प्रथा की सभी

बुराइयों से ग्रस्त थी।

परिवहन और संचार के तेजी से विस्तार के कारण, इस प्रणाली में काफी गिरावट आ गयी। कामिन गाँव से बाहर जाकर अन्य व्यवसाय की तलाश करने में सक्षम हो गए और साथ में सामाजिक सुधार आंदोलनों के प्रभाव के कारण शोषित जातियों को काफी लाभ मिलने लगा। आर्य समाज जैसे विभिन्न धार्मिक सुधार आंदोलनों ने जजमानी प्रणाली को बंद करने में काफी योगदान दिया। आज अधिकांश गाँव समुदाय जजमानी-कामिन प्रणाली के अधीन नहीं है।

### 8.3 ग्रामीण समाज में आजादी के पश्चात् कृषि गत परिवर्तन

कृषि क्षेत्र में उत्पादन दो प्रमुख तत्वों पर निर्भर करता है-

1. तकनीकी
2. संस्थागत

तकनीकी तत्वों के अन्तर्गत बीज, उर्वरक, उन्नत हल, ट्रैक्टर, सिंचाई आदि कृषि आदानों तथा विधियों का समावेश है जिनके उपयोग से कृषि उन्नत दिशा की ओर उन्मुख होती है। संस्थानात्मक सुधारों के अन्तर्गत भू-स्वामित्व का कृषकों के हित में पुनर्वितरण, खेतों के आकार में सुधार, भू-धृति की सुरक्षा की व्यवस्था, लगान का नियमन आदि आते हैं। उपर्युक्त आधार से स्पष्ट होता है कि भूमि सुधार का दोहरा उद्देश्य है।

1. एक ओर इसका उद्देश्य चकबन्दी और जोतों को अधिकतम तथा न्यूनतम सीमा लागू करके लाभकर जोतों की स्थापना करना है ताकि श्रम तथा पूंजी का अपव्यय न होकर भूमि का अपेक्षाकृत अधिक उपयोग किया जा सके।

2. दूसरी ओर इसका उद्देश्य काश्तकारों में भूमि का पुनर्वितरण करना और पट्टे पर दी गयी भूमि की शर्तों में सुधार करना है ताकि कृषक-शोषण को समाप्त किया जा सके।

इसके अतिरिक्त भूमि-सुधार के कुछ प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं-

- (i) भू-धारण अधिकार की सुरक्षा करना, लगान निश्चित करना तथा स्वयं-अधिकार का निश्चयीकरण करना।
- (ii) भूमि सुधार का प्रमुख लक्ष्य बिचौलियों को हटाकर कृषक और राज्य के बीच सीधा सम्बन्ध स्थापित करना है।

उपर्युक्त उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु भूमि-सुधार के अन्तर्गत निम्नलिखित विषय शामिल किये गये हैं-

- (i) बिचौलियों की समाप्ति
- (ii) लगान का नियमन, भू-धारण की सुरक्षा तथा काश्तकारों को भू-स्वामित्व प्रदान करना।
- (iii) जोतों की उच्चतम तथा निम्नतम सीमा का निर्धारण
- (iv) कृषि का पुनर्गठन जिसमें जोतों की चकबन्दी करना और उपविभाजन तथा विखण्डन को रोकना।
- (v) सहकारी फार्मों या सहकारी कृषि का गठन करना।

#### 1. बिचौलियों की समाप्ति-

स्वतन्त्रता के पश्चात् बिचौलियों की समाप्ति उन्मूलन के लिए राज्य-विधान सभाओं द्वारा अधिनियम बनाए गये। यद्यपि इन अधिनियमों का उद्देश्य बिचौलियों का उन्मूलन करना था किन्तु व्यवहार में इन्होंने जमींदारों को बिचौलियों के समरूप मान लिया। परिणामस्वरूप रैयतवारी व्यवस्था के अधीन लगान प्राप्त करने वाले और अनुपस्थित जमींदारों का एक वर्ग कानून की सीमा से बाहर रह गया। इस प्रकार बिचौलियों का वास्तविक उन्मूलन 1948 ई० में मद्रास के अधिनियम से आरंभ हुआ। इसके पश्चात् देश के सभी राज्यों जिनमें महाराष्ट्र की कुछ छोटी भू-धारणा प्रणालियों और इनामों को छोड़कर बिचौलियों का उन्मूलन लगभग हो चुका था। बिचौलियों से सम्बन्धित समस्याएँ-स्वतंत्रता के पश्चात् यद्यपि जमींदारों, भू-स्वामी जागीरदारों, ताल्लुकदारों ने बिचौलिया अधिकारों के उन्मूलन को स्वीकार किया परन्तु यह स्वाभाविक ही था कि जमींदारों ने अपने अधिकार हरण के लिए अधिक से अधिक क्षतिपूर्ति की मांग करना प्रारम्भ कर दिया तथा काश्तकारों द्वारा जमीन खाली करने के लिए दबाव बनाने लगे। परिणामतः क्षतिपूर्ति के सन्दर्भ में जमींदारी उन्मूलन अधिनियमों को पहले उच्च-न्यायालयों में चुनौती दी गयी फिर अधिनियमों के लिए सर्वोच्च न्यायालय में ले जाया गया। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा क्षतिपूर्ति के प्रश्न को न्याययोग्य ठहराया गया। परिणामस्वरूप संविधान की धारा 31 में संशोधन करना पड़ा जिसका परिणाम यह हुआ कि जमींदार न्यायोचित और कुछ स्थितियों में न्यायोचित से भी अधिक क्षतिपूर्ति प्राप्त करने में सफल हो गये।

## 2. भू-धारण सुधार—

1. पट्टे पर खेती की समस्याएँ-पट्टे पर खेती का काम प्रायः वे छोटे भू-स्वामी करते हैं जिन्हें अपने पास अपर्याप्त भूमि जान पड़ती है या फिर भूमिहीन श्रमिक। पट्टेदार किसानों के प्रमुखः तीन वर्ग पाये जाते हैं-

(क) स्थायी काश्तकार (ख) इच्छाधीन काश्तकार (ग) उपकाश्तकार स्थायी काश्तकार तथा कृषक स्वामी में केवल इतना अन्तर होता है कि पहले को जमींदार के हाथ लगान का भुगतान करना पड़ता है जबकि दूसरा सरकार को लगान देता है। काश्तकारों और उपकाश्तकारों की स्थिति अत्यन्त निर्बल है, वे शोषण का शिकार होते हैं। पट्टेदारी में सुधार के उपायों का निम्नलिखित वर्णन किया गया है-

1. पट्टेदारी में सुधार की प्राप्ति हेतु लगान का नियमन तय किया गया। स्वतन्त्रता से पहले लगान का नियमन या तो प्रथा के आधार पर होता था अथवा मांग और संभरण की बाजार की शक्तियों के आधार पर।

2. बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण भूमि की मांग में वृद्धि हुई तथा फलस्वरूप लगान की मात्रा में उत्तरोत्तर वृद्धि। हस्तशिल्प उद्योगों के पतन के कारण भूमि पर जनसंख्या का दबाव और अधिक बढ़ गया। प्रचलित लगान दर उपज का आधा भाग या उससे कुछ अधिक थी जो कि सामाजिक न्याय के किसी भी कसौटी से अधिक थी। परिणामस्वरूप प्रथम तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से लगान सकल उपज के एक चौथाई या पांचवें भाग के रूप में लिया जाने लगा। विभिन्न राज्यों में लगान नियमन के लिए आवश्यक कानून बनाए गये। जैसे-असम, मैसूर, मणिपुर और त्रिपुरा में अधिकतम लगान की दर सकल उपज के 20-25% के बीच नियत की गयी।

3. काश्तकारी अधिकार की सुरक्षा-भूमि सुधार के अर्न्तगत दूसरी पंचवर्षीय योजना के अर्न्तगत राज्यों ने मोटे तौर पर तीन विभिन्न प्रकार के खुदकाश्त सम्बन्धी नियम बनाए-(i) सभी मुजारों को पट्टे की पूर्ण सुरक्षा दी गयी और भू-स्वामियों को स्वयं काश्त के अधिकार से वंचित कर दिया गया। (ii) भू-स्वामियों को एक सीमित क्षेत्रफल तथा खुदकाश्त का अधिकार दिया गया जो किसी भी हालत में एक पारिवारिक जोत से अधिक नहीं

होना चाहिए। बशर्ते कि मुजारे के पास काशत के लिए एक न्यूनतम क्षेत्र बच जाए। (iii) भू-स्वामी द्वारा खुदकाशत के लिए जमीन पर एक सीमा लगा दी गयी है किन्तु सभी हालातों में यह आवश्यक नहीं कि मुजारे के पास एक न्यूनतम क्षेत्रफल काशत के लिए शेष बच जाए। उपर्युक्त विधानों के अन्तर्गत राज्यों को अलग-अलग श्रेणियों के अन्तर्गत विभाजित कर लागू किये गये। काशतकारी के लिए स्वामित्व अधिकार-द्वितीय पंचवर्षीय योजना में यह बताया गया कि वह भू-क्षेत्र जिन्हें भू-स्वामी पुनः प्राप्त नहीं कर सकते। काशतकार का भूमि खरीदने का अधिकार वैकल्पिक था किन्तु यह प्रभावी सिद्ध नहीं हुआ। तृतीय पंचवर्षीय योजना में वैकल्पिक अधिकार को समाप्त करके काशतकारों को भूमि-खरीदे जाने का सुझाव दिया गया। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अलग-अलग राज्यों ने अलग-अलग विधानों द्वारा काशतकारी के लिए स्वामित्व अधिकार को सुनिश्चित किया। भू-जोतों की अधिकतम सीमा का निर्धारण अधिकतम जोत की सीमा का विवाद (1972) और निर्णय कांग्रेस पार्टी की केन्द्रीय भू-सुधार समिति ने यह सुझाव दिया कि बारहमासी सिंचाई प्राप्त दो बार फसल उगाने वाले क्षेत्र में अधिकतम जोत की सीमा 30 स्टैण्डर्ड एकड़ से घटाकर 10 स्टैण्डर्ड एकड़ कर देनी चाहिए। इस विवाद को सुलझाने के लिए 23 जुलाई, 1972 को मुख्यमन्त्रियों के सम्मेलन में निम्नलिखित सिफारिशों की गईं- (i) किसी राज्य में सबसे उत्तर श्रेणी की भूमि, जिसे विश्वस्त सिंचाई सुविधाएँ उपलब्ध हों और जिस पर प्रति वर्ष कम-से-कम दो फसलें उगाई जा सकें, के लिए 10-18 एकड़ की उच्चतम सीमा निर्धारित होनी चाहिए। इसका निर्धारण करते समय भूमि की उर्वरता और अन्य परिस्थितियों को ध्यान में रखना चाहिए। निजी स्रोतों से प्राप्त सिंचाई वाली भूमि और जिस पर कम-से-कम दो फसलें उगाई जा सकती हों, के लिए 1.25 एकड़ भूमि को सार्वजनिक स्रोतों से सिंचाई प्राप्त भूमि के 1 एकड़ के बराबर मानना चाहिए किन्तु निजी स्रोतों से सिंचाई प्राप्त भूमि की उच्चतम सीमा 18 एकड़ से अधिक नहीं होनी चाहिए। 'निजी स्रोतों से प्राप्त सिंचाई' का अर्थ ट्यूबवैल या उत्पापक सिंचाई या डीजल अथवा बिजली द्वारा उपलब्ध कराई गई बारहमासी सिंचाई से है। (ii) ऐसी विश्वस्त सिंचाई वाली भूमि में जहाँ केवल एक ही फसल उगाई जा सकती है, उच्चतम सीमा 27 एकड़ से अधिक नहीं होगी।

व्यवहार्य इकाई के सम्बन्ध में निम्नलिखित सिफारिशों की गई हैं-

1. व्यवहार्य इकाई पांच व्यक्तियों का परिवार होगी। परिवार की परिभाषा में पति, पत्नी और उनके नाबलिंग बच्चे शामिल किए गए हैं जहाँ परिवार के सदस्यों की संख्या पांच से अधिक हो। पांच के बाद प्रत्येक अतिरिक्त सदस्य के लिए अतिरिक्त भूमि की छूट देनी होगी किन्तु ऐसा इस प्रकार किया जाएगा कि किसी पांच व्यक्तियों के परिवार को प्राप्त होने वाला क्षेत्र पांच व्यक्तियों के परिवार के लिए निर्धारित उच्चतम सीमा के दोगुने से अधिक न हो जाए। उच्चतम सीमा परिवार के सभी सदस्यों के स्वामित्वाधीन सकल क्षेत्र पर लागू होंगी।

2. जहाँ पति और पत्नी के पास अपने नाम में अलग-अलग भूमि हैं, दोनों के पास भू-सम्पत्ति के अधिकार को उच्चतम सीमा के अन्तर्गत माना जाएगा। जैसे उच्चतम सीमा से लागू होने से पूर्व प्रत्येक के पास भूमि हो।

3. प्रत्येक बालिंग बच्चे को उच्चतम सीमा के प्रयोग के लिए पृथक इकाई समझा जाएगा। मुख्यमन्त्रियों के सम्मेलन की सिफारिशों का अनुसरण करते हुए 17 राज्यीय सरकारों ने अधिकतम जोत विधान को संशोधित करके अधिकतम सीमा कम कर दी परन्तु अतिरिक्त भूमियों को प्राप्त करने में न्यायिक हस्तक्षेप के कारण प्रगति धीमी रही। अतिरिक्त भूमि का वितरण अतिरिक्त जोत की सीमा लागू करने के पश्चात् अतिरिक्त भूमि की प्राप्ति और



इसके वितरण की समीक्षा मार्च 1992 में राजस्व मंत्रियों के सम्मेलन में की गई। इस बात की ओर संकेत किया गया कि 75% भूमि न्यायालयों के समक्ष मुकद्दमेबाजी में फंसी हुई है और इसे मुक्त कराना चाहिए और इसका वितरण करना चाहिए। मार्च 1985 और जून 1992 के 7 वर्षों के बीच, केवल 7.11 लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि का वितरण किया गया। कुल कृषि-अधीन क्षेत्र के 2% से भी कम को अतिरिक्त क्षेत्र घोषित किया गया। यह बहुत ही थोड़ा है। ग्रामीण विकास मंत्रालय ने अपनी 1992-93 की वार्षिक रिपोर्ट में इसके निम्नलिखित मुख्य कारण बताए हैं-

1. पांच से अधिक सदस्यों वाले परिवारों द्वारा जोत की अधिकतम सीमा से दुगुनी भूमि अपने स्वामित्व में रखना।
2. परिवार में बालिग पुत्रों के लिए अलग अधिकतम जोत की सीमा का प्रावधान
3. संयुक्त परिवार के प्रत्येक हिस्सेदार को अधिकतम जोत की सीमा के लिए एक पृथक इकाई मानने का नियम
4. चाय, काफी, रबड़, इलायची, नारियल के बागान और धार्मिक एवं धर्मार्थ संस्थानों के आधिपत्य में भूमियों को जोत की सामान्य अधिकतम सीमा के बाहर मानना
5. बेनामी और फर्जी स्वामित्वान्तरण द्वारा अधिकतम जोत की सीमा के उद्देश्य को पराजित करना
6. छूट के प्रस्तावों का दुरुपयोग और भूमियों का कृवर्गीकरण

7. सार्वजनिक विनियोग द्वारा सिंचाई आधीन लाई गई नयी भूमियों पर उचित जोत की सीमा को लागू न करना। कुछ हद तक अधिकतम सीमा अधिनियम की मन्द प्रगति की व्याख्या न्यायालयों के निर्णय और मुकद्दमेबाजी से की जा सकती है परन्तु जैसा कि कृषि मंत्रालय की अद्यतन समीक्षा में संकेत किया गया है कि जहाँ मुकद्दमेबाजी को एक बाधापूर्ण कारणत्व माना जा सकता है, वहाँ यह बात समझ में नहीं आती कि हजारों एकड़ भूमि, जिसके बारे में न्यायालयों में आवेदन नहीं किए गए, का अभी तक निरीक्षण क्यों नहीं किया गया। भू सुधार और स्वामित्व जोतों का आकार वितरण राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण द्वारा स्वामित्व जोतों के आकार वितरण सम्बन्धी आंकड़े 1953-54, 1961-62 और 1971-72 के बारे में एकत्र किए गए। आँकड़ों से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं-

(i) जबकि 1953-54 में 31.4% सीमांत परिवारों के स्वामित्वाधीन कुल क्षेत्रफल का 1.4% था, 1971-72 में 44 प्रतिशत परिवारों के पास कुल क्षेत्र का 1.6 प्रतिशत था। इससे जाहिर है कि सीमांत किसानों की संख्या में वृद्धि के साथ उनके स्वामित्वाधीन क्षेत्र में तदनु रूप वृद्धि इसी कारण इस वर्ग में प्रति जोत के स्वामित्वाधीन औसत क्षेत्र जो 1953-54 में 0.27 एकड़ था, कम होकर 1971-72 में 0.14 एकड़ हो गया। (ii) छोटे किसान परिवारों की संख्या 1953-54 में 174 लाख से बढ़कर 1971-72 में 274 लाख हो गई परन्तु कुल परिवारों के अनुपात के रूप में 1953-54 में 35.7 से 1971-72 में गिरावट होकर इनका अनुपात 33.8% हो गया किन्तु छोटे परिवारों (एक एकड़ से 5 एकड़) के स्वामित्वाधीन क्षेत्रफल जो 1953-54 में 15% था, बढ़ाकर 1971-72 में 22.9% हो गया। इससे जाहिर है कि छोटे किसान परिवारों की स्थिति में उन्नति हुई है। (iii) बहुत बड़े किसान परिवारों की संख्या और अनुपात में गिरावट आई है जबकि 1953-54 में 1.2% बड़े परिवारों (50 एकड़ से अधिक) के स्वामित्वाधीन कुल क्षेत्र का 17.5% था, कुल परिवारों में इनका अनुपात कम होकर 1971-72 में 0.4% हो गया। (iv) बड़े किसान परिवारों (15 से 20 एकड़) में बहुत बड़े परिवारों की एक सी प्रवृत्ति पाई गई जबकि 1953-54 में 8.8% परिवारों के पास कुल क्षेत्रफल का 35% था। इन परिवारों का अनुपात गिरकर 1971-72 में 5% हो गया

और इनके स्वामित्वाधीन क्षेत्रफल कम होकर 31.3% हो गया। (v) मध्यम किसान परिवारों (5 से 15 एकड़) का कुल परिवारों में अनुपात 22.8 प्रतिशत था और उनमें स्वामित्वाधीन 31.2 प्रतिशत क्षेत्रफल था जो 16.7% हो गया परन्तु इनके स्वामित्वाधीन क्षेत्र बढ़कर 36.1% हो गया। (vi) स्वामित्व जोतों का औसत आकार जो 1953-54 में 6.25 एकड़ था, कम होकर 1961-62 में 5 एकड़ हो गया और फिर 1971-72 में यह और गिरकर 3.84 एकड़ हो गया। यह जनसंख्या दबाव का परिणाम है क्योंकि 1953-54 में इन परिवारों की संख्या 488 लाख से बढ़कर 1971-72 में 810 लाख हो गई अर्थात् इसमें 65.8% की वृद्धि हुई परन्तु इसके विरुद्ध, स्वामित्वाधीन क्षेत्रफल 1953-54 में 3,055 लाख एकड़ से बढ़कर 1971-72 में 3,112 लाख एकड़ हो गया अर्थात् इसमें केवल 2.2% की वृद्धि हुई। डॉ. वी. एस. व्यास ने स्वामित्व जोतों के आकार में संरचनात्मक परिवर्तन पर तीन मुख्य कारण तत्वों के प्रभाव का परीक्षण किया है। वे हैं- (i) जनान्किकीय प्रक्रियाएँ, (ii) बाजार प्रेरित क्रियाएँ और (iii) संस्थानात्मक परिवर्तन। स्वामित्व जोतों की संख्या में वृद्धि मूलतः किसान परिवारों की संख्या में वृद्धि के कारण और ग्रामीण क्षेत्रों में विकल्प रोजगार अवसरों के अभाव के कारण हुई।

6. जैसा कि श्री वी. एम. एस. राव ने व्यक्त किया है, कम से कम 1950-60 के मध्य तक छोटे तथा मध्यम भू-स्वामियों द्वारा भूमि के विक्रय के कुछ प्रमाण मिलते हैं और इसका बड़े तथा दूरवासी भू-स्वामियों द्वारा क्रय किया गया। यह अधिकतर प्रतिष्ठित प्रतिरूप की अभिव्यक्ति ही थी जिसमें छोटे तथा सीमांत किसान को महाजनों के लिए गए ऋण को न लौटाने के बदले भू-स्वामित्व से हाथ धोने पड़ते थे। संयोगवश, बहुत-सी परिस्थितियों में ये महाजन बड़े भू-स्वामी भी होते थे। अतः 1950-60 के दौरान बाजार प्रक्रियाएँ बड़े भू-स्वामियों के पक्ष में क्रियाशील थी। डॉ. बी. एस. व्यास का मत है “1960-70 के दशक के दौरान यह प्रक्रिया बन्द हो गयी संक्षेप में, अधिकतम जोत के विधान के भय ने बड़े तथा विशाल फार्मों के और अधिक विस्तार पर राके लगा दी। उपलब्ध प्रमाण ये सुझाव देते हैं कि भूमि बाजार छोटे तथा सीमांत किसानों के विरुद्ध कार्य करने की अपेक्षा उनके पक्ष में क्रियाशील हो गया।” इस बात की पुष्टि एम.एल. दन्तवाला और सी. एच. शाह के अध्ययनों से भी होती है, जिनके अनुसार काश्तकारी विधान ने बहुत से राज्यों में भूतपूर्व मुजारों के लिए भूमि क्रय करना आसान बना दिया। यह बात विशेष रूप में भारत के पश्चिमी क्षेत्रों में विद्यमान थी। भूमिजोतों के उपविभाजन तथा विखण्डन का समाधान

**1. लाभकर जोतों की स्थापना के द्वारा-**भारत में भू-सुधार का एक महत्वपूर्ण अंग जोत के आकार में वृद्धि करना तथा बिखरी हुयी जोतों को संगठित करना है जिसके लिए निम्नलिखित कदम उठाये गये- (क) जोतों की अधिकतम सीमा निश्चित करना, ताकि जिनके पास नियत मात्रा से भूमि अधिक हो, अतिरिक्त भाग को सरकार के हवाले कर अलाभकर जोत इकाई वाले किसानों में पुनर्वितरण। (ख) ऐसे कृषक जिनके पास कम भूमि है उनको उद्योग धन्धों की ओर प्रोत्साहन।

**2. चकबन्दी-**चकबन्दी से तात्पर्य एक किसान के गाँव में बिखरे हुए भूखण्डों को एक इकाई के अन्तर्गत व्यवस्थित करना है। चकबन्दी के लिए पहले गाँव की सारी जमीन को एक भूखण्ड में एकत्र कर लिया जाता है और बाद में गाँव के सारे किसानों में संसहत भू-खण्ड के रूप में विभाजित कर दिया जाता है। सहकारी खेती -

भूमि सुधार का अन्तिम लक्ष्य भारत में सहकारी फार्मों की स्थापना कर सहकारी ग्रामीण अर्थव्यवस्था की रचना करना है। (i) किसान स्वेच्छा से इस व्यवस्था में सम्मिलित होते हैं बाध्य रूप से नहीं। (ii) उनकी भूमि का स्वामित्व परिवर्तित नहीं होता। (iii) कृषक अपनी भूमि, पशुधन आदि का प्रयोग सम्मिलित रूप में करते हैं (iv) फार्म को एक इकाई मानकर उसका प्रबन्ध किया जाता है। (v) प्रत्येक व्यक्ति को अपनी भूमि के हिस्से और श्रम के अनुरूप उपज में हिस्सा मिलता है। भू-सुधार नीति का मूल्यांकन कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन द्वारा भूमि-सुधार के दो प्रमुख दोषपूर्ण प्रभावों का पता चलता है- (i) सभी राज्यों में राष्ट्रीय मार्गदर्शी सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए नए अधिकतम जोत की सीमा के अधिनियम बनाए गये हैं। (ii) अधिकतर संशोधित अधिनियम अब संविधान की 9वीं अनुसूची में डाल दिया गया है जिन्हें न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। भारतीय भू-सुधार नीति का प्रमुख दोष इसके धीमी प्रगति है

## 8.4 ग्रामीण समुदाय में सामुदायिक विकास कार्यक्रम

भारत में ग्रामीण एवं कृषि रुपान्तरण भारतीय समाज प्राथमिक रूप से ग्रामीण समाज रहा है। हालांकि नगरीकरण बढ़ रहा है परन्तु आज भी भारत के बहुसंख्यक लोग गाँव में ही रहते हैं। उनका जीवन कृषि अथवा उससे सम्बन्धित व्यवसायों से चलता है जिसका तात्पर्य है बहुत भारतीय ग्रामीण समाज के लिए भूमि न तो उत्पादन का साधन है और न ही केवल सम्पत्ति का एक प्रकार। न ही केवल कृषि है जो कि उनके जीविका का एक प्रकार है। यह जीने का एक तरीका भी है। हमारी बहुत सी सांस्कृतिक रस्मों और उनके प्रकार में कृषि की पृष्ठभूमि होती है। कृषि एवं संस्कृति के मध्य एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। हमारे देश में कृषि की प्रकृति और पैटर्न अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग प्रकार का है। ये भिन्नताएँ विभिन्न क्षेत्रीय संस्कृतियों में प्रतिबिम्बित होती है अर्थात् ग्रामीण जीवन की सांस्कृतिक एवं सामाजिक संरचना दोनों कृषि और कृषिक जीवन पद्धति से बहुत निकटता से जुड़ी हुई है। अधिकतर ग्रामीण जनसंख्या के लिए कृषि जीविका का एकमात्र महत्वपूर्ण स्रोत या साधन है लेकिन ग्रामीण सिर्फ कृषक नहीं है। बहुत से ऐसे क्रियाकलाप हैं जो कृषि और ग्रामीण-जीवन में पाये जाते हैं तथा ग्राम्य लोगों की जीविका के स्रोत हैं। जैसे-दस्तकार, कुम्हार लोहार, सुनार आदि ग्रामीण क्षेत्रों में रहते हैं।

**1. ग्रामीण विकास कार्यक्रम एवं गरीबी उन्मूलन योजनाएँ**—ग्रामीण विकास के अन्तर्गत लोगों की आर्थिक बेहतरी और सामाजिक परिवर्तन दोनों को ध्यान में रखकर ग्रामीण विकास की नीतियाँ एवं कार्यक्रम निर्धनता दूर करने के लक्ष्य को ध्यान में रखकर किया गया। गरीबी, अज्ञानता, बीमारियाँ और अवसरों की असमानता को समाप्त करने तथा उच्चतर गुणवत्ता युक्त जीवन प्रदान करना सभी योजनाओं तथा विकास कार्यक्रमों का उद्देश्य रहा है। ग्रामीण विकास मन्त्रालय द्वारा निम्नलिखित कार्यक्रम एवं योजनाएँ चलायी जा रही हैं—

1. ग्रामीण रोजगार के लिए महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी योजना (मनरेगा) चलाया जा रहा है जो ग्रामीण क्षेत्रों में प्रत्येक परिवार की मांग पर किसी भी वर्ष में 100 दिन के लिए अकुशल श्रम कार्य के रूप में दिहाड़ी रोजगार उपलब्ध कराता है। जिससे ग्रामीण क्षेत्रों में निर्धारित गुणवत्ता के साथ स्थिर लाभकारी परिसम्पत्तियों का सृजन किया जाता है। जिससे सम्बन्धित क्षेत्र के ढांचागत आधार का विकास करने वाले कार्यों में दिहाड़ी रोजगार सृजित करते हुए ग्रामीण निर्धनों की अजीविका सुरक्षा में वृद्धि करना है।

2. प्रत्यक्ष लाभ अन्तरण के माध्यम से धन प्रवाह को सुचारु बनाने के लिए राष्ट्रीय इलेक्ट्रॉनिक धन प्रबन्धन प्रणाली लागू की है जो ग्रामीण विकास में सहायक भूमिका निभा रहा है जिसमें ग्रामीण परिवार के लोगों को वित्तीय समावेशन से जोड़कर उनके सशक्तिकरण का मार्ग अपनाया गया है।

3. दीनदयाल अंत्योदय योजना-राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन 2018 में शुरू किया गया था जिसका लक्ष्य 8-9 करोड़ ग्रामीण निर्धन परिवारों तक पहुँचना है। इसमें प्रत्येक परिवार से एक महिला सदस्य को शामिल करते हुए महिला स्वयं सहायता समूह का गठन किया जाता है और ग्राम स्तर तथा उससे उच्च स्तरों पर इन सहायता समूहों के परिसंघ बनाये जाते हैं। इस योजना के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रों में 50% अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों तथा 15% अल्पसंख्यक समूहों को 3% विकलांग जन समूहों को शामिल किया जाता है। ग्रामीण निर्धन परिवारों की शत-प्रतिशत कवरेज सुनिश्चित करने के लिए निर्धन परिवारों की पहचान सामाजिक-आर्थिक एवं जाति गणना और भागीदारी पूर्ण प्रक्रिया के जरिए की जाती है और उसे ग्राम-सभा से अनुमोदित कराया जाता है। इस योजना के प्रमुख घटक निम्नलिखित हैं-

(i) निर्धनों के संस्थानों को प्रोत्साहित करना (ii) प्रशिक्षण, क्षमता निर्माण और कौशल निर्माण करना (iii) समुदाय निवेश सहायता निधि (iv) समाभिरूपता में सहायता के लिए राष्ट्रीय विशेष निधि (v) ढांचा निर्माण और विपणन सहायता (vi) संवेदनशील सहायता संगठन (vii) आजीविका ग्रामीण एक्सप्रेस योजना

4. ग्रामीण स्वरोजगार प्रशिक्षण संस्थान बैंक के नेतृत्व तथा राज्य सरकार के सक्रिय सहयोग से संचालित है जो प्रत्येक वर्ष ग्रामीण निर्धन युवाओं के प्रशिक्षण का काम करेंगे ताकि वे अपने इलाकों में रोजगार शुरू कर सकें।

5. प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना गरीबी उपशमन कार्यनीति के हिस्से के रूप में भारत सरकार ने वर्ष 2002 में प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना प्रारम्भ की थी। इस कार्यक्रम का प्राथमिक लक्ष्य कोर-नेटवर्क के अनुरूप अभी तक सड़क से न जुड़ पायी पात्र बस्तियों को हर मौसम में काम करने वाली सड़कों के साथ जोड़ना है ताकि ग्रामीण-विकास में अवसंरचनात्मक ढांचों का निर्माण कर ग्रामीण रुपान्तरण किया जा सके।

6. इंदिरा आवास योजना के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रों में, विशेष रूप से निर्धनों के लिए मकानों की कमी दूर करना और आवास की गुणवत्ता में सुधार लाने के लिए सरकार की गरीबी उन्मूलन कार्यनीति का एक महत्वपूर्ण घटक है। इंदिरा आवास योजना एक ग्रामीण आवास कार्यक्रम है जिसका उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी की रेखा से नीचे जीवन यापन करने वाले परिवारों को मकान उपलब्ध कराना है। वर्तमान में इसे प्रधानमंत्री आवास-योजना ग्रामीण के नाम से पुनर्गठित किया गया है।

7. राष्ट्रीय सामाजिक सहायता कार्यक्रम-1995 में प्रारम्भ किया गया जिसके अन्तर्गत परिवार के कमाऊ सदस्य की मृत्यु हो जाने के मामले में वृद्धों, विधवाओं, विकलांगजनों को सामाजिक सहायता प्रदान की जाती है। ताकि सामाजिक संरक्षण प्राप्त हो सके इसके अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रों में विकास हेतु अनेक योजनाएँ चलाई जा रही हैं- (i) इंदिरा गांधी राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेंशन कार्यक्रम (ii) इंदिरा गांधी राष्ट्रीय विधवा पेंशन कार्यक्रम (iii) इंदिरा गांधी राष्ट्रीय विकलांगजन पेंशन कार्यक्रम (iv) राष्ट्रीय परिवार लाभ कार्यक्रम (v) अन्नपूर्णा

8. दीनदयाल उपाध्याय ग्रामीण-कौशल योजना यह स्वर्णजयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना का एक नया रूप है जिसके अन्तर्गत इस कार्यक्रम का लक्ष्य भारत के जनसांख्यिकीय अधिशेष को जनसांख्यिकी लाभ में रूपान्तरित

करना है। ताकि ग्रामीण भारत का विकास वैश्विक रूप में वरीयता वाले कुशल श्रमिकों के स्रोत के रूप में किया जा सके जो स्थिर रोजगार प्रदान किये जाने पर कौशल प्रशिक्षण हासिल कर गरीबी के उन्मूलन में सहायक होगा।

9. सांसद आदर्श ग्राम योजना का शुभारम्भ 2014 में किया गया था इसका उद्देश्य प्रत्येक संसद सदस्य द्वारा एक गाँव का विकास करना है। इसमें चुने हुए गाँव का समन्वित विकास करने की व्यवस्था है, जिसमें कृषि, स्वास्थ्य शिक्षा, स्वच्छता, पर्यावरण, आजीविका आदि विभिन्न क्षेत्रों को शामिल किया जाता है।

10. भूमि सुधार कार्यक्रमों के अन्तर्गत राष्ट्रीय भूमि-सुधार आधुनिकीकरण का नया नामकरण करते हुए इसे डिजिटल इण्डिया भूमि रिकार्ड आधुनिकीकरण कार्यक्रम का नाम दिया है जिसके अन्तर्गत 27 राज्यों तथा केन्द्रशासित प्रदेशों ने अपने-अपने क्षेत्रों में भूमि के रिकार्ड के पंजीकरण की प्रक्रिया का कम्प्यूटरीकरण कर दिया है।

11. पंचायती राज्य मन्त्रालय की स्थापना 2004 में की गयी थी। इसका प्रमुख कार्य संविधान के भाग-9 के अन्तर्गत जिला आयोजन समिति सम्बन्धी प्रावधानों का अनुपालन सुनिश्चित करना है। इसका मिशन पंचायती राज संस्थानों का सशक्तिकरण, उन्हें सक्षम एवं जवाबदेह बनाना है ताकि सामाजिक न्याय और सक्षम सेवा वितरण के साथ समावेशी विकास सुनिश्चित किया जा सके।

12. स्वच्छ भारत मिशन (ग्रामीण) ग्रामीण स्वच्छता के क्षेत्र में उपाय सर्वप्रथम 1954 में प्रथम पंचवर्षीय योजना के हिस्से के रूप में शुरू किया गया था। इसका प्रमुख लक्ष्य ग्रामीण लोगों के जीवन की गुणवत्ता में सुधार लाना और महिलाओं को निजता तथा गरिमा प्रदान करना था। स्वच्छ भारत मिशन-ग्रामीण (2014) के लक्ष्य इस प्रकार हैं- (क) ग्रामीण क्षेत्रों में स्वच्छता, स्वस्थता को प्रोत्साहित करना और खुले में शौच जाने की कुप्रवृत्ति को समाप्त करना।

(ख) ग्रामीण क्षेत्रों में स्वच्छता कवरेज को बढ़ावा देना।

(ग) पर्यावरण की दृष्टि से सुरक्षित और स्थायी स्वच्छता के लिए किफायती और समुचित प्रौद्योगिकी को बढ़ावा देना। 13. राष्ट्रीय ग्रामीण पेयजल कार्यक्रम जिसे त्वरित ग्रामीण जलापूर्ति कार्यक्रम के रूप में प्रारम्भ किया गया था। इसका उद्देश्य ग्रामीण आबादी को समुचित मात्रा में सुरक्षित पेयजल उपलब्ध कराना है। समुदाय विकास कार्यक्रम 1948 में कैम्ब्रिज कान्फ्रेंस में सामुदायिक विकास को “एक आन्दोलन के रूप में परिभाषित किया गया है जिसकी संरचना व्यक्तियों के सक्रिय सहयोग तथा यदि सम्भव हो, तो समुदाय की संभावित पहल पर समुदाय को अच्छा जीवन उपलब्ध कराने के उद्देश्य से की गयी है परन्तु यदि यह पहल अपने आप जागृत नहीं होती है तो इस आन्दोलन के प्रति सक्रिय तथा उत्साहवर्द्धक प्रत्युत्तर प्राप्त करने के लिए जागृत तथा उद्दीप्त करने के लिए प्रविधियों का प्रयोग किया जाता है।” प्रथम पंचवर्षीय योजना के अनुसार-“सामुदायिक विकास ऐसी प्रणाली है जिसके द्वारा पंचवर्षीय योजनाएँ ग्रामवासियों के आर्थिक तथा सामाजिक जीवन में आर्थिक एवं सामाजिक पुनर्निर्माण की प्रक्रिया को आरम्भ करती है। इसमें प्रसार एक व्यवस्था के रूप में कार्य करता है। सामुदायिक विकास एक व्यापक और बहुपक्षीय कार्यक्रम है जो ग्रामीण जीवन में आर्थिक तथा सामाजिक-विकास एवं परिवर्तन के लक्ष्यों को लेकर आरम्भ किया गया है। यह एक ऐसी समन्वित प्रक्रिया है जिसके द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों के भौतिक तथा मानवीय संसाधनों को जनसाधारण के प्रभावी सहयोग द्वारा अधिकतम सीमा तक विकसित

किया जाता है।” अतः सामुदायिक विकास कार्यक्रम सामाजिक विकास व परिवर्तन की वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा पिछड़े तथा अविकसित ग्रामीण समाज को विकसित तथा प्रगतिशील बनाने का प्रयास किया जाता है। सामुदायिक विकास के तत्व (i) जहाँ तक सम्भव हो अपनी पहल पर अधिक से अधिक विश्वास करते हुए अपने जीवन-स्तर में सुधार लाने के प्रयासों में व्यक्तियों की स्वयं की भागीदारी होना। (ii) तकनीकी तथा अन्य सेवाओं का प्रावधान इस प्रकार से करना कि व्यक्तियों में पहल स्वयं आत्म सहायता तथा परस्पर सहायता की भावनाएँ विकसित हों तथा इन्हें और अधिक प्रभावकारी बनाया जा सके। भारत में सामुदायिक विकास परियोजना के उद्देश्य-योजना आयोग द्वारा सामुदायिक विकास कार्यक्रम के निम्नलिखित उद्देश्य बताये गये हैं-

1. गाँव में काम करने वाले विभिन्न विकासशील विभागों के कार्यों तथा ढंगों में सहयोग होना चाहिए तथा गाँव वालों के जीवन को एक पूर्ण इकाई मानकर काम किया जाना। यह कार्य गाँव में काम करने वाले विभिन्न विभागों के बीच एक संयुक्त अभिकर्ता नियुक्त करके किया जा सकता है।

2. सरकारी संयन्त्र केवल निर्देशन तथा सहायता के लिए है अपनी स्थिति सुधारने का मुख्य दायित्व ग्रामीणों पर ही होना चाहिए।

3. कृषि के वैज्ञानिक ढंगों और कुटीर तथा ग्रामस्तरीय उद्योगों द्वारा बेरोजगारी तथा रोजगार के अभाव को दूर किया जाना है।

4. परामर्श तथा उपदेशों के साथ-साथ व्यावहारिक सहायता भी प्रदान की जानी चाहिए जिसमें बीज, खाद, धन तथा उनकी व्यावहारिक समस्याओं को हल करने के लिए तकनीकी निर्देशन इत्यादि सम्मिलित हैं।

5. कार्यक्रमों को बलपूर्वक किये जाने से अच्छे परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं यद्यपि व्यावहारिक रूप से गाँव के सभी परिवारों को कार्यक्रम के अन्तर्गत लाना है। विशेष रूप से उपेक्षित परिवारों को ही सहकारिता आन्दोलन तथा संगठन में उचित स्थान दिलाने के लिए कार्यक्रम में लिया जाना है।

6. ग्रामीण जनता में उच्च-जीवन स्तर को प्राप्त करने की दिशा में इच्छा तथा आकांक्षा को उत्पन्न करना है। भारत में सामुदायिक विकास कार्यक्रम का प्रारम्भ 1952 में किया गया। प्रारम्भ में 55 परियोजनाएँ चलायी गयीं। प्रत्येक परियोजना में 3500 गाँव थे जिनका कुल क्षेत्रफल 450-500 वर्ग मील था तथा प्रत्येक परियोजना को 3 विकास खण्डों में पुनर्विभाजित किया गया प्रत्येक खण्ड में 100 गाँव थे- एक विकास खण्ड में कृषि तथा उससे सम्बन्धित क्षेत्रों में जैसे-ग्राम उद्योग, सहकारिता, सड़कों, कुओं, पाठशालाओं सामुदायिक केन्द्रों इत्यादि का निर्माण, समाज शिक्षा द्वारा चेतना-जागरुकता, समाज सेवाएँ, महिला, बाल एवं युवा कल्याण कार्यक्रमों को क्रियान्वित किया गया। धीरे-धीरे इस कार्यक्रम को देश के दूसरे ग्रामीण क्षेत्रों में फलै ाया गया तथा दूसरी पंच वषीर्य योजना के अन्त तक भारतवर्ष में सभी गाँव इन विकास खण्डों के अन्तर्गत लाए गये।

---

## 8.5 आधुनिक समय में जाति प्रथा

---

1947 में भारत को प्राप्त स्वतंत्रता वैसे तो एक बहुत बड़ी घटना थी पर उसके बाद भी भारत को अपने औपनिवेशिक अतीत से पूरी तरह छुटकारा नहीं मिला। राष्ट्रवादी आंदोलनों के लिए व्यापक पैमाने पर जनमत जुटाने में भी जातीय भावनाओं एवं आधारों ने अनिवार्य रूप से अपनी भूमिका अदा की थी। ‘दलित वर्गों’ और

विशेष रूप से अस्पृश्य (अछूत) समझी जाने वाली जातियों को संगठित करने के प्रयत्न राष्ट्रवादी आंदोलन के प्रारंभ होने से पहले ही 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रारंभ हो चुके थे। जातीय अधिक्रम के दोनों सिरों से उच्च कही जाने वाली जातियों के प्रगतिशील सुधारकों और नीची समझी जाने वाली जातियों के सदस्यों जैसे, पश्चिमी भारत में महात्मा जोतिबा फुले और बाबा साहेब अंबेडकर और दक्षिण भारत में अय्यनकालि, श्री नारायण गुरु, इयोतीदास और पेरियार (ई. वी. रामास्वामी नायकर) दोनों ने ही इस दिशा में पहल की। महात्मा गांधी और बाबा साहेब अंबेडकर दोनों ने ही 1920 के दशक से अस्पृश्यता (छुआछूत) के विरुद्ध अपने विरोधांदोलन शुरू कर दिए थे। अस्पृश्यता-विरोधी कार्यक्रमों को कांग्रेस की कार्यसूची में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया और जब स्वतंत्रता क्षितिज पर दृष्टिगोचर होने लगी तब तक राष्ट्रवादी आंदोलन के संपूर्ण परिदृश्य में, मोटे तौर पर यह सहमति हो गई कि जातीय विभिन्नताओं का उन्मूलन कर दिया जाए। राष्ट्रवादी आंदोलन में मुखरित यह प्रबल दृष्टिकोण जाति को एक सामाजिक कुरीति और भारतीयों के बीच फूट डालने की एक औपनिवेशिक युक्ति मानता था। लेकिन राष्ट्रवादी नेतागण, जिनमें महात्मा गांधी प्रमुख थे, सबसे नीची समझी जाने वाली जातियों के उत्थान के लिए अस्पृश्यता तथा अन्य जातीय प्रतिबंधों के उन्मूलन के पक्ष में समर्थन जुटाने के लिए प्रयत्नशील रहे और साथ ही, भू-स्वामी उच्च जातियों को यह आश्वासन देने में भी सफल रहे कि उनके हितों का भी ध्यान रखा जाएगा।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राज्य को ये अंतर्विरोध विरासत में मिले जो बाद में प्रतिबिंबित होते रहे। एक ओर तो राज्य जाति प्रथा के उन्मूलन के लिए प्रतिबद्ध था और भारत के संविधान में भी स्पष्ट रूप से इसका उल्लेख किया गया। दूसरी ओर, राज्य उन आमूलचूल सुधारों को लाने में असमर्थ एवं अनिच्छुक था जो जातीय असमानता के लिए आर्थिक आधार को दुर्बल बना देते। एक अन्य स्तर पर भी, राज्य ने यह माना कि यदि वह जाति प्रथा की ओर आँखें बंद करके काम करेगा तो उससे स्वतः ही जाति आधारित विशेषाधिकार कमजोर पड़ जाएंगे और अंततोगत्वा इस संस्था का उन्मूलन हो जाएगा। उदाहरण के लिए, सरकारी पदों पर नियुक्तियों के मामले में जाति का कोई ध्यान नहीं रखा जाता था और इस प्रकार अच्छी तरह से शिक्षित उच्च जातियों और अल्प-शिक्षित अथवा अक्सर निरक्षर निम्न जातियों को 'समान' आधार पर प्रतियोगिता करनी पड़ती थी। इसका एकमात्र अपवाद यही था कि अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए कुछ पद आरक्षित होते थे। दूसरे शब्दों में, स्वतंत्रता-प्राप्ति के ठीक बाद के कुछ दशकों तक राज्य ने इस तथ्य पर समुचित कार्रवाई करने के लिए पर्याप्त प्रयत्न नहीं किए कि उच्च जातियाँ तथा निम्न समझी जाने वाली जातियाँ आर्थिक तथा शैक्षिक दृष्टि से कतई समान नहीं हैं।

राज्य के विकास संबंधी कार्यकलाप और निजी उद्योग की संवृद्धि ने भी आर्थिक परिवर्तन में तीव्रता और गहनता लाकर अप्रत्यक्ष रूप से जाति संस्था को प्रभावित किया। आधुनिक उद्योग ने सभी प्रकार के नए-नए रोजगार के अवसर तैयार किए जिनके लिए कोई जातीय नियम नहीं थे। नगरीकरण और शहरों में सामूहिक रहन-सहन की परिस्थितियों ने सामाजिक अंतःक्रिया के जाति-पृथक्कृत स्वरूपों का अधिक समय तक चलना मुश्किल कर दिया। एक अन्य स्तर पर, आधुनिक शिक्षा प्राप्त भारतीय व्यक्तिवाद और योग्यतातंत्र अर्थात् योग्यता को महत्व देने के उदार विचारों से आकर्षित हुए और उन्होंने अधिक अतिवादी जातीय व्यवहारों को छोड़ना प्रारंभ कर दिया। दूसरी ओर, यह भी उल्लेखनीय था कि जाति व्यवस्था कितनी लचीली साबित हुई। औद्योगिक नौकरियों में भर्ती, चाहें वह भर्ती मुंबई की कपड़ा मिलों में हो या कोलकाता की जूट मिलों में अथवा कहीं अन्यत्र हो, जाति और नातेदारी के आधार पर होती रही। बिचौलिया जो कारखानों या मिलों के लिए मजदूर भर्ती करता था, अपनी जाति या क्षेत्र के उम्मीदवारों में से मजदूर चुनता था जिससे उन विभागों या कारखानों में अक्सर एक खास जाति के मजदूरों का

ही बोलबाला रहता था।

अछूतों के प्रति खूब भेदभाव बरता जाता था और शहरों में भी इस तरह के पूर्वाग्रह का अभाव नहीं था हालाँकि, यह गाँवों की तुलना में कम था। यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है कि जाति सांस्कृतिक और घरेलू क्षेत्रों में ही सबसे सुदृढ़ सिद्ध हुई। अंतर्विवाह यानी अपनी जाति के भीतर विवाह करने की परिपाटी, आधुनिकीकरण और परिवर्तन से बड़े तौर पर अप्रभावित रही। आज भी अधिकांश विवाह जाति की परिसीमाओं के भीतर ही होते हैं हालाँकि, अंतर्जातीय विवाह अब पहले की तुलना में अधिक हो रहे हैं।

किंतु कुछ परिसीमाएँ अधिक लचीली हो गई हैं अथवा उनमें कुछ दरारें पड़ गई हैं, परंतु समान सामाजिक आर्थिक प्रस्थिति के जाति के समूहों के बीच के विभाजन को बनाए रखने की अब भी बराबर कोशिश की जाती है। उदाहरण के लिए, उच्च जातियों (जैसे, ब्राह्मण, बनिया, राजपूत) के भीतर अंतर्जातीय विवाह संभवतः पहले से कहीं अधिक हो रहे हैं पर उच्च जाति और पिछड़ी या अनुसूचित जाति के व्यक्तियों के बीच विवाह आज भी न के बराबर ही हो रहे हैं। भोजन को मिल-बाँटकर खाने के नियमों के मामले में भी स्थिति लगभग ऐसी ही है। संभवतः परिवर्तन का सबसे घटनापूर्ण एवं महत्वपूर्ण क्षेत्र राजनीति का क्षेत्र रहा है।

स्वतंत्र भारत में अपने प्रारंभ से ही, लोकतांत्रिक राजनीति गहनता से जाति आधारित रही है। हालाँकि इसके आधार पर कार्य करना जटिल से जटिलतर होता गया है और उसके भविष्य के बारे में कुछ कहना बहुत कठिन है फिर भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि जाति चुनावी राजनीति का केंद्र-बिंदु बनी हुई है। 1980 के दशक से तो हमने स्पष्ट रूप से जाति आधारित राजनीतिक दलों को भी उभरते देखा है। प्रारंभिक सामान्य चुनावों में ऐसा प्रतीत हुआ कि जातीय भाईचारे की भूमिका चुनाव जीतने में निर्णायक रही थी। परंतु उसके तुरंत बाद ही स्थिति अत्यंत जटिल हो गई क्योंकि भिन्न-भिन्न दलों ने जातीय आधार पर मत प्राप्त करने की संभावना का हिसाब लगाने में एक-दूसरे से होड़ शुरू कर दी।

परिवर्तन की इन प्रक्रियाओं को आजमाने और समझने के लिए समाजशास्त्रियों एवं सामाजिक मानवविज्ञानियों ने कई नई-नई संकल्पनाएँ गढ़ीं। शायद उन संकल्पनाओं में सबसे अधिक प्रचलित संकल्पनाएँ 'संस्कृतिकरण' और 'प्रबल-जाति' की हैं, ये दोनों संकल्पनाएँ एम. एन. श्रीनिवास की देन हैं लेकिन इन पर अन्य विद्वानों द्वारा गहनता से चर्चा और आलोचना की गई है। परिवर्तन की इन प्रक्रियाओं को आजमाने और समझने के लिए समाजशास्त्रियों एवं सामाजिक मानवविज्ञानियों ने कई नई-नई संकल्पनाएँ गढ़ीं। शायद उन संकल्पनाओं में सबसे अधिक प्रचलित संकल्पनाएँ 'संस्कृतिकरण' और 'प्रबल-जाति' की हैं, ये दोनों संकल्पनाएँ एम. एन. श्रीनिवास की देन हैं लेकिन इन पर अन्य विद्वानों द्वारा गहनता से चर्चा और आलोचना की गई है।

---

## 8.6 अनुसूचित जाति आयोग

---

भारत में राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग स्वायत्त संवैधानिक संस्था है। इसकी स्थापना 1978 में हुई थी। यह एक संवैधानिक निकाय है। 89 वाँ संविधान संशोधन अधिनियम 2003 में हुआ जिसमें राष्ट्रीय अनुसूचित जाति एवं जनजाति आयोग का दो भागों में विभाजन हुआ। राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग (अनुच्छेद-338) तथा अनुसूचित जनजाति आयोग (अनुच्छेद-338 क) के रूप में।



**सदस्य संख्या :** 4 आयोग में एक अध्यक्ष तीन अन्य सदस्य होते हैं।

**नियुक्ति :** राष्ट्रपति के द्वारा उसके आदेश एवं मोहर लगे आदेश द्वारा नियुक्त किए जाते हैं।

**कार्यकाल :** कार्यकाल व सेवा शर्तें भी राष्ट्रपति द्वारा ही निर्धारित किए जाते हैं।

### **अनुसूचित जनजातियों के लिए राष्ट्रीय आयोग के कार्य—**

- अनुसूचित जनजातियों के लिए इस संविधान या तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि या सरकार के किसी आदेश के अधीन उपबंधित रक्षा उपायों से संबंधित सभी विषयों का अन्वेषण करें और उन पर निगरानी रखें ऐसे रक्षोपायों के कार्यक्रम का मूल्यांकन करें;
- अनुसूचित जनजातियों के अधिकारों और रक्षोपायों से वंचित करने के संबंध में विनिर्दिष्ट शिकायतों की जांच करें;
- अनुसूचित जनजातियों के सामाजिक आर्थिक विकास की योजना प्रक्रिया में भाग ले और उन पर सलाह दें तथा संघ और किसी अन्य के अधीन उसके विकास की प्रकृति का मूल्यांकन करें;
- उन रक्षापायों के कार्यक्रम के बारे में प्रतिवर्ष और ऐसे अन्य समय ऊपर जो आयोग ठीक समझे राष्ट्रपति को रिपोर्ट प्रस्तुत करें;
- अनुसूचित जनजातियों के संरक्षण कल्याण और विकास तथा उन्नयन के संबंध में ऐसे अन्य कृतियों का निर्वहन करें जो राष्ट्रपति संसद के द्वारा बनाई गई किसी विधि के उपबंधों के अधीन रहते हुए नियम द्वारा भी निर्देशित करें।

अनुसूचित जनजातियों के लिए राष्ट्रीय आयोग की शक्तियाँ

आयोग को अपनी कार्यविधि को विनियमित करने की शक्ति प्राप्त हैं।

- भारत के किसी भी भाग से किसी व्यक्ति को सम्मान करना और हाजिर कराना तथा शपथ पर उसकी परीक्षा करना;
- किसी दस्तावेज को प्रकट और पेश करने की उपेक्षा करना;
- शपथ पत्रों पर साक्षी ग्रहण करना
- किसी न्यायालय या कार्यालय से किसी लोग अभिलेख या उसकी प्रति की उपेक्षा करना
- परीक्षार्थियों और दस्तावेजों की परीक्षा करने के लिए कमीशन गठित करना;
- कोई अन्य विषय जो राष्ट्रपति नियम द्वारा आधारित करें।

संघ और प्रत्येक राज्य सरकार अनुसूचित जनजातियों को प्रभावित करने वाले सभी महत्वपूर्ण नीतिगत विषयों पर आयोग से परामर्श करेगी।

**अनुसूचित जनजातियों के लिए राष्ट्रीय आयोग का प्रतिवेदन—**आयोग अपना वार्षिक प्रतिवेदन राष्ट्रपति को प्रस्तुत करता हूँ यदि आवश्यक समझा जाता है तो समय से पहले भी आयोग अपना प्रतिवेदन दे सकता है।

### **राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग**

## आयोग अवलोकन

गठन	19 फरवरी 2004; 16 वर्ष पहले
पूर्ववती आयोग	राष्ट्रीय अनुसूचित जाति एवं जनजाति आयोग 1978
अधिकारक्षेत्र	भारत सरकार
मुख्यालय	नई दिल्ली
आयोग कार्यपालक	राम शंकर कठेरिया, अध्यक्ष एल. मुरुगन, उपाध्यक्ष केशपा रामलु, सदस्य योगेन्द्र पासवान, सदस्य स्वराज विद्वान, सदस्य

**राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग :** राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग का 16वाँ स्थापना दिवस 19 फरवरी, 2020 को मनाया गया।

**मुख्य बिन्दु :** पूर्व प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने वर्ष 1999 में जनजातीय मामलों के लिये एक अलग मंत्रालय बनाया था।

**स्थापना :** राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग की स्थापना भारतीय संविधान के अनुच्छेद 338 में संशोधन करके और संविधान (89वा संशोधन) अधिनियम, 2003 द्वारा संविधान में एक नया अनुच्छेद 338 सम्मिलित करके की गई थी।

इस संशोधन द्वारा अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के राष्ट्रीय आयोग को दो अलग-अलग आयोगों में प्रतिस्थापित किया गया।

- राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग
- राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग

इस आयोग में एक अध्यक्ष, एक उपाध्यक्ष और तीन पूर्णकालिक सदस्य (एक महिला सदस्य सहित) शामिल हैं।

कार्यकारी अध्यक्ष, उपाध्यक्ष और NCST के सदस्यों का कार्यकाल पदभार ग्रहण करने की तिथि से लेकर तीन वर्ष तक का होता है।

इस आयोग के अध्यक्ष को केन्द्रीय कैबिनेट मंत्री तथा उपाध्यक्ष को राज्य मंत्री का दर्जा प्राप्त है, जबकि अन्य सदस्यों को भारत सरकार के सचिव पद का दर्जा दिया गया है।

**NCST के कार्य एवं शक्तियाँ :** भारतीय संविधान के अनुच्छेद 338A के खंड (5) के तहत आयोग को निम्नलिखित कर्तव्य एवं कार्य सौंपे गए हैं—

NCST को संविधान के तहत या अन्य कानूनों के तहत या अनुसूचित जनजाति के लिए प्रदान किये गए सुरक्षा उपायों से संबंधित मामलों की जाँच एवं निगरानी का अधिकार है।

अनुसूचित जनजातियों के सामाजिक-आर्थिक विकास की योजना प्रक्रिया में भाग लेना एवं सलाह देना तथा संघ

और किसी भी राज्य के तहत उनके विकास की प्रगति का मूल्यांकन करना।

**रिपोर्ट :** आयोग अनुसूचित जनजाति के कल्याण और उनके सामाजिक-आर्थिक विकास से संबंधित प्रोग्रामों/योजनाओं के प्रभावी कार्यान्वयन के लिये किये गए आवश्यक उपायोग से संबंधित वार्षिक रिपोर्ट राष्ट्रपति को सौंपता है।

## सारांश

भारत में ग्रामीण समुदाय के अंतर्गत विभिन्न जातियों के परिवारों के बीच एक सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था, जिसके अनुसार एक परिवार दूसरे को संपूर्ण रूप से कुछ नियम सेवाएं देता है। इस प्रणाली में कामिन को कम माना जाता था, जबकि जजमानों को उच्च दर्जा दिया जाता था। चूंकि यह प्रणाली अनुवांशिकता पर आधारित थी, इसलिए कामिन अन्य नौकरी और व्यवसाय में या अपनी आर्थिक स्थिति में भी कोई बदलाव नहीं कर सकते थे। इसने लोगों की मानसिकता पर प्रभाव डाला और जजमानों द्वारा भी उनका शोषण और दुर्व्यवहार किया जाने लगा। परिणामस्वरूप संविधान की धारा 31 में संशोधन करना पड़ा जिसका परिणाम यह हुआ कि जमींदार न्यायोचित और कुछ स्थितियों में न्यायोचित से भी अधिक क्षतिपूर्ति प्राप्त करने में सफल हो गये। 'निजी स्रोतों से प्राप्त सिंचाई' का अर्थ ट्यूबवैल या उत्थापक सिंचाई या डीजल अथवा बिजली द्वारा उपलब्ध कराई गई बारहमासी सिंचाई से है। (ii) ऐसी विश्वस्त सिंचाई वाली भूमि में जहाँ केवल एक ही फसल उगाई जा सकती है, उच्चतम सीमा 27 एकड़ से अधिक नहीं होगी। परिवर्तन की इन प्रक्रियाओं को आजमाने और समझने के लिए समाजशास्त्रियों एवं सामाजिक मानवविज्ञानियों ने कई नई-नई संकल्पनाएँ गढ़ीं। शायद उन संकल्पनाओं में सबसे अधिक प्रचलित संकल्पनाएँ 'संस्कृतिकरण' और 'प्रबल-जाति' की हैं, ये दोनों संकल्पनाएँ एम. एन. श्रीनिवास की देन हैं लेकिन इन पर अन्य विद्वानों द्वारा गहनता से चर्चा और आलोचना की गई है।

## अभ्यास प्रश्नोत्तर

### बहुविकल्पीय प्रश्न

- जजमानी प्रणाली में कौन-सी जातियाँ शामिल होती हैं?
 

(a) भूमिगत उच्च जातियाँ	(b) भूमिहीन निम्न जातियाँ
(c) कामगार जातियाँ	(d) उपरोक्त सभी
- कामिन कौन होते थे?
 

(a) सेवा करने वाले	(b) सेवा करवाने वाले
(c) वस्तु देने वाले	(d) वस्तु लेने वाले
- जजमानी प्रथा में कौन-सी सेवाएँ आती हैं?
 

(a) कृषि हेतु मजदूरी	(b) कर्मकांड सम्पन्न करवाना
(c) कृषि औजार बनाना	(d) उपरोक्त सभी

4. जजमानी प्रथा में गिरावट के क्या कारण थे?
 

(a) नगरीकरण	(b) औद्योगिकीकरण
(c) परिवहन का विकास	(d) उपरोक्त सभी
5. कृषि सुधार के कौन-से तकनीकी कदम उठाए गए थे?
 

(a) हरित क्रान्ति	(b) श्वेत क्रान्ति
(c) मशीन	(d) उपरोक्त सभी
6. बिचालियों का सम्पूर्ण उन्मूलन किस राज्य में नहीं हो पाया था?
 

(a) गुजरात	(b) महाराष्ट्र
(c) उत्तर प्रदेश	(d) मध्य प्रदेश
7. पट्टेदार किसान कौन से होते हैं?
 

(a) जिनकी अपनी जमीन होती है।	(b) जो जमींदार के यहाँ कार्य करते हैं।
(c) जो पट्टे पर जमीन लेकर कार्य करते हैं।	(d) जो बड़े किसान होते हैं।
8. मनरेगा के तहत कितने दिनों का कार्य गारंटी से दिया जाता है?
 

(a) 80 दिन	(b) 100 दिन
(c) 120 दिन	(d) 120 दिन
9. महिला सहायता समूह का गठन किस योजना के तहत किया गया है?
 

(a) दीनदयाल योजना	(b) मनरेगा
(c) ग्रामीण स्वरोजगार योजना	(d) इंदिरा आवास योजना
10. पंचायती राज मंत्रालय की स्थापना कब की गई थी?
 

(a) 2001	(b) 2002
(c) 2004	(d) 2005
11. अस्पृश्यता के विरुद्ध किसने कार्य किया था?
 

(a) महात्मा गाँधी	(b) ज्योतिबा फूले
(c) परिवार	(d) उपरोक्त सभी
12. जातिप्रथा को कम करने में किसने सहायता की है?
 

(a) नगरीकरण	(b) औद्योगिकीकरण
(c) शिक्षा	(d) उपरोक्त सभी
13. अनुसूचित जाति आयोग की स्थापना कब की गई थी?
 

(a) 1978	(b) 1980
(c) 1982	(d) 1984

#### लघु उत्तरीय प्रश्न

1. जजमानी प्रथा से क्या अभिप्राय है? तथा यह प्रथा किस प्रकार ग्रामीण समाज की रीढ़ की हड्डी थी?
2. जजमानी प्रथा की विशेषताएँ बताइए।

3. आजादी के पश्चात् कृषि में कौन-कौन से संस्थागत परिवर्तन किए गए हैं?
4. आजादी के पश्चात् कृषिगत समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कौन-कौन से तकनीकी सुधार किए गए हैं?

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. चकबंदी क्या है? इससे किसानों को किस प्रकार लाभ प्राप्त हुआ है?
2. ग्रामीण समुदाय में सामुदायिक विकास के लिए भारत सरकार द्वारा उठाए गए कदमों की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
3. आधुनिक समय में जाति प्रथा पर टिप्पणी कीजिए।
4. अनुसूचित जाति आयोग की स्थापना के क्या उद्देश्य थे?

---

### संदर्भ पुस्तकें

---

1. समाजशास्त्र कक्षा-11 एनसीईआरटी
2. समाजशास्त्र कक्षा-12 एनसीईआरटी
3. जनसंख्या भूगोल, आर.सी. चांदना
4. समाज की समझ, योगेश अटल
5. समाजशास्त्र-अवधारणा एवं सिद्धांत, जे.पी. सिंह

# भारत में जाति प्रथा व समाजशास्त्र

- 9.1 परिचय
- 9.2 वर्ण व जाति
- 9.3 जाति व सामाजिक प्रतिष्ठा
- 9.4 जाति प्रथा का इतिहास
- 9.5 जाति प्रथा में परिवर्तन
- 9.6 भारत में जातिगत भेदभाव
- 9.7 जाति प्रथा की मुख्य विशेषताएं

---

## 9.1 परिचय

---

एंडरसन और पार्कर के अनुसार, जाति सामाजिक वर्ग के संगठन का चरम रूप है जिसमें स्थिति पदानुक्रम में व्यक्तियों की स्थिति वंश और जन्म द्वारा निर्धारित होती है। 'प्रबल जाति' शब्द का प्रयोग ऐसी जातियों का उल्लेख करने के लिए किया जाता है जिनकी जनसंख्या काफी बड़ी होती थी और जिन्हें स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद किए गए आंशिक भूमि सुधारों द्वारा भूमि के अधिकार प्रदान किए गए थे। इन भूमि-सुधारों ने पहले के दावेदारों से अधिकार छीन लिए थे। व्यवस्था के अध्ययन के परिपेक्ष्य-सबसे पहले प्रश्न उठता है कि जाति-व्यवस्था है क्या? फ्रांसिसी विद्वान अबे डुबॉयस तथा घुर्ये भी इसी विचार का समर्थन करते हैं। एम.एन. श्रीनिवास का जाति के सम्बन्ध में विचार जाति व्यवस्था पर एम.एन. श्रीनिवास का विचार है कि केवल गुण-धर्म के आधार जाति-व्यवस्था की व्याख्या नहीं की जा सकती है बल्कि जातियों के मध्य इन गुणधर्मों के आधार पर उभरने वाले सम्बन्धों की संरचना भी उतनी ही महत्वपूर्ण है। इतिहासकारों और समाजशास्त्रियों रोमिला थापर, बर्टर स्ट्राइन, रामकृष्ण मुखर्जी, ए.आर. देसाई, और एम.एन. श्रीनिवास द्वारा किये गये अध्ययनों से यह स्पष्ट है कि भारतीय समाज कभी भी स्थिर नहीं रहा है। सामाजिक-गतिशीलता के प्रमुख पारम्परिक मार्ग संस्कृतिकरण, प्रवजन और धर्म-परिवर्तन रहे हैं। निम्न जातियाँ और जनजातियाँ सम्पत्ति और राजनीतिक सत्ता हासिल कर जाति अनुक्रम में ऊपर उठी हैं।

---

## 9.2 वर्ण व जाति

---

भारतीय समाज में जाति प्रणाली अद्वितीय विशेषताओं में से एक है। इसकी जड़ का पता हजारों वर्षों से लगाया जा सकता है।

**जन-जनम-जाति**—जाति शब्द स्पेनिश और पुर्तगाली कास्टा से निकला है, जिसका अर्थ है दौड़, वंश या नस्ल। पुर्तगालियों ने आधुनिक अर्थों में कासा को नियुक्त किया जब उन्होंने इसे भारत में वंशानुगत भारतीय सामाजिक समूहों को जाति के रूप में बुलाया है। जाति की उत्पत्ति जड़ शब्द जन से हुई है जिसका अर्थ है जन्म लेना। इस प्रकार, जाति का संबंध जन्म से है।

एंडरसन और पार्कर के अनुसार, जाति सामाजिक वर्ग के संगठन का चरम रूप है जिसमें स्थिति पदानुक्रम में व्यक्तियों की स्थिति वंश और जन्म द्वारा निर्धारित होती है।

### भारत में जाति व्यवस्था की उत्पत्ति कैसे हुई : विभिन्न सिद्धांत—

**1. वाचक सिद्धांत**—दस सिद्धांत के अनुसार, जाति व्यवस्था ईश्वरीय उत्पत्ति की है। यह कहता है कि जाति व्यवस्था वर्ण व्यवस्था का विस्तार है, जहां 4 वर्गों की उत्पत्ति ब्रह्मा के शरीर से हुई है। पदानुक्रम के शीर्ष पर ब्राह्मण थे जो मुख्य रूप से शिक्षक और बुद्धिजीवि थे और ब्रह्मा के सिर से आए थे। क्षत्रिय या योद्धा और शासक, उसकी बाहों से आए थे। वैश्य या व्यापारी उसकी जांघों से बनाए थे। सबसे नीचे शूद्र थे, जो ब्रह्मा के पैरों से आए थे। मुंह उपदेश, सीखने आदि के लिए अपने उपयोग का संकेत देता है हथियार-रक्षा, जांघों, खेती या व्यवसाय करने के लिए, पैर-पूरे शरीर की मदद करता है, इसलिए, शूद्रों का कर्तव्य सभी दूसरों की सेवा करना है। उप-जातियां 4 वर्गों के बीच अंतर्जातीय विवाह के कारण बाद में उभरी।

इस सिद्धांत के प्रस्तावकों ने ऋग्वेद, मनुस्मृति आदि के पुरुषसूक्त का हवाला देते हुए अपने रुख का समर्थन किया।

**2. नस्लीय सिद्धांत**—जाति के लिए संस्कृति शब्द वर्ण है जिसका अर्थ है रंग। भारतीय समाज के जातिगत स्तरीकरण की उत्पत्ति चतुरवर्ण व्यवस्था में हुई थी—ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य और शूद्र। भारतीय समाजशास्त्री डीएन मजुमदार ने अपनी पुस्तक 'रेस एंड कल्चर इन इंडिया' में लिखा है, भारत में आर्यों के आगमन के बाद जाति व्यवस्था ने अपना जन्म लिया।

ऋग वैदिक साहित्य आर्य और गैर-आर्यों के बीच न केवल उनके रंग, बल्कि उनके भाषण, धार्मिक प्रथाओं और शारीरिक विशेषताओं में भी बहुत अंतर करता है।

वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था प्रचलित मुख्य रूप से श्रम और व्यवसाय के विभाजन पर आधारित था। ऋग्वेद में तीनों वर्गों ब्राह्मण, क्षत्रीय और वैश्य का अक्सर उल्लेख किया गया है। ब्रह्मा और क्षत्र ने कवि-पुरोहित और योद्धा-प्रमुख का प्रतिनिधित्व किया। विस में सभी आम लोग शामिल थे। चौथी कक्षा का नाम 'सुद्रा' ऋग्वेद में केवल एक बार आता है। शूद्र वर्ग ने घरेलू नौकरों का प्रतिनिधित्व किया।

**3. राजनीतिक सिद्धांत**—इस सिद्धांत के अनुसार, जाति व्यवस्था ब्राह्मणों द्वारा खुद को सामाजिक पदानुक्रम की उच्चतम सीढ़ी पर रखने के लिए आविष्कार किया गया एक चतुर्थ उपकरण है।

डॉ. घोरी कहते हैं, 'जाति गंगा की भूमि में फंसी इंडो आर्यन संस्कृति की एक ब्राह्मणी संतान है और फिर भारत के अन्य भागों में स्थानांतरित हो गई है।

ब्राह्मणों ने भूमि के शासक का समर्थन प्राप्त करने के लिए पुजारी या पुरोहित के माध्यम से राजा की आध्यात्मिक योग्यता की अवधारणा को भी जोड़ा।

**4. व्यावसायिक सिद्धांत**—जाति पदानुक्रम व्यवसाय के अनुसार है। जिन व्यावसायों को बेहतर और सम्मानजनक माना जाता था, उन लोगों ने उन लोगों को श्रेष्ठ बनाया जो गंदे व्यवसायों में लगे थे। न्यूफील्ड के अनुसार, 'भारत में जाति संरचना की उत्पत्ति के लिए कार्य और कार्य अकेले जिम्मेदार हैं।' कार्यात्मक भेदभाव के साथ व्यावसायिक भेदभाव और कई उप-जातियां जैसे कि लोहार, चमार, तेली में आए।

**5. विकास का सिद्धांत**—इस सिद्धांत के अनुसार, जाति व्यवस्था अचानक या किसी विशेष तिथि में अस्तित्व में नहीं आई थी। यह सामाजिक विकास की लंबी प्रक्रिया का परिणाम है।

- वंशानुगत व्यवसाय
- खुद को शुद्ध रखने के लिए ब्राह्मणों की इच्छा
- राज्य के कठोर एकरात्मक नियंत्रण की कमी
- शासकों की अनिच्छा कानून और रीति के एक समान मानक को लागू करने के लिए
- और कर्म और धर्म सिद्धांत भी जाति व्यवस्था की उत्पत्ति की व्याख्या करते हैं। जबकि कर्म सिद्धांत यह मानता है कि एक व्यक्ति एक जाति में पैदा होता है क्योंकि पिछले अवसर में उसकी कार्रवाई के परिणामस्वरूप, धर्म का सिद्धांत बताता है कि एक व्यक्ति जो जाति व्यवस्था और जाति के सिद्धांतों को स्वीकार करता है, जिस पर वह है, धर्म के अनुसार जी रहा है। अपने स्वयं के धर्म की पुष्टि भी अमीर उच्च जाति में किसी के जन्म पर की जाती है और उल्लंघन निम्न और गरीब जाति में जन्म देता है।
- अनन्य परिवार, पूर्वज पूजा और पवित्र भोजन के विचार
- विशेष रूप से पितृसत्तात्मक और मातृसत्तात्मक प्रणालियों के विरोधी संस्कृतियों का टकराव
- दौड़, रंग पूर्वाग्रहों और विजय का टकराव
- विभिन्न विजेता द्वारा आर्थिक और प्रशासनिक नीतियों का अनुसरण किया गया।
- भारतीय प्रायद्वीप का भौगोलिक अलगाव
- विदेशी आक्रमण
- ग्रामीण सामाजिक संरचना

**वर्ण व्यवस्था**—वर्ण व्यवस्था वर्ण, जाति पर आधारित सामाजिक स्तरीकरण है। वह प्रणाली के अंतर्गत चार मूल श्रेणियों को परिभाषित किया गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।

वर्णन एक संस्कृत शब्द है जो वर्गीकरण, विचार, वर्णन या चयन से लिया गया है। इस शब्द का उपयोग वैदिक काल में मनुस्मृति जैसी ब्राह्मणवादी पुस्तकों में किए गए सामाजिक वर्ग का वर्णन करने के लिए किया जाता है।

**वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति**—वर्ण व्यवस्था का पहला उल्लेख प्राचीन संस्कृत के पुरु सूक्तम श्लोक में पाया गया था। माना जाता है कि चार वर्णों के संयोजन से पुरुष को सबसे पहले गठित किया गया था।

वर्गीकरण—

- ब्राह्मण इसे मुंह का प्रतिनिधित्व करते हैं।



- क्षत्रिय इसकी भुजाएं हैं।
- वैश्य अपने उच्चता
- शूद्रों ने इसके पैर

समृद्धि और व्यवस्था को बनाए रखने के लिए, वर्ण नियमों का पालन करने के लिए समाज का गठन किया जाता है।

**वर्ण व्यवस्था का उद्देश्य**—वर्ण का विभाजन विभिन्न लोगों के बीच जिम्मेदारियों को वितरित करने और जाति की शुद्धता बनाए रखने और शश्वत व्यवस्था स्थापित करने के लिए है। ऐसा माना जाता है कि यह व्यवसाय के भीतर संघर्ष और संबंधित कर्तव्यों पर अतिक्रमण से बचने के लिए है।

**विशिष्ट कार्यों को प्रत्येक विशेष नागरिक को सौंपा गया था—**

**ब्राह्मण**—वे शिक्षा और आध्यात्मिक नेतृत्व प्रदान करते हैं। उन्हें किसी भी समाज के दृष्टिकोण और मूल्यों को निर्धारित करने के लिए चाहिए।

**क्षत्रिय**—उनकी जिम्मेदारी समाज की रक्षा करना है और उनसे शरीर और चरित्र की काफी ताकत को चित्रित करने की अपेक्षा की जाती है।

**वैश्य**—वे उत्पादक वर्ग है। उनका कर्तव्य जानवरों और भूमि की रक्षा करना, धर्म और समृद्धि पैदा करना है।

**शूद्र**—वे एकमात्र वर्ग है जिन्हें किसी अन्य रोजगार को स्वीकार करने की अनुमति है। उनका कर्तव्य दूसरे के प्रति समर्पण और निष्ठा बनाए रखना है।

**जाति व्यवस्था के कार्य**—1. इसके भारत के पारंपरिक सामाजिक संगठन को जारी रखा।

2. इसके प्रत्येक समुदाय को आजीविका के विशिष्ट साधनों का एकाधिकार सुनिश्चित करके समायोजित किया है।

3. व्यक्तियों को सामाजिक सुरक्षा और सामाजिक मान्यता प्रदान की। यह व्यक्ति की जाति है जो शादी में अपनी पसंद को रद्द करता है। राज्य-क्लब, अनाथालय और लाभ समाज की भूमिका निभाता है इसके अलावा, यह उसे स्वास्थ्य बीमा लाभ भी प्रदान करता है यह उनके अंतिम संस्कार के लिए भी प्रदान करता है।

4. इससे एक जाति से दूसरी पीढ़ी के वंशानुगत व्यवसाय के ज्ञान और कौशल को सौंप दिया है, जिसके संस्कृति के संरक्षण और उत्पादकता सुनिश्चित करने में मदद की है।

5. जाति व्यक्तियों को उनके समाज की संस्कृति और परंपराओं, मूल्यों और मानदंडों को सिखाकर समाजीकरण की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

6. इसके जजमानी रिश्तों के माध्यम से विभिन्न जातियों के बीच अन्योन्याश्रित बातचीत भी की है। जाति ने एक ट्रेड यूनियन के रूप में काम किया और अपने सदस्यों को शोषण से बचाया।

7. राजनीतिक स्थिरता को बढ़ावा दिया, क्योंकि क्षत्रिय आमतौर पर जाति व्यवस्था द्वारा राजनीतिक प्रतिस्पर्धा, संघर्ष और हिंसा से सुरक्षित थे।

8. एंडोगैमी के माध्यम से नस्लीय शुद्धता बनाए रखी।

9. विशेषज्ञता से माल की गुणवत्ता का उत्पादन हुआ और इस तरह आर्थिक विकास को बढ़ावा मिला। उदाहरण के लिए भारत की कई हस्तकला वस्तुओं को इसके कारण अंतर्राष्ट्रीय पहचान मिली।

---

### 9.3 जाति व सामाजिक प्रतिष्ठा

---

‘प्रबल जाति’ शब्द का प्रयोग ऐसी जातियों का उल्लेख करने के लिए किया जाता है जिनकी जनसंख्या काफी बड़ी होती थी और जिन्हें स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद किए गए आंशिक भूमि सुधारों द्वारा भूमि के अधिकार प्रदान किए गए थे। इन भूमि-सुधारों ने पहले के दावेदारों से अधिकार छीन लिए थे। ये दावेदार ऊँची जातियों के ऐसे सदस्य होते थे जो इस अर्थ में ‘अनुपस्थित यानी दूरवासी जमींदार’ थे कि वे अपना लगान वसूल करने के अलावा खेतिहर अर्थव्यवस्था में कोई भूमिका अदा नहीं करते थे। वे अक्सर उस गाँव में भी नहीं रहते थे बल्कि उनका आवास कस्बों या शहरों में होता था। अब ये भूमि-अधिकार उस अगले स्तर के दावेदारों को प्राप्त हो गए हैं जो कृषि के प्रबंध में तो शामिल थे पर स्वयं भूमि नहीं जोतते थे। ये मध्यवर्ती जातियाँ भी स्वयं परिश्रम नहीं करती थीं, बल्कि भूमि की जुताई, देखभाल आदि के लिए निम्न जातियों के मजदूरों पर आश्रित थीं, जिनमें विशेष रूप से ‘अछूत’ जातियों के मजदूर शामिल थे। किंतु एक बार जब उन्हें भूमि-अधिकार मिल गए तो फिर उन्होंने पर्याप्त आर्थिक शक्ति प्राप्त कर ली। उनकी बड़ी संख्या ने भी सर्वजनीन वयस्क मताधिकार पर आधारित चुनावी लोकतंत्र के इस युग में उन्हें राजनीतिक शक्ति प्रदान की। इस प्रकार, यह मध्यवर्ती जातियाँ देहाती इलाकों में प्रबल जातियाँ बन गईं और क्षेत्रीय राजनीति तथा खेतिहर अर्थव्यवस्था में निर्णायक भूमिका अदा करने लगीं। इन प्रबल जातियों के कुछ उदाहरण हैं: बिहार और उत्तर प्रदेश के यादव, कर्नाटक के वोक्कलिंग, आंध्र प्रदेश के रेड्डी और खम्मा लोग, महाराष्ट्र के मराठे, पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के जाट और गुजरात के पाटीदार।

जहाँ तक तथाकथित अनुसूचित जातियों और जनजातियों तथा पिछड़े वर्गों का संबंध है, उनके लिए तो उपर्युक्त से विपरीत स्थिति ही घटित हुई है। उनके लिए, जाति और अधिक दिखने वाली हो गई, निस्संदेह उनकी जाति ने उनकी पहचान के अन्य सभी आयामों को ग्रस लिया है। क्योंकि उन्हें विरासत में कोई शैक्षिक और सामाजिक पूँजी नहीं मिली है और उन्हें पहले से संस्थापित उच्च जाति समूह के साथ प्रतिस्पर्धा में उतरना पड़ रहा है। इसलिए वे अपनी जातीय पहचान को नहीं छोड़ सकते, क्योंकि यह उनकी बहुत थोड़ी सी सामूहिक परिसंपत्तियों में से एक है। इसके आगे, वे अभी भी विभिन्न प्रकार के भेदभाव के शिकार हैं। आरक्षण की नीतियाँ और राजनीतिक दबाव में आकर राज्य द्वारा उन्हें दिए गए अन्य संरक्षण ही उनके जीवन को बचाने वाले उपाय हैं। परंतु इन जीवन रक्षक साधनों का उपयोग करना ही उनकी जाति को सर्वाधिक महत्वपूर्ण बना देता है और अक्सर यही उनकी पहचान का वह पक्ष होता है जिसे दुनिया मान्यता देती है।

---

### 9.4 जाति प्रथा का इतिहास

---

जाति-व्यवस्था के अध्ययन के परिप्रेक्ष्य जाति-व्यवस्था के अध्ययन के परिप्रेक्ष्य-सबसे पहले प्रश्न उठता है कि जाति-व्यवस्था है क्या? भारत में इसकी उत्पत्ति कैस होती है? भारतीय समाज में सामाजिक संरचना में जाति

की भूमिका का उदगम् कब तथा कैसे हुआ? इन प्रश्नों के उत्तर के लिए जाति-व्यवस्था के उदगम् के सिद्धान्तों पर चर्चा की जानी चाहिए। जाति की उत्पत्ति परम्परागत सिद्धान्त ब्राह्मणीय सिद्धान्त प्रजातीय सिद्धान्त व्यवसायिक सिद्धान्त

1. परम्परागत सिद्धान्त के अर्न्तगत जाति व्यवस्था के उदगम् के आधार हिन्दू धर्म में खोजे गये। जिसकी मूल अवधारणा ऋग्वेद में उल्लिखित 'मूल बलि' से है जिसके अनुसार इस बलि से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र नामक चार वर्णों की उत्पत्ति हुई है। इनमें ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थान, क्षत्रियों को दूसरा स्थान तथा वैश्यों को तीसरा स्थान मिला और शूद्रों को सोपानक्रम में अथवा सामाजिक क्रम-विन्यास में निम्नतम स्थान प्राप्त हुआ। समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार जाति-व्यवस्था मानव निर्मित है और यह सामाजिक स्तरीकरण से सम्बन्धित प्रणाली है। इस प्रणाली में परिस्थिति तथा भूमिका का निर्धारण जन्म से होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक जाति का अलग कार्य होता है और यह कार्य उस जाति के सदस्यों के स्वभाव तथा गुणों पर आधारित होता है। धीरे-धीरे निर्धारित कर्तव्यों के आधार पर वर्गों का व्यवसाय विकसित हुआ जिन पर उनका एकाधिकार था। इस व्यवस्था ने वर्ण व्यवस्था-व्यवस्थाओं की क्रम-विन्यास निर्धारण के अतिरिक्त समूहों के मध्य अन्तः क्रिया पर कुछ निश्चित निषेध भी लगाए। सोपानक्रम में प्रथम तीन समूह को मिलाकर एक संवर्ग का निर्माण किया गया जिसे द्विज जातियाँ कहा गया क्योंकि इन्होंने यज्ञोपवीत संस्कार का अधिकार प्राप्त था। चूँकि शूद्रों को यह अधिकार प्राप्त नहीं था अतः उन्हें 'एकज' अथवा एकजाति कहा गया। उपर्युक्त सिद्धान्त के विषय में एम.एन. श्रीनिवास ने लिखा कि जाति के आधार पर समाज का चार भागों में विभाजन तथ्यों का एक विशुद्ध सरलीकरण मात्र है। जाति व्यवस्था की वास्तविक इकाई 'जाति' है न कि 'वर्ण' जो एक छोटा अन्तर्विवाही समूह है, जो परम्परागत व्यवसाय अपनाता है।

2. ब्राह्मणीय सिद्धान्त के अनुसार भारत में जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति में ब्राह्मणों की प्रमुख भूमिका रही है। फ्रांसिसी विद्वान अबे डुबॉयस तथा घुर्ये भी इसी विचार का समर्थन करते हैं। वे सभी कारक जो जाति-व्यवस्था की विशेषता बताते हैं, ब्राह्मणों के प्रयत्नों का परिणाम हैं जो उन्होंने स्वयं को आदिवासियों तथा शूद्रों के धार्मिक तथा सामाजिक व्यवस्थाओं से पृथक रखने तथा ब्राह्मण सभ्यता को ऊँचा बनाये रखने के लिए किये थे। घुर्ये ने लिखा है कि "भारत में जाति इण्डो-आर्यन संस्कृति के ब्राह्मणों का बच्चा है जो कि गंगा और यमुना के मैदान में पला है और वहाँ से देश के दूसरे भागों में ले जाया गया है।"

3. प्रजातीय सिद्धान्त का प्रतिपदान हरबर्ट रिजले द्वारा किया गया। इस सिद्धान्त के अनुसार संस्कृतियों के संघर्ष तथा प्रजातियों के सम्पर्क से भारत में जाति के निर्माण की प्रक्रिया सम्भव हुयी। रिजले ने जाति-प्रथा के विकास के क्रम में 6 प्रक्रियाओं का निर्धारण किया- (i) परम्परागत व्यवसाय में परिवर्तन (ii) पत्र जन (iii) रीति-रिवाजों में परिवर्तन (iv) पुरानी परम्पराओं की सुरक्षा (v) हिन्दुओं की श्रेणी में स्वयं को मिलाना (vi) उत्साही धार्मिकों की भूमिका।

यदि रिजले के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाए तो जाति-व्यवस्था न केवल भारत में ही होनी चाहिए बल्कि उन सभी समाजों में भी स्थापित होनी चाहिए जिन पर अन्य प्रजातीय समूहों ने विजय प्राप्त की है। रिजले ने अपने सिद्धान्त के समर्थन में स्वयं तर्क दिया कि जाति प्रथा न केवल भारत में विद्यमान है वरन् यह भारत के बाहर

दक्षिण अमेरिका, मैक्सिको, कनाडा आदि समाजों में भी देखी जा सकती है।

4. व्यवसायिक सिद्धान्त के मान्यतानुसार जाति की उत्पत्ति प्रजाति या धर्म से नहीं बल्कि व्यवसाय से हुयी। सिद्धान्तकारों का मानना है कि समाज के विभिन्न लोगों द्वारा एक ही प्रकार के पेशों को लम्बे समय तक अपनाने से व्यवसायिक संघों की उत्पत्ति हुयी जिन्हें बाद में जाति कहा जाने लगा। जाति-प्रथा में संस्तरण व्यवसायों से जुड़ी श्रेष्ठता व हीनता की भावना का नतीजा है। किसी भी जाति का उच्च या निम्न स्थान इस बात पर निर्भर करता है कि तत्सम्बन्धी उद्योग जिसका जाति प्रतिनिधित्व करती है, वह संस्कृति के विकसित या पिछड़ेपन की अवस्था से सम्बद्ध है।

एम.एन. श्रीनिवास का जाति के सम्बन्ध में विचार जाति व्यवस्था पर एम.एन. श्रीनिवास का विचार है कि केवल गुण-धर्म के आधार जाति-व्यवस्था की व्याख्या नहीं की जा सकती है बल्कि जातियों के मध्य इन गुणधर्मों के आधार पर उभरने वाले सम्बन्धों की संरचना भी उतनी ही महत्वपूर्ण है। श्रीनिवास जाति को एक खण्डात्मक व्यवस्था के रूप में देखते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक जाति उपजातियों में बंटी होती है जैसे-

1. अन्तर्विवाह की इकाईयों में
2. जिनके सदस्य समान व्यवसाय करते हों
3. सामाजिक एवं कर्मकांडीय जीवन की इकाईयाँ
4. जिसके सदस्य समान संस्कृति को साझा करते हों।

5. जिसके सदस्य पंचायत नामक समान सत्तात्मक संस्था द्वारा नियन्त्रित होते हों। इसके अतिरिक्त श्रीनिवास ने जाति के विषय में निम्नलिखित महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किये हैं-

1. श्रीनिवास के अनुसार सोपानक्रम जाति-व्यवस्था का सार है। यह आनुवंशिक समूहों के क्रम-विन्यास से सम्बन्धित है। सोपानक्रम के सन्दर्भ में श्रीनिवास ने बताया कि सर्वोच्च स्थान वाले ब्राह्मण अथवा निम्न स्थान वाले अछूतों की परिस्थिति ही सर्वाधिक स्पष्ट है तथा मध्य क्रम अस्पष्ट है। श्रीनिवास ने कहा कि सोपानक्रम में अ, ब, स, द चार जातियाँ हो सकती हैं और ऐसा भी हो सकता है कि इनमें से एक जाति को जो स्थान प्राप्त हुआ है, उसे वह स्वीकार न करे। जैसे -

1. दक्षिण भारत में लोहार-जाति समूह ने द्विज परिस्थिति का दावा किया। वे अपने आपको विश्वकर्मा ब्राह्मण कहते हैं, परन्तु अन्य जातियाँ इसका प्रतिरोध करती हैं और यहाँ तक कि अन्य निम्न जातियाँ भी उनके हाथ का पानी नहीं पीते हैं।

2. श्रीनिवास ने कहा कि किसी भी जाति तथा उसके व्यवसाय के बीच एक घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। उनके अनुसार जाति एक “व्यवसायिक-विभेदीकरण के व्यवस्थीकरण से अधिक कुछ भी नहीं है।”

जातियाँ उनके व्यवसाय द्वारा पहचानी जाती हैं तथा व्यवसाय उच्च व निम्न के सोपानक्रम में व्यवस्थित होते हैं।

3. खान-पान, वेश-भूषा, रीति-रिवाज सम्बन्धी निषेध सभी जातियों में विद्यमान होते हैं। भोजन की स्वीकृति पर भी भोजन सम्बन्धी सोपानक्रम व निषेध पाये जाते हैं।

4. प्रदूषण अर्थात् शुद्ध तथा अशुद्ध जाति सम्बन्धी विचार पर श्रीनिवास कहते हैं कि प्रदूषण के सम्पर्क में आने

से जातियाँ अशुद्ध हो जाती हैं तथा उन्हें शुद्धिकरण धार्मिक रीतियाँ पूरी करनी पड़ती हैं। अशुद्धि गम्भीर होने पर व्यक्ति को जाति से निकाल भी दिया जा सकता है।

5. श्रीनिवास ने अपने अध्ययन में पाया कि किसी न किसी समय प्रत्येक जाति अपने गुण-धर्मों को त्यागकर व अपने से ऊँची जातियों के गुण-धर्मों को अपनाने का प्रयास करके सोपानक्रम में अपने आपको ऊँचा उठाने का प्रयास करती है। किसी भी जाति द्वारा निम्न स्तर पर परिभाषित करने वाले गुणधर्मों को त्यागकर तथा अपने को उच्च-परिस्थिति वाले गुण-धर्मों को अपनाकर अपनी परिस्थिति उच्च बनाने वाले प्रयासों की प्रक्रिया संस्कृतिकरण कहलाती है।

6. श्रीनिवास ने अपने अध्ययन में कि प्रभुत्वशील जाति की अवधारणा को प्रस्तुत किया जिसमें उन्होंने निम्न बातें बताईं—(क) संख्यात्मक शक्ति (ख) भू-स्वामित्व के माध्यम से आर्थिक शक्ति (ग) राजनीतिक शक्ति कोई भी प्रभुत्वशील जाति वह है जो ग्रामीण समुदाय में उपरोक्त तीन गुणों को धारण करती है। प्रभुत्वशील जाति के पक्ष का यह तर्क है कि किसी भी जाति की कर्मकांडीय परिस्थिति अब सामाजिक सोपान में उसकी परिस्थिति के लिए महत्वपूर्ण आधार नहीं रखती है। यदि कोई जाति सामाजिक सोपान में निम्न-स्थान में होने के कारण निम्न परिस्थिति की होती है तो भी वह उस गाँव में प्रभुत्वशील जाति या समूह बन सकती है।

उपरोक्त तर्क के स्पष्टीकरण के लिए श्रीनिवास द्वारा रामपुर गाँव (मैसूर) का अध्ययन-रामपुर गाँव में ब्राह्मण, किसान व अस्पृश्य सहित अनेक जातियाँ रहती हैं। किसानों की कर्मकांडीय परिस्थिति ब्राह्मणों से निम्न होती है परन्तु गाँव की सारी भूमि का स्वामित्व किसानों के पास है तथा ये लोग संख्या में भी अधिक हैं और ग्रामीण मामलों में राजनीतिक प्रभुत्व रखते हैं। उपरोक्त स्पष्टीकरण में निम्न कर्मकांडीय परिस्थिति होने के बावजूद भी गाँव में किसान एक प्रभुत्वशील जाति है।

खालापुर गाँव (उत्तर-पूर्वी उत्तर प्रदेश)-खालापुर गाँव में 31 जातियाँ रहती थीं। खालपुर के राजपूत (क्षत्रिय - परिस्थिति) प्रभुत्वशील जाति के थे। क्योंकि राजपूतों के पास संख्यात्मक शक्ति थी तथा वे लोग ग्रामीण जनसंख्या के 42% भाग थे। उनके पास आर्थिक शक्ति भी थी क्योंकि उनके गाँव की 90% भूमि पर उनका स्वामित्व व नियन्त्रण था इसलिए सभी जातियों को उनकी बात माननी पड़ती थी। दूसरी ओर ब्राह्मण प्रभुत्वशील नहीं थे क्योंकि उनके पास प्रभुत्व की कोई विशेषता नहीं थी।

---

## 9.5 जाति प्रथा में परिवर्तन

---

**जाति व्यवस्था में मुख्य परिवर्तन**—इतिहासकारों और समाजशास्त्रियों रोमिला थापर, बर्टर स्ट्राइन, रामकृष्ण मुखर्जी, ए.आर. देसाई, और एम.एन. श्रीनिवास द्वारा किये गये अध्ययनों से यह स्पष्ट है कि भारतीय समाज कभी भी स्थिर नहीं रहा है। सामाजिक-गतिशीलता के प्रमुख पारम्परिक मार्ग संस्कृतिकरण, प्रवजन और धर्म-परिवर्तन रहे हैं। निम्न जातियाँ और जनजातियाँ सम्पत्ति और राजनीतिक सत्ता हासिल कर जाति अनुक्रम में ऊपर उठी हैं। वे अपने जीवनयापन में संस्कृतिकरण को अपनाकर एवं उच्च जातियों की जीवन पद्धति से होड़ करते हुए और उनके रीति-रिवाजों को अपना कर उच्च जाति की परिस्थिति की दावा करती है। समकालीन अवधि में औद्योगिकीकरण के नये आयामों नगरीकरण, राजनीतिकरण, आधुनिक शिक्षा और कानून-व्यवस्था, भूमि सुधार, विकास कार्यक्रम

और निम्नजातियों के लिए सकारात्मक विशेष सरकारी नीति के कारण ग्रामीण क्षेत्रों की जाति-व्यवस्था में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं।

आन्द्रे बेते ने अपने अध्ययन (तन्जौर जिला स्थित श्रीपुरम गाँव के अध्ययन) में परिस्थिति विषमता का उल्लेख किया है। परम्परागत रूप से गाँवों में उच्च जातियाँ ही जमीन की मालिक होती थीं और राजनीति शक्ति पर उनका ही वर्चस्व होता था परन्तु विभिन्न संस्थागत परिवर्तनों के परिणामस्वरूप अब उन्होंने राजनीतिक मामलों में अपना नियन्त्रण खो दिया है परन्तु एक हद तक भूमि पर उनकी मिल्कियत अभी भी बनी हुयी है। राजनीतिक मामलों में उनके स्थान पर अब मध्यवर्ती जातियों का नियन्त्रण हो गया है। आरक्षण व्यवस्था के लागू होने से जाति-व्यवस्था में संरचनात्मक परिवर्तन देखने को मिलता है। अवसरों की समानता तथा आर्थिक व सामाजिक न्याय जैसी अवधारणा ने जाति व्यवस्था को परिवर्तित किया है।

## 9.6 भारत में जातिगत भेदभाव

एक ऐसा भी समय था जब अस्पृश्य एवं शेष हिन्दू जनसंख्या के मध्य के विभेद को स्पष्टतया प्रजातीय आधार पर व्यक्त किया जाता था अर्थात् प्रजातीय विभेद अस्पृश्य एवं शेष हिन्दू जनसंख्या के विभेद के आधार के रूप में स्वीकार्य था परन्तु अध्ययन के उपरान्त यह तथ्य सामने आया कि अस्पृश्य एवं शेष हिन्दू जनसंख्या के मध्य के ये जाति-विभेद सांस्कृतिक, धार्मिक, मूल्य सम्बन्धी तत्व एवं भौतिक असमानताओं पर आधारित है। ब्राह्मण एवं अस्पृश्य जातियों के मध्य जीवन शैली स्पष्ट एवं चरम रूप में विभाजित थी। ठीक इसी प्रकार उच्च जातियों की जीवन-शैली का अनुकरण करने के विरोध में बने प्रतिबन्ध मूलतः अस्पृश्यों के विरुद्ध ही थी तथा उन्हें दबावपूर्ण माध्यमों से अस्पृश्यों पर लागू किया जाता था।

आन्द्रे बेते के अनुसार दक्षिण भारत में हाल के वर्षों तक हरिजन का पक्के ईंटों, टाइलस के बने मकानों में रहना प्रतिबन्धित था। वे ऊपरी शरीर में वस्त्र धारण नहीं कर सकते थे तथा रेशमी वस्त्र नहीं पहन सकते थे। इस प्रकार के नियमों की कठोर प्रकृति उत्तर भारत में उतनी स्वीकार्य नहीं है जितनी कि दक्षिण भारत में तथा दक्षिण भारत के उत्तर भारत की तुलना में इसे कठोरता से लागू किया जाता है। अस्पृश्यों की सामाजिक पहचान इस तथ्य से भी स्थापित होती है कि उन्हें मुख्य ग्रामीण क्षेत्र से दूर रहने की स्वीकृति प्राप्त है। अस्पृश्यों के आवासीय क्षेत्र मुख्य गाँव से दूर अथवा सीमा से बाहर होते हैं। बेते के अनुसार इस प्रकार का पृथक्करण तमिलनाडु तथा दक्षिण भारत के राज्यों में अपेक्षाकृत अधिक दिखाई पड़ता है। आवासीय आधार पर इस प्रकार का कठोर पृथक्करण नगरीय केन्द्रों में नहीं पाया जाता है। परम्परागत रूप से अस्पृश्य जातियाँ अधिकतर शारीरिक श्रम से सम्बद्ध क्रियाओं में संलग्न होते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी ये शारीरिक श्रम करने वाली कार्यशील जनसंख्या के बहुमत को निर्मित करती हैं। अधिकांश जनता की मानसिकता में अस्पृश्य एवं अस्पृश्यता के प्रति विषयपरक तथा पूर्वाग्रह सम्बन्धी विचार शारीरिक श्रम की प्रकृति का ही परिणाम है। महत्वपूर्ण अनुसंधानों में प्राप्त निष्कर्ष है कि अस्पृश्यों की धार्मिक-सांस्कारिक दृष्टि से अपवित्र परिस्थिति का अपवित्र शारीरिक श्रम से सम्बन्ध है। फ्रांसीसी समाजशास्त्री लुई ड्यूमा ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'होमो हायरारकिकस' में इन सम्बन्धों पर व्यापक रूप से प्रकाश डाला है।

व्यवसाय के अतिरिक्त अस्पृश्यों की जीवन-शैली में कुछ ऐसे अन्य तत्व भी हैं जो कि हिन्दू सांस्कृतिक

मूल्य-व्यवस्था में अपवित्र माने जाते हैं। इसमें एक महत्वपूर्ण तत्व भोजन है। संस्कारगत हिन्दूवाद में भोजन एवं पीने से सम्बद्ध अनेक वस्तुओं को अपवित्र तथा पवित्र (अशुद्ध एव शुद्ध) की श्रेणी में विभाजित किया गया है। जाति की परिस्थिति का घनिष्ठ सम्बन्ध उस जाति के सदस्यों की भोजन सम्बन्धी आदतों से है। अस्पृश्य जातियों के धार्मिक व्यवहार उच्च जाति हिन्दुओं से महत्वपूर्ण रूप से भिन्न है। अस्पृश्यों की धार्मिक व्यवस्था में संस्कारगत पक्षों का कम समावेश है क्योंकि पारम्परिक रूप से अस्पृश्य जातियों को हिन्दू मन्दिरों में प्रवेश का अधिकार नहीं था। अस्पृश्यता के ये वे सांस्कृतिक पक्ष हैं जो उच्चजातियों के साथ सांस्कृतिक पृथक्करण उत्पन्न करते हैं।

1. सुधारात्मक आन्दोलन अस्पृश्यता की समस्या के समाधान हेतु जाति व्यवस्था में सुधारों से सम्बद्ध है। वैकल्पिक आन्दोलन वैकल्पिक सामाजिक संरचना एवं सांस्कृतिक रचना को उत्पन्न करने के प्रयास हैं जो धर्मान्तरण अथवा शिक्षा प्राप्ति के द्वारा अस्तित्व में आते हैं। आर्थिक परिस्थिति में उर्ध्वधर गतिशीलता तथा राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति के प्रयास भी वैकल्पिक आन्दोलन के भाग हैं।

(i) संस्कृतिकरण सुधारात्मक आन्दोलन का अनिवार्य अंग है। इस प्रक्रिया में संस्तरणात्मक जाति संरचना में उच्च परिस्थितियाँ प्राप्त जातियों के प्रतिमान एवं मूल्यों का अनुकरण किया जाता है। जिसमें यह तर्क विद्यमान है कि यदि अस्पृश्य उच्च जातियों के प्रतिमानों एवं मूल्यों का अनुकरण करते हैं तो उनकी परिस्थिति में गुणात्मक सुधार सम्भव है अर्थात् उनकी परिस्थिति वर्तमान परिस्थिति की तुलना में उच्च हो सकती है।

(ii) भक्ति तथा नव-वेदान्तिक आन्दोलनों के अन्तर्गत अस्पृश्यों को जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत सम्मिलित कर अस्पृश्यता की समाप्ति के प्रयास किये गये। इन आन्दोलनों के नेतृत्वकर्ताओं का मत था कि अस्पृश्यता हिन्दू समाज-व्यवस्था का आवश्यक अंग नहीं माना जा सकता। इन सुधारकों ने जाति-व्यवस्था को चुनौती नहीं दी अपितु केवल मानवीय बनाने का प्रयास किया।

(iii) धर्मान्तरण आन्दोलन जिसका उद्देश्य प्रति संस्कृति को उत्पन्न करना तथा धर्म-परिवर्तित करने वाली इकाईयों की सामाजिक तथा आर्थिक स्थितियों में सुधार करना था। आरक्षण की नीति के अन्तर्गत अनुसूचित जाति की सांविधिक परिस्थिति उनके सामाजिक-आर्थिक विकास एवं राजनीतिक प्रतिनिधित्व का महत्वपूर्ण कारण है। अस्पृश्यता की स्थिति से उत्पन्न शोषण के कारण अनेक अनुसूचित जाति अथवा अस्पृश्यों के परिवारों ने हिन्दू धर्म का परित्याग कर बौद्ध-धर्म को अपनाया।

(iv) धर्मनिरपेक्ष आन्दोलन से तात्पर्य अस्पृश्यों के उन प्रयासों से है जिनके अन्तर्गत शिक्षा प्राप्त कर, जीवन को सुधारा जाता है तथा राजनीतिक संरचना में सहभागिता प्राप्त की जाती है जिसके द्वारा अस्पृश्य अपनी परिस्थिति को उच्च बनाते हैं।

2.(i) राज्य से संबद्ध क्रिया के अन्तर्गत उन वैधानिक एवं प्रशासनिक प्रावधानों को सम्मिलित किया जाता है जो कि अनुसूचित जातियों/अस्पृश्यों की परिस्थिति के सुधार से सम्बद्ध हैं। जैसे- (i) संसद एवं राज्य के विधान मण्डलों में प्रतिनिधित्व (ii) केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सेवाओं में प्रतिनिधि (iii) सामाजिक, शैक्षणिक एवं आर्थिक विकास के लिए विशेष प्रावधान (iv) मुनष्य के मध्य अवैध आदान-प्रदान एवं बलात श्रम पर प्रतिबन्ध (v) अस्पृश्यता के व्यवहार की समाप्ति (vi) अनुसूचित जातियों एवं जनजातीय क्षेत्रों का विकास (vii) अनुसूचित जातियों के हितों एवं संरक्षण सम्बन्धी समस्त पक्षों की जांच हेतु विशेष अधिकारी की नियुक्ति।

2.(ii) विधान मण्डलों में आरक्षण जनसंख्या की विभिन्न श्रेणियों के असमान विकास एवं राजनीति की प्रतियोगी प्रकृति के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि पिछड़े एवं निर्बल भागों को अथवा श्रेणियों को आरक्षण के विशेष प्रावधान के रूप में संसद तथा स्थानीय स्वशासन (पंचायती राज) में आरक्षण प्रदान किया गया है।

3. अनुसूचित जातियों में परिवर्तन राजनीतिक क्रियाओं की गतिशीलता की प्रक्रिया के माध्यम से राजनीतिक दलों द्वारा प्रारम्भ की गयी। भारत में बहुदलीय व्यवस्था है। इस आधार पर यह अपेक्षा की जाती है कि अनुसूचित जातियों के कुछ सदस्य राजनीतिज्ञों के रूप में विभिन्न राजनीतिक दलों में प्रवेश करें तथा ऐसे राजनीतिक दलों की स्थापना करें।

## 9.7 जाति प्रथा की मुख्य विशेषताएं

जाति की सबसे सामान्य निर्धारित विशेषताएँ निम्न हैं :

- जाति, जन्म से निर्धारित होती है। एक बच्चा अपने माता-पिता की जाति में ही 'जन्म लेता' है। जाति कभी चुनाव का विषय नहीं होती। हम अपनी जाति को कभी भी बदल नहीं सकते, छोड़ नहीं सकते या हम इस बात का चुनाव नहीं कर सकते कि हमें जाति में शामिल होना है या नहीं। हालाँकि, ऐसे उदाहरण हैं जहाँ एक व्यक्ति को उसकी जाति से निकाला भी जा सकता है।
- जाति की सदस्यता के साथ विवाह संबंधी कठोर नियम शामिल होते हैं। जाति समूह 'सजातीय' होते हैं अर्थात् विवाह समूह के सदस्यों में ही हो सकते हैं।
- जाति सदस्यता में खाने और खाना बाँटने के बारे में नियम भी शामिल होते हैं। किस प्रकार का खाना खा सकते हैं और किस प्रकार का नहीं, यह निर्धारित है और किसके साथ खाना बाँटकर खाया जा सकता है यह भी निर्धारित होता है।
- जाति में श्रेणी एवं परिस्थिति के एक अधिक्रम में संयोजित अनेक जातियों की एक व्यवस्था शामिल होती है। सैद्धांतिक तौर पर, हर व्यक्ति की एक जाति होती है और हर जाति का सभी जातियों के अधिक्रम में एक निश्चित स्थान होता है। जहाँ अनेक जातियों की अधिक्रमित स्थिति, विशेषकर मध्यक्रम की श्रेणियों में, एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में बदल सकती है पर अधिक्रम हमेशा पाया जाता है।
- जातियों में आपसी उप-विभाजन भी होता है अर्थात् जातियों में हमेशा उप-जातियाँ होती हैं और कभी-कभी उप-जातियों में भी उप-उप-जातियाँ होती हैं। इसे खंडात्मक संगठन कहते हैं।
- पारंपरिक तौर पर जातियाँ व्यवसाय से जुड़ी होती थीं। एक जाति में जन्म लेने वाला व्यक्ति उस जाति से जुड़े व्यवसाय को ही अपना सकता था, अतः वह व्यवसाय वंशानुगत थे अर्थात् यह पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होते थे। दूसरी ओर, एक विशेष व्यवसाय को किसी जाति से जुड़े होने की वजह से उसी जाति के लोग अपना सकते थे, किसी दूसरी जातियों के सदस्य वह काम नहीं कर सकते थे।



## सारांश

जाति के लिए संस्कृति शब्द वर्ण है जिसका अर्थ है रंग। भारतीय समाज के जातिगत स्तरीकरण की उत्पत्ति चतुरवर्ण व्यवस्था में हुई थी—ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य और शूद्र। भारतीय समाजशास्त्री डीएन मजुमदार ने अपनी पुस्तक 'रेस एंड कल्चर इन इंडिया' में लिखा है, भारत में आर्यों के आगमन के बाद जाति व्यवस्था ने अपना जन्म लिया। वे अक्सर उस गाँव में भी नहीं रहते थे बल्कि उनका आवास कस्बों या शहरों में होता था। अब ये भूमि-अधिकार उस अगले स्तर के दावेदारों को प्राप्त हो गए हैं जो कृषि के प्रबंध में तो शामिल थे पर स्वयं भूमि नहीं जोतते थे। परम्परागत सिद्धान्त के अन्तर्गत जाति व्यवस्था के उदगम् के आधार हिन्दू धर्म में खोजे गये। जिसकी मूल अवधारणा ऋग्वेद में उल्लिखित 'मूल बलि' से है जिसके अनुसार इस बलि से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र नामक चार वर्णों की उत्पत्ति हुई है। उपरोक्त तर्क के स्पष्टीकरण के लिए श्रीनिवास द्वारा रामपुर गाँव (मैसूर) का अध्ययन-रामपुर गाँव में ब्राह्मण, किसान व अस्पृश्य सहित अनेक जातियाँ रहती हैं।

## अभ्यास प्रश्नोत्तर

### बहुविकल्पीय प्रश्न

- कास्टा शब्द से क्या अभिप्राय है?
 

(a) वंश	(b) नस्ल
(c) दौड़	(d) उपरोक्त सभी
- ऋग्वेद में सर्वाधिक किस जाति का उल्लेख है?
 

(a) ब्राह्मण	(b) क्षत्रिय
(c) वैश्य	(d) शूद्र
- क्षत्रियों का प्रमुख कार्य क्या था?
 

(a) यज्ञ करना	(b) व्यापार करना
(c) रक्षा करना	(d) सेवा करना
- पदानुक्रम में सबसे निचला वर्ण कौन-सा था?
 

(a) वैश्य	(b) शूद्र
(c) क्षत्रिय	(d) ब्राह्मण
- वर्ण व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य क्या था?
 

(a) जिम्मेवारिया बाँटना	(b) जाति की शुद्धता बनाए रखना
(c) व्यवसाय करना	(d) उपरोक्त सभी
- प्रबल जाति कौन-सी होती थी?
 

(a) सर्वश्रेष्ठ जाति
(b) वह जाति जिसका राजनैतिक वर्चस्व गाँव में होता है।
(c) वह जाति जिसका गाँव में संसाधनों पर सबसे अधिक अधिकार होता है।
(d) उपरोक्त सभी

7. जातिप्रथा का ज्ञान मूल स्रोत क्या है?
- (a) ऋग्वेद (b) सामवेद  
(c) अथर्ववेद (d) चतुर्वेद
8. सामाजिक गतिशीलता के पारम्परिक मार्ग कौन से हैं?
- (a) संस्कृतिकरण (b) प्रवजन  
(c) धर्मपरिवर्तन (d) उपरोक्त सभी
9. भारत के किस भाग में आज भी जाति प्रथा की जड़ें बहुत गहरी हैं?
- (a) उत्तर भारत (b) दक्षिण भारत  
(c) पूर्वी भारत (d) पश्चिमी भारत

### लघु उत्तरीय प्रश्न

1. जाति व वर्ण में संबंध बताते हुए इनमें अंतर स्पष्ट कीजिए।
2. भारत में जाति प्रथा के उदभव के विभिन्न सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए।
3. जाति व्यवस्था के कार्यों को सूचीबद्ध कीजिए।
4. जाति किस प्रकार सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार बन गई है?

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. जाति प्रथा के इतिहास पर टिप्पणी कीजिए।
2. जाति प्रथा में परिवर्तन किस प्रकार हुआ है?
3. जातिगत भेदभाव से क्या अभिप्राय है? क्यों आज भी भारत में जातिगत भेदभाव पाया जाता है?
4. जाति प्रथा की मुख्य विशेषताएँ बताइए।

---

### संदर्भ पुस्तकें

---

1. समाजशास्त्र कक्षा-11 एनसीईआरटी
2. समाजशास्त्र कक्षा-12 एनसीईआरटी
3. जनसंख्या भूगोल, आर.सी. चांदना
4. समाज की समझ, योगेश अटल
5. समाजशास्त्र-अवधारणा एवं सिद्धांत, जे.पी. सिंह

# अध्याय-10

## धर्म व समाज

10.1 परिचय

10.2 वैदिक धर्म का उद्भव

10.3 धर्म व राजनीति

---

### 10.1 परिचय

---

धर्म को लंबे समय तक सभ्य जगत की उपज ही माना जाता रहा है। जब तक कि टॉयलर ने यह विश्वसनीय प्रमाण नहीं दे दिया कि आदिम समाजों में भी धार्मिक क्रियाएँ होती थी। भारत एक ऐसा देश है जहाँ धार्मिक विविधता और धार्मिक सहिष्णुता को कानून और समाज दोनों के द्वारा मान्यता प्रदान की गयी है। भारत के संपूर्ण इतिहास के दौरान धर्म का भारतीय संस्कृति में महत्वपूर्ण स्थान रहा है। भारत विश्व की चार प्रमुख धार्मिक परंपराओं का जन्म स्थान है हिन्दू धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म तथा सिख धर्म। भारतीयों का एक विशाल बहुमत स्वयं के किसी न किसी धर्म से संबंधित अवश्य बताता है। भारत में धार्मिक समुदाय—

1. हिन्दू धर्म – यह एक हीनीथीस्टिक (बहुईश्वरवादी) धर्म तथा भारत का सबसे बड़ा धर्म है। जनसंख्या में इसके अनुयायियों का अनुपात 85.5% है। हिन्दू शब्द मूलतः एक भौगोलिक स्थिति को दर्शाता है। इसे संस्कृत शब्द सिंधु से लिया गया है।

2. इस्लाम एक एकेश्वरवादी धर्म है।

3. ईसाई समुदाय भी एकेश्वरवादी है।

4. जैन तथा बौद्ध धर्म के लोग भी भारत में पाये जाते हैं। 5. यहूदी, पारसी तथा सिख समुदाय भी पाया जाता है। भारत में हिंदू समुदाय के लोग बहुसंख्यक हैं। इस्लाम धर्म, जैन धर्म, सिख धर्म, ईसाई, पारसी धर्मावलम्बी भारत में अल्पसंख्यक हैं।

---

### 10.2 वैदिक धर्म का उद्भव

---

वैदिक धर्म वैदिक सभ्यता का मूल धर्म था। यह हजारों वर्षों से भारतीय उपमहाद्वीप और मध्य एशिया में चला रहा है। आधुनिक सनातन धर्म या हिन्दू धर्म इसी धार्मिक व्यवस्था पर आधारित है।

देवी-देवता—ब्रह्मा, इन्द्र, अग्निदेव, वरुण देवता, सोम देवता, अश्विनीकुमार, पूषण, विष्णु, रुद्र, मित्र, विवस्तान,

पृथ्वी देवी, अरण्यानी आदि।

**विश्वास और दर्शनशास्त्र**—पुनर्जन्म, पूजा, भक्ति, संस्कार, पितर, दर्शन, हिन्दू धर्म, वेदान्त, योग, आयुर्वेद।

**ग्रंथ**—वेदसंहिता, वेदांग, ब्राह्मण ग्रंथ, आरण्यक, उपनिषद, श्रीमद्भगवतगीता, रामायण, महाभारत, समत्र, पुराण।

**संबंधित लेख**—हिन्दू धर्म संस्कार, यज्ञ, श्राद्ध।

वैदिक धर्म कर्म पर आधारित था। यह धर्म पूर्णतः प्रतिमार्गी है। वैदिक देवताओं में पुरुष भाव की प्रधानता है। अधिकांश देवताओं की अराधना मानव के रूप में की जाती थी, किन्तु कुछ देवताओं की आराधना पशु के रूप में भी की जाती थी। अज एकपाद और अहितर्बुध्न्य दोनों देवताओं की परिकल्पना पशु के रूप में की गई है। मरुतों की माता की परिकल्पना चितकबरी गाय के रूप में की गई है। इन्द्र की गाय खोजने वाला सरमा श्वान के रूप में है। इसके अतिरिक्त इन्द्र की कल्पना वृषभ के रूप में एवं सूर्य की अश्व के रूप में की गई हैं ऋग्वेद में पशुओं की पूजा का प्रचलन नहीं था। ऋग्वैदिक देवताओं में किसी प्रकार का उंच-नीच का भेदभाव नहीं था। वैदिक ऋषियों ने सभी देवताओं की महिमा गाई है। ऋग्वैदिक लोगों ने प्राकृतिक शक्तियों का मानवीकरण किया है। इस समय बहुदेववाद का प्रचलन था। ऋग्वैदिक आर्यों की देवमण्डली तीन भागों में विभाजित थी—

1. **आकाश के देवता**—सूर्य, वरुण, मित्र, पूषन, विष्णु, उषा, अपानपात, सवित, त्रिप, विंवस्वत, आदिंत्यगग, अश्विनद्वय आदि।

2. **अन्तरिक्ष के देवता**—इन्द्र, मरुत, रुद्र, वायु, पर्जन्य, मातरिश्वन, अज एकपाद, आप।

3. **पृथ्वी के देवता**—अग्नि, सोम, पृथ्वी, बृहस्पति तथा नदियां।

इस देव समूह में सर्वप्रधान देवता कौन था, यह निर्धारित करना कठिन है। ऋग्वैदिक ऋषियों ने जिस समय जिस देवता की स्तुति की उसे ही सर्वोच्च मानकर उसमें सम्पूर्ण गुणों का अरोपण कर दिया। मैक्समूलर ने इस प्रवृत्ति की हीनाथीज्म कहा है। सूक्तों की संख्या की दृष्टि यह मानना न्यायसंगत होगा कि इनका सर्वप्रधान देवता इन्द्र था।

**इन्द्र**—मुख्य लेख ऋग्वेद में अन्तरिक्ष स्थानीय इन्द्र का वर्णन सर्वाधिक प्रतापी देवता के रूप में किया गया है। ऋग्वेद के करीब 250 सूक्तों में इनका वर्णन है। इन्द्र को वर्षा का देवता माना जाता था। उन्होंने वृक्ष राक्षस को मारा था इसीलिए उन्हें वृत्रहन् कहा जाता है। अनेक किलों को नष्ट कर दिया था, इस रूप में वे पुरन्दर कहे जाते हैं। इन्द्र ने वृत्र की हत्या करके जल को मुक्त कराया है इसलिए उन्हें पुर्मिद कहा गया। इन्द्र के लिए एक विशेषण अन्सुतीज भी आता है। इन्द्र के पिता द्यौंस हैं, अग्नि उसका यमज भाई है और मरुत उसका सहयोगी है। विष्णु ने वृत्र के वध में इन्द्र की सहायता की थी। ऋग्वेद में इन्द्र को समस्त संसार का स्वामी बताया गया है। उसका प्रिय आयुद्ध बज्र है इसलिए उन्हें बज्रबाहु भी कहा गया है।

आधुनिक आर्य समाज इसी धार्मिक व्यवस्था पर आधारित है। वैदिक संस्कृत में लिखे चार वेद इसकी धार्मिक किताबें हैं। वेदिक मान्यता के अनुसार ऋग्वेद और अन्य वेदों के मन्त्र परमेश्वर अथवा परमात्मा द्वारा ऋषियों को प्रकट किये गए थे। इसलिए वेदों को श्रुति यानि, जो सुना गया है कहा जाता है, जबकि श्रुति ग्रन्थों के अनुशरण कर वेदज द्वारा रचा गया वेदांगादि सूत्र ग्रंथ स्मृति कहलाता है। जिसके नीचे पर वैदिक सनातन धर्म और वैदिक आर्यसमाजी आदि सभी का व्यवहार का आधार रहा है। कहा जाता है। वेदों को अपौरुषय यानि जीवपुरुषकृत भी

कहा जाता है, जिसका तात्पर्य है कि उनकी कृति दिव्य है, अतः श्रुति मानवसम्बद्ध दोष मुक्त है। प्राचीन वैदिक सनातन वर्णाश्रम धर्म का सारा धार्मिक व्यवहसार विभिन्न वेद शाखा सम्बन्ध कल्पसूत्र, श्रौतसूत्र, गृहसूत्र, धर्मसूत्र आदि ग्रन्थों के आधार में चलता है। इसके अलावा अर्वाचीन वैदिक (आर्य समाज) केवल वेदों के संहिताखण्ड को ही वेद स्वीकारते हैं।

वैदिक धर्म और सभ्यता की जड़ में संसार के सभी सभ्यता किसी न किसी रूप में दिखाई देता है। आदिम हिन्द अवेस्ता धर्म और उस से भी प्राचीन आदिम हिन्द-यूरोपीय धर्म तक पहुंचती है, जिनके कारण वैदिक धर्म यूरोप, मध्य एशिया/ईरान के प्राचीन धर्मों में भी किसी-न-किसी रूप में मान्य थे, जैसे यजन्मे जिनका आदर किया जाता है उन शिव या बुद्ध और पार्वती। इसी तरह बहुत से वैदिक शब्दों के प्रभाव सजातीय शब्द अवेस्ताधर्म और प्राचीन यूरोप धर्मों में पाए जाते हैं, जैसे कि सोम, यज्ञ, पितर-फादर, मातर-मादर, भ्रातर-ब्रदर स्वासार-स्विष्टर नक्त नाइट् इत्यादि।

**आत्मा की एकता**—वैदिक धर्म में आत्मा की एकता पर सबसे अधिक जोर दिया गया है। जो आदमी इस तत्व को समझ लेगा, वह किससे प्रेम नहीं करेगा? जो आदमी यह समझ जाएगा कि घट-घट में तोरा साईं रमत है। वह किस पर नाराज होगा? किसे मारेगा? किसे पीटेगा? किसे सताएगा? किसे गाली देगा? किसके साथ बुरा व्यवहार करेगा?

**वैदिक सूत्र**—वेदों में हमें बहुत से प्रकृति की स्तुति और प्रार्थना के मंत्र मिलते हैं।

### 10.3 धर्म व राजनीति

समस्या तब शुरू होती है जब धर्म को राष्ट्र का आधार मान लिया जाता है। उत्तरी आयरलैंड का उदाहरण राष्ट्रवाद की ऐसी ही अवधारणा से जुड़े खतरों को दिखाता है। समस्या तब और विकराल हो जाती है जब राजनीति में धर्म की अभिव्यक्ति एक समुदाय की विशिष्टता के दावे और पक्षपोषण का रूप लेने लगती है तथा इसके अनुयायी दूसरे धर्मावलंबियों के खिलाफ मोर्चा खोलने लगते हैं। ऐसा तब होता है जब एक धर्म के विचारों को दूसरे से श्रेष्ठ माना जाने लगता है और कोई एक धार्मिक समूह अपनी माँगों को दूसरे समूह के विरोध में खड़ा करने लगता है। इस प्रक्रिया में जब राज्य अपनी सत्ता का इस्तेमाल किसी एक धर्म के पक्ष में करने लगता है तो स्थिति और विकट होने लगती है।

राजनीति से धर्म को इस तरह जोड़ना ही सांप्रदायिकता है। सांप्रदायिक राजनीति इस सोच पर आधारित होती है कि धर्म ही सामाजिक समुदाय का निर्माण करता है। इस मान्यता के अनुकूल सोचना सांप्रदायिकता है।

इस सोच के अनुसार एक खास धर्म में आस्था रखने वाले लोग एक ही समुदाय के होते हैं। उनके मौलिक हित एक जैसे होते हैं तथा समुदाय के लोगों के आपसी मतभेद सामुदायिक जीवन में कोई अहमियत नहीं रखते।

इस सोच में यह बात भी शामिल है कि किसी अलग धर्म को मानने वाले लोग दूसरे सामाजिक समुदाय का हिस्सा नहीं हो सकते; अगर विभिन्न धर्मों के लोगों की सोच में कोई समानता दिखती है तो यह ऊपरी और बेमानी होती है। अलग-अलग धर्मों के लोगों के हित तो अलग-अलग होंगे ही और उनमें टकराव भी होगा। सांप्रदायिक सोच जब ज्यादा आगे बढ़ती है तो उसमें यह विचार जुड़ने लगता है कि दूसरे धर्मों के अनुयायी एक ही राष्ट्र में

समान नागरिक के तौर पर नहीं रह सकते। इस मानसिकता के अनुसार या तो एक समुदाय के लोगों को दूसरे समुदाय के वर्चस्व में रहना होगा या फिर उनके लिए अलग राष्ट्र बनाना होगा। यह मान्यता बुनियादी रूप से गलत है। एक धर्म के लोगों के हित और उनकी आकांक्षाएँ हर मामले में एक जैसी हों— यह संभव नहीं है। हर व्यक्ति कई तरह की भूमिका निभाता है। उसकी हैसियत और पहचान अलग-अलग होती है।

हर समुदाय में तरह-तरह के विचार के लोग होते हैं। इन सभी को अपनी बात कहने का अधिकार है इसलिए एक धर्म से जुड़े सभी लोगों को किसी गैर-धार्मिक संदर्भ में एक करके देखना उस समुदाय की विभिन्न आवाजों को दबाना है। सांप्रदायिकता राजनीति में अनेक रूप धारण कर सकती है : सांप्रदायिकता की सबसे आम अभिव्यक्ति दैनंदिन जीवन में ही दिखती है। इनमें धार्मिक पूर्वाग्रह, धार्मिक समुदायों के बारे में बनी बनाई धारणाएँ और एक धर्म को दूसरे धर्म से श्रेष्ठ मानने की मान्यताएँ शामिल हैं।

ये चीजें इतनी आम हैं कि अक्सर हम उन पर ध्यान तक नहीं देते जबकि ये हमारे अंदर ही बैठी होती हैं। सांप्रदायिक सोच अक्सर अपने धार्मिक समुदाय का राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने के फिराक में रहती है। जो लोग बहुसंख्यक समुदाय के होते हैं उनकी यह कोशिश बहुसंख्यकवाद का रूप ले लेती है। जो अल्पसंख्यक समुदाय के होते हैं उनमें यह विश्वास अलग राजनीतिक इकाई बनाने की इच्छा का रूप ले लेता है। मैं अक्सर दूसरे धर्म के लोगों के बारे में चुटकुले सुनाता हूँ।

लोकतांत्रिक राजनीति से सांप्रदायिक आधार पर राजनीतिक गोलबंदी सांप्रदायिकता का दूसरा रूप है। इसमें धर्म के पवित्र प्रतीकों, धर्मगुरुओं, भावनात्मक अपील और अपने ही लोगों के मन में डर बैठाने जैसे तरीकों का उपयोग बहुत आम है। चुनावी राजनीति में एक धर्म के मतदाताओं की भावनाओं या हितों की बात उठाने जैसे तरीके अक्सर अपनाए जाते हैं। कई बार सांप्रदायिकता सबसे गंदा रूप लेकर संप्रदाय के आधार पर हिंसा, दंगा और नरसंहार कराती है। विभाजन के समय भारत और पाकिस्तान में भयावह सांप्रदायिक दंगे हुए थे। आज़ादी के बाद भी बड़े पैमाने पर सांप्रदायिक हिंसा हुई है।

धर्मनिरपेक्ष शासन सांप्रदायिकता हमारे देश के लोकतंत्र के लिए एक बड़ी चुनौती रही है। हमारे संविधान निर्माता इस चुनौती के प्रति सचेत थे। इसी कारण उन्होंने धर्मनिरपेक्ष शासन का मॉडल चुना और इसी आधार पर संविधान में अनेक प्रावधान किए गए हैं इनके बारे में हम पिछले साल पढ़ चुके हैं। भारतीय राज्य ने किसी भी धर्म को राजकीय धर्म के रूप में अंगीकार नहीं किया है। श्रीलंका में बौद्ध धर्म, पाकिस्तान में इस्लाम और इंग्लैंड में ईसाई धर्म का जो दर्जा रहा है उसके विपरीत भारत का संविधान किसी धर्म को विशेष दर्जा नहीं देता। संविधान सभी नागरिकों और समुदायों को किसी भी धर्म का पालन करने और प्रचार करने की आज़ादी देता है। संविधान धर्म के आधार पर किए जाने वाले किसी तरह के भेदभाव को अवैधानिक घोषित करता है। जाति, धर्म और लैंगिक मसले स इसके साथ ही संविधान धार्मिक समुदायों में समानता सुनिश्चित करने के लिए शासन को धार्मिक मामलों में दखल देने का अधिकार देता है। जैसे, यह छुआछूत की इजाज़त नहीं देता। इस हिसाब से देखें तो धर्मनिरपेक्षता कुछ पार्टियों या व्यक्तियों की एक विचारधारा भर नहीं है।

यह विचार हमारे संविधान की बुनियाद है। सांप्रदायिकता भारत में सिर्फ कुछ लोगों के लिए ही एक खतरा नहीं है। यह भारत की बुनियादी अवधारणा के लिए एक चुनौती है, एक खतरा है। हमारी तरह का धर्मनिरपेक्ष संविधान

जरूरी चीज़ है पर अकेले इसी के बूते सांप्रदायिकता का मुकाबला नहीं किया जा सकता। हमें अपने दैनंदिन जीवन में सांप्रदायिक पूर्वाग्रहों और दुष्प्रचारों का मुकाबला करना होगा तथा धर्म पर आधारित गोलबंदी का मुकाबला राजनीति के दायरे में करने की जरूरत है।

---

## सारांश

---

भारत विश्व की चार प्रमुख धार्मिक परंपराओं का जन्म स्थान है हिन्दू धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म तथा सिख धर्म। इन्द्र की पहचान गाय खोजने वाले सूरमा श्वान के रूप में है। इसके अतिरिक्त इन्द्र की कल्पना वृषभ के रूप में एवं सूर्य की अश्व के रूप में की गई हैं ऋग्वेद में पशुओं की पूजा का प्रचलन नहीं था। ऋग्वैदिक देवताओं में किसी प्रकार का उंच-नीच का भेदभाव नहीं था। जिनके कारण वैदिक धर्म यूरोप, मध्य एशिया/ईरान के प्राचीन धर्मों में भी किसी-न-किसी रूप में मान्य थे, जैसे यजन्मे जिनका आदर किया जाता है अलग-अलग धर्मों के लोगों के हित तो अलग-अलग होंगे ही और उनमें टकराव भी होगा। सांप्रदायिक सोच जब ज़्यादा आगे बढ़ती है सांप्रदायिकता की सबसे आम अभिव्यक्ति दैनंदिन जीवन में ही दिखती है। श्रीलंका में बौद्ध धर्म, पाकिस्तान में इस्लाम और इंग्लैंड में ईसाई धर्म का जो दर्जा रहा है उसके विपरीत भारत का संविधान किसी धर्म को विशेष दर्जा नहीं देता। संविधान सभी नागरिकों और समुदायों को किसी भी धर्म का पालन करने और प्रचार करने की आज़ादी देता है। हमें अपने दैनंदिन जीवन में सांप्रदायिक पूर्वाग्रहों और दुष्प्रचारों का मुकाबला करना होगा तथा धर्म पर आधारित गोलबंदी का मुकाबला राजनीति के दायरे में करने की जरूरत है।

---

## अभ्यास प्रश्नोत्तर

---

### बहुविकल्पीय प्रश्न

- किस देश में धार्मिक विविधता को कानूनी मान्यता दी गई है?
 

(a) भारत	(b) पाकिस्तान
(c) श्रीलंका	(d) बांग्लादेश
- कौन-सा धर्म बहु-ईश्वरवादी है?
 

(a) जैन धर्म	(b) बौद्धधर्म
(c) हिन्दू धर्म	(d) ईसाई धर्म
- वैदिक धर्म का आधार क्या है?
 

(a) पूजा पाठ	(b) कर्म
(c) हवन यज्ञ	(d) कर्मकाण्ड
- वैदिक धर्म में सर्वाधिक प्रसिद्ध देवता कौन-सा है?
 

(a) इन्द्र देवता	(b) अग्नि देवता
(c) वायु देवता	(d) जल देवता

5. वैदिक धर्म पर निम्नलिखित में से कौन आधारित हैं?
- (a) ब्रह्मसमाज (b) आर्यसमाज  
(c) गरीबदास (d) कबीरदास
6. वैदिक धर्म ने किसकी एकता पर अधिक जोर दिया है?
- (a) ज्ञान (b) कर्म  
(c) आत्मा (d) भगवान
7. सांप्रदायिकता किसको जोड़ती है?
- (a) धर्म को समुदाय से (b) धर्म को राजनीति से  
(c) धर्म को समाज से (d) उपरोक्त से
8. धर्म के मामले में आधुनिक भारत किस प्रकार का राज्य है?
- (a) एक धर्मी (b) बहुधर्मी  
(c) दो धर्मी (d) नास्तिक

### लघु उत्तरीय प्रश्न

1. वैदिक धर्म के उदभव व विकास पर टिप्पणी कीजिए।
2. वैदिक धर्म के अनुसार इन्द्र की महत्ता का वर्णन कीजिए।
3. धर्म व राजनीति के गठजोड़ को बताते हुए समझाइए कि यह समाज के लिए किस प्रकार घातक हैं?

---

### संदर्भ पुस्तकें

---

1. समाजशास्त्र कक्षा-11 एनसीईआरटी
2. समाजशास्त्र कक्षा-12 एनसीईआरटी
3. जनसंख्या भूगोल, आर.सी. चांदना
4. समाज की समझ, योगेश अटल
5. समाजशास्त्र-अवधारणा एवं सिद्धांत, जे.पी. सिंह



# लिंग सामाजिकरण व लिंग की भूमिका

11.1 परिचय

11.2 संरचना व संस्था

11.3 सामाजिकीकरण की प्रक्रिया

---

## 11.1 परिचय

---

समूह से हमरा अभिप्रायः है कि जो सामाजिककरण के सामाजिक मानदंडों और भूमिका एजेंटों को बढ़ावा देते हैं यह एक सामाजिक वर्गीकरण प्रक्रिया की शुरुआत है जो जीवन भर जारी रहती है। अनधिकृत मजदूरी का अंतर वेतन अंतर को मापता है जो व्यक्तिगत (जैसे, उम्र, शिक्षा, बच्चों की संख्या, नौकरी का कार्यकाल, व्यवसाय और व्यावसायिक भीड़) और कार्यस्थल (जैसे—आर्थिक क्षेत्र) में अंतर को ध्यान में नहीं रखता है। परिवार सामाजिकीकरण का सबसे महत्वपूर्ण एजेंट है क्योंकि यह बच्चे के जीवन के केंद्र के रूप में कार्य करता है। सामाजिकीकरण सिद्धान्त हमें बताता है कि प्राथमिक सामाजिकीकरण—वह प्रक्रिया जो तब होती है जब कोई बच्चा किसी विशेष संस्कृति में व्यक्तियों के अपेक्षित व्यवहार, मूल्यों और कार्यों को सीखता है। पुरुषों और स्त्रियों के बीच जैविक और शारीरिक स्पष्ट अंतरों के कारण अक्सर यही समझा जाता है कि लैंगिक असमानता प्रकृति की ही देन है। यह जानने के लिए कि ये दोनों ही धारणाएँ गलत हैं, स्त्रियों द्वारा स्त्री-पुरुष तुलना 1882 में और सुल्तानाज ड्रीम 1905 में लिखी गई थी।

---

## 11.2 संरचना व संस्था

---

**सामाजिकीकरण के एजेंट**—बच्चे छोटी उम्र में सीखते हैं कि लड़के और लड़कियों के लिए अलग-अलग उम्मीदें हैं और यह कि वे सबसे शुरुआती तरीके से सीखते हैं कि वे लैंगिक भूमिकाएँ निभाते हैं। और जैसे-जैसे बच्चे बड़े होते हैं, लिंग की भूमिका अलग-अलग समूहों द्वारा प्रबलित होती रहती है। हम उन समूहों को कहते हैं जो सामाजिककरण के सामाजिक मानदंडों और भूमिका एजेंटों को बढ़ावा देते हैं या लागू करते हैं। लिंगीकरण सामाजिकीकरण सामाजिकीकरण के चार प्रमुख एजेंटों के माध्यम से होता है : परिवार, शिक्षा, सहकर्मी समूह और बड़े पैमाने पर मीडिया। प्रत्येक एजेंट लिंग-विशिष्ट व्यवहार के लिए अपेक्षाओं को बनाने और बनाए रखने के द्वारा लिंग भूमिकाओं को पुष्ट करती है।

परिवार सामाजीकीकरण का पहला और सबसे प्रभावशाली एजेंट है। लिंग की भूमिकाएँ जो एक बच्चा सीखता है, वह जीवन के लिए बाद में बच्चे के लिए टोन सेट करता है और बाद में एक बच्चे के लिए अपनी विचार प्रक्रिया को बदलना मुश्किल बना देता है। इस बात के काफी प्रमाण हैं कि माता-पिता बेटे ओर बेटियों का सामाजिक तौर पर अलग-अलग रूप लेते हैं। उदाहरण के लिए, लड़कों को बेटियों की तुलना में पहले की उम्र में अधिक स्वतंत्रता और आजादी की अनुमति है। उन्हें उपयुक्त कपड़ों, डेटिंग की आदतों या कर्पयू पर कम प्रतिबंध दिया जा सकता है। वे घरेलू कर्तव्यों को पूरा करने से भी मुक्त हो सकते हैं, जैसे कि सफाई या खाना पकाने और अन्य घरेलू कार्य जिन्हें स्त्री का माना जाता है। दूसरी ओर, बेटियाँ, निष्क्रिय और पोषित होने की उनकी अपेक्षा से सीमित हो सकती हैं, आमतौर पर आज्ञाकारी, और घर की कई जिम्मेदारियों को संभालने के लिए।

और यहाँ तक कि जब माता-पिता लिंग समानता को एक लक्ष्य के रूप में निर्धारित करते हैं, तो असमानता के अंतर्निहित संकेत हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, जब घर के कामों को विभाजित किया जाता है, तो लड़कों से कूड़ा उठाने या अन्य कार्यों को करने के लिए कहा जा सकता है। जिसमें ताकत या कठोरता की आवश्यकता होती है, जबकि लड़कियों को कपड़े धोने या गुना करने के लिए कहा जा सकता है जिसमें साफ-सफाई और देखभाल की आवश्यकता होती है। यह भी पाया गया है कि पिता माँ की तुलना में घर के कार्य कम करते हैं।

**जन्म से पहले सामाजीकीकरण**—बच्चे के जन्म से पहले ही लिंग सामाजीकीकरण की तैयारी शुरू हो जाती है। पहला सवाल जो लोग माता-पिता से पूछते हैं, वह यह है कि बच्चा लड़का होगा या लड़की। यह एक सामाजिक वर्गीकरण प्रक्रिया की शुरुआत है जो जीवन भर जारी रहती है। बच्चे के जन्म की तैयारी अक्सर अपेक्षित सेक्स को ध्यान में रखती है, जैसे कि शिशु के कमरे को गुलाबी या नीले रंग में रंगना।

**प्रारंभिक जीवन सामाजीकीकरण**—पूर्व स्कूली कक्षाओं में प्रारंभिक जीवन लिंग सामाजीकीकरण का एक उदाहरण देखा जा सकता है। पूर्व स्कूली कक्षाओं में बच्चों को जहाँ शिक्षकों को लिंग अंतर पर जोर देने के लिए कहा गया था, लड़कों या लड़कियों के लिए क्या गतिविधियाँ उपयुक्त हैं, इस बारे में रूढ़िवादी विचारों में वृद्धि देखी गई, जबकि जिन शिक्षकों ने लिंग पर जोर नहीं दिया, उनमें बच्चों ने रूढ़िबद्ध विचारों में कोई वृद्धि नहीं दिखाई। यह स्पष्ट रूप से लिंग भूमिकाओं के विकास पर सामाजीकीकरण के प्रभाव को दर्शाता है; हमारे रोजमर्रा के जीवन में हमें घेरने वाले सूक्ष्म संकेत लिंग सामाजीकीकरण को मजबूती से प्रभावित करते हैं।

**किशोर सामाजीकीकरण**—किशोरों के कार्यबल में प्रवेश करते ही लिंग सामाजीकीकरण की प्रक्रिया जारी रहती है। शोध में पाया गया है कि किशोरों ने अपनी पहली नौकरियों में कार्यबल में लिंग प्रदर्शन के रूढ़ियों का सामना किया। पहली नौकरियाँ सेक्स से काफी अलग होती हैं। लड़कियाँ कम घंटे काम करती हैं और लड़कों की तुलना में प्रति घंटा कम कमाती हैं। लड़कियों की तुलना में नौकरी के प्रकारों में प्रति घंटा मजदूरी अधिक होती है, जबकि लड़कियों को अधिक बार गृहकार्य और चाइल्डकैअर ड्यूटी सौंपी जाती है। पेशेवर दुनिया में इन पहले अनुभवों के प्रभाव से किशोरों के दृष्टिकोण का पता चलेगा कि पुरुष और महिला कार्यबल में अलग तरह से कैसे व्यवहार करते हैं।

जेंडर गैप सीखना—लिंग वेतन अंतर, या पुरुष और महिला आय के बीच का अंतर, मुख्य रूप से भेदभावपूर्ण सामाजिक प्रक्रियाओं के कारण है।

सीखने के मकसद—आर्थिक जगत में पुरुषों और विशेष रूप से महिलाओं दोनों पर, जन वेतन/वेतन अंतर के प्रभाव पर चर्चा कर सकते हैं।

### प्रमुख बिन्दु

- इस बात पर बहस जारी है कि लैंगिक वेतन अंतर किस हद तक लैंगिक अंतर, जीवन शैली विकल्पों के कारण निहित भेदभाव या स्पष्ट भेदभाव के कारण है।
- अन्यायपूर्ण वेतन अंतर से तात्पर्य वेतन अंतर से है जो पुरुषों और महिलाओं के बीच व्यक्तिगत और कार्यस्थल विशेषताओं में अंतर को ध्यान में नहीं रखता है।
- हम मान सकते हैं कि समायोजित वेतन अंतर निहित भेदभाव के कारण अंतराल का प्रतिनिधित्व करता है। दूसरे शब्दों में, सामाजिक ताकतें जो महिलाओं को पुरुषों की तुलना में अधिक बार बच्चों के साथ घर में रहने या कम आक्रामक होने का कारण बनती हैं, मजदूरी अंतर के इस हिस्से के लिए जिम्मेदार हैं।
- अन्यायपूर्ण और समायोजित वेतन अंतर के बीच का अंतर स्पष्ट भेदभाव या इस तथ्य के कारण है कि औसतन एक महिला एक ही समान व्यवसाय में एक समान पुरुष से कम कर देगी।
- अध्ययनों से पता चला है कि जेंडर वेज गैप का अधिकांश हिस्सा अंतर्निहित, स्पष्ट नहीं, भेदभाव के कारण होता है।

यह निर्धारित करने के लिए कि क्या लिंग अंतर निहित या स्पष्ट भेदभाव का परिणाम है, हम समायोजित और अनधिकृत वेतन अंतर को देख सकते हैं। अनधिकृत मजदूरी का अंतर वेतन अंतर को मापता है जो व्यक्तिगत (जैसे, उम्र, शिक्षा, बच्चों की संख्या, नौकरी का कार्यकाल, व्यवसाय और व्यावसायिक भीड़) और कार्यस्थल (जैसे—आर्थिक क्षेत्र) में अंतर को ध्यान में नहीं रखता है। और रोजगार के स्थान) पुरुषों और महिलाओं के बीच की विशेषताएँ। कच्चे वेतन अंतराल के कुछ हिस्सों को इस तथ्य के लिए जिम्मेदार ठहराया जा सकता है कि महिलाएँ, उदाहरण के लिए, अंशकालिक काम में अधिक बार संलग्न होती हैं और कम वेतन वाले उद्योगों में काम करती हैं। कच्चे वेतन अंतर का शेष भाग जिसे वे चर द्वारा समझाया नहीं जा सकता है जो वेतन को प्रभावित करने के लिए सोचा जाता है, तब समायोजित लिंग वेतन अंतर के रूप में संदर्भित किया जाता है और स्पष्ट रूप से भेदभावपूर्ण हो सकता है।

संयुक्त राज्य अमेरिका में कुल वेतन अंतर 20.4 प्रतिशत है। कॉन्सैड रिसर्च कॉर्प द्वारा तैयार संयुक्त राज्य के श्रम विभाग द्वारा कमीशन किए गए एक अध्ययन में कहा गया है कि “पुरुषों और महिलाओं की विशेषताओं में अवलोकनीय अंतर हैं जो अधिकांश वेतन अंतराल के लिए जिम्मेदार हैं।

**परिवार में लिंग संदेश**—लिंग भूमिका सिद्धांत बताता है कि लड़के और लड़कियाँ उस परिवार से उपयुक्त व्यवहार और व्यवहार सीखते हैं जिसके साथ वे बड़े होते हैं।

**सीखने के मकसद**—बच्चों और किशोरों के लिए परिवार लैंगिक लिंगीकरण के सबसे महत्वपूर्ण एजेंट के रूप में कैसे काम करता है, इसे सही ठहराएँ।

### प्रमुख बिन्दु

- प्राथमिक सामाजीकीकरण—सामाजीकीकरण जो बचपन के दौरान होता है और ज्यादातर बच्चे के परिवार के सदस्यों पर निर्भर करता है—आम तौर पर सामाजीकीकरण का सबसे लंबे।
- परिवार सामाजीकीकरण का सबसे महत्वपूर्ण एजेंट है क्योंकि यह बच्चे के जीवन के केंद्र के रूप में कार्य करता है।
- पुरुषों और महिलाओं के बीच श्रम का विभाजन लिंग भूमिकाओं के निर्माण में योगदान देता है, जो बदले में लिंग-विशिष्ट सामाजिक व्यवहार को जन्म देता है।
- व्यस्क वर्षों में काम और परिवार की मांग सबसे अधिक सहकर्मी समूह संबंधों को प्रभावित करती है और साथियों के प्रभाव को गंभीरता से सामाजीकीकरण के एजेंट के रूप में गिरावट आती है, केवल बुजुर्ग वर्षों के दौरान वापस आने के लिए।
- श्रम विभाजन लिंग भूमिकाएँ बनाता है, जो बदले में लिंग सामाजिक व्यवहार को जन्म देता है।
- **प्राथमिक सामाजीकीकरण** : वह सामाजीकीकरण जो जीवन में एक बच्चे और किशोर के रूप में जल्दी होता है।
- **श्रम विभाजन** : श्रम का विभाजन विशेष रूप से परिचालित कार्यों और भूमिकाओं में सहकारी श्रम के विभाजन और विशेषज्ञता है।
- **लिंग भूमिका सिद्धान्त** : यह विचार कि लड़के और लड़कियाँ व्यवहार और दृष्टिकोण को सीखते हैं कि किसी व्यक्ति के जैविक रूप से निर्दिष्ट लिंग का प्रदर्शन कैसे किया जाए।

लिंग भूमिका सिद्धान्त का मानना है कि लड़के और लड़कियाँ परिवार और समग्र संस्कृति से उचित व्यवहार और दृष्टिकोण सीखते हैं जिसमें वे बड़े होते हैं, और यह कि गैर-शारीरिक लिंग अंतर सामाजीकीकरण का एक उत्पाद है। सामाजिक भूमिका सिद्धान्त यह प्रस्तावित करता है कि सामाजिक संरचना लैंगिक अंतर के पीछे की अंतर्निहित शक्ति है, और यह कि समाज के भीतर दो लिंगों के बीच श्रम का विभाजन उनके संबंधित व्यवहार में अंतर को प्रेरित करता है। श्रम विभाजन लिंग भूमिका बनाता है, जो बदले में लिंग-विशिष्ट सामाजिक व्यवहार को जन्म देता है।

परिवार सामाजीकीकरण का सबसे महत्वपूर्ण एजेंट है क्योंकि यह बच्चे के जीवन के केंद्र के रूप में कार्य करता है। सामाजीकीकरण सिद्धान्त हमें बताता है कि प्राथमिक सामाजीकीकरण—वह प्रक्रिया जो तब होती है जब कोई बच्चा किसी विशेष संस्कृति में व्यक्तियों के अपेक्षित व्यवहार, मूल्यों और कार्यों को सीखता है—सामाजिक विकास का सबसे महत्वपूर्ण चरण है, और भविष्य के सभी सामाजीकीकरण के लिए आधार तैयार करता है। इसलिए, परिवार बच्चे के विकास में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, बच्चे को अपनाते वाले दोनों दृष्टिकोणों को प्रभावित करेगा और बच्चे के मूल्यों को धारण करेगा। सामाजीकीकरण जानबूझकर या अनजाने में हो सकता है; परिवार उन संदेशों के प्रति सचेत नहीं हो सकता है जो इसे प्रसारित करते हैं, लेकिन फिर भी ये संदेश बच्चे के सामाजीकीकरण में योगदान करते हैं। बच्चे उस वातावरण से लगातार सीखते हैं जो व्यस्क बनाते हैं, जिसमें लिंग मानदंड भी शामिल हैं।

**साथियों से जेंडर मैसेज**—सहकर्मी समूह लिंग भूमिकाएँ सिखाने के लिए एक स्थान के रूप में काम कर सकते हैं, खासकर अगर पारंपरिक लिंग सामाजिक मानदंड दृढ़ता से आयोजित किए जाते हैं।

सहकर्मी समूह किसी व्यक्ति, विशेष रूप से बच्चों और किशोरों के लिंग सामाजिकीकरण पर एक बड़ा प्रभाव डाल सकते हैं।

### प्रमुख बिन्दु

- लिंग भूमिकाएँ सामाजिक और व्यवहार मानदंडों के सेट को संदर्भित करती हैं जिन्हें एक विशिष्ट संस्कृति के संदर्भ में एक विशिष्ट सेक्स के व्यक्तियों के लिए सामाजिक रूप से उपयुक्त माना जाता है।
- लिंग-भूमिका सामाजिकीकरण के माध्यम से, समूह के सदस्य सेक्स अंतर और सामाजिक और सांस्कृतिक अपेक्षाओं के बारे में सीखते हैं।
- शुरुआती समय में, बच्चे अपने आप को समान लिंग वाले समूहों तक सीमित रखने लगते हैं। लड़कों को वयस्कों से दूर, बड़े समूहों में अधिक सक्रिय और जोरदार गतिविधियों में भाग लेना पड़ता है, जबकि लड़कियों को वयस्कों के पास, छोटे समूहों में खेलने की अधिक संभावना होती है।
- समूहों के मिश्रित होने पर स्टीरियो-टाइप कम प्रमुख होते हैं, क्योंकि अंतर मुख्य नहीं होता है।
- एक लड़की जो नृत्य पाठ के बजाय कराटे की कक्षा लेना चाहती है, उसे पुरुष और महिला दोनों सहकर्मी समूहों से स्वीकृति प्राप्त करने में कठिनाई को सामना करना पड़ सकता है।

### मुख्य शर्तें

- **स्टीरियोटाइप** : एक पारम्परिक, सूत्र और लोगों, या लोगों के समूह की धारणा, राय या छवि।
- **लिंग भूमिकाएँ** : सामाजिक और व्यवहार संबंधी मानदंडों के समूह जिन्हें आमतौर पर सामाजिक या पारस्परिक संबंधों में पुरुष या महिला के लिए उपयुक्त माना जाता है।
- **सहकर्मी समूह** : सहकर्मी समूह सदस्यों को लैंगिक भूमिका सिखाने के लिए एक स्थल के रूप में काम कर सकते हैं।

लिंग-भूमिका सामाजिकीकरण के माध्यम से, समूह के सदस्य सेक्स अंतर और सामाजिक और सांस्कृतिक अपेक्षाओं के बारे में सीखते हैं। जैविक नर हमेशा मर्दाना नहीं होते हैं और जैविक मादा हमेशा मादा नहीं होती हैं। दोनों लिंगों में मर्दानगी और स्त्रीत्व के विभिन्न स्तर हो सकते हैं सहकर्मी समूह में सभी पुरुष, सभी महिलाएँ या दोनों पुरुष और महिलाएँ शामिल हो सकते हैं।

सहकर्मी समूह लागू दबाव की मात्रा के आधार पर एक दूसरे के लिंग भूमिका व्यवहार पर बहुत प्रभाव डाल सकते हैं। यदि एक सहकर्मी समूह पारंपरिक लिंग सामाजिक मानदंड को दृढ़ता से रखता है, तो सदस्य अपनी लिंग भूमिकाओं के अनुसार पूर्वानुमानित तरीकों से व्यवहार करेंगे, लेकिन यदि एकमत सहकर्मी समझौता नहीं है, तो लिंग भूमिकाएँ व्यवहार के साथ संबंध नहीं रखती हैं। इस बात पर बहुत शोध किया गया है कि छात्र सहकर्मी समूहों के भीतर लिंग को कैसे प्रभावित करता है। इस शोध में एक बड़े हिस्से का उद्देश्य यह देखना है कि लिंग सहकर्मी समूहों को कैसे प्रभावित करता है, यह कैसे उन संबंधों को प्रभावित करता है जो छात्रों को स्कूल की

स्थापना के भीतर प्रभावित करते हैं, और लिंग फिर कैसे प्राप्ति और सीखने को प्रभावित कर सकते हैं। एक बात जो सहकर्मी समूहों पर एक प्रभाव है, वह छात्र व्यवहार है।

यह जानकर कि बच्चे अपने आप को एक ही लिंग वाले समूहों तक सीमित रखने लगते हैं, यह देखना दिलचस्प है कि समूहों के भीतर कैसे बातचीत होती है। लड़कों को वयस्कों से दूर, बड़े समूहों में अधिक सक्रिय और जोरदार गतिविधियों में भाग लेना पड़ता है, जबकि लड़कियों को वयस्कों के पास, छोटे समूहों में खेलने की अधिक संभावना होती है। ये लिंग अंतर इन समान-लिंग समूहों के भीतर कई रूढ़िवादी लिंग भूमिकाओं के प्रतिनिधि भी हैं। जब समूह मिश्रित-लिंग होते हैं तो स्टीरियोटाइप कम प्रमुख होते हैं।

जब बच्चे उचित लिंग भूमिका के अनुरूप नहीं होते हैं, तो उन्हें नकारात्मक प्रतिबंधों का सामना करना पड़ सकता है जैसे कि अपने साथियों द्वारा आलोचना या हाशिए पर रखना। हालांकि इनमें से कई प्रतिबंध अनौपचारिक हैं, लेकिन वे काफी गंभीर हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, एक लड़की जो नृत्य पाठ के बजाय कराटे की कक्षा लेनी चाहती है, उसे पुरुष और महिला दोनों सहकर्मी समूहों से स्वीकृति प्राप्त करने में कठिनाई का सामना करना पड़ सकता है।

**मास मीडिया में जेंडर मैसेज**—बड़े पैमाने पर मीडिया में, महिलाएँ पुरुषों की तुलना में कम महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं, और अक्सर पत्नियों या माताओं जैसे रूढ़िवादी भूमिकाओं में चित्रित की जाती हैं।

विभिन्न प्रकार के मीडिया को देखने से लोगों के लिंग सामाजीकीकरण के प्रकारों पर चर्चा करें।

लैंगिक सामाजीकीकरण चार प्रमुख एजेंटों के माध्यम से होता है। परिवार, शिक्षा सहकर्मी समूह और जनसंचार माध्यम। क्योंकि जनसंचार माध्यमों का हमारे दृष्टिकोण और व्यवहार पर बहुत प्रभाव पड़ता है। विशेष रूप से आक्रामकता के संबंध में, यह सामाजीकीकरण के प्रक्रिया में एक महत्वपूर्ण योगदानकर्ता है। यह लिंग के संबंध में विशेष रूप से सच है। टेलीविजन और फिल्मों में, महिलाओं को पुरुषों की तुलना में कम महत्वपूर्ण भूमिकाएं मिलती हैं। उन्हें अक्सर मुख्य पात्रों के बजाय पत्नियों या माताओं के रूप में चित्रित किया जाता है। जब महिलाओं को एक मुख्य भूमिका दी जाती है, तो वे अक्सर दो चरम सीमाओं में एक होती है। या तो एक पौष्टिक, संत जैसी आकृति या एक पुरुषवादी, हाइपरसेक्सुअल फिगर। बच्चों की फिल्मों में भी यही असमानता व्याप्त है। अनुसंधान इंगित करता है कि 101 शीर्ष-सकलद कमाई के बीच, जी रेटेड फिल्मों 1990 और 2005 के बीच रिलीज हुई, प्रत्येक चार पात्रों में से तीन पुरुष थे। उन फिल्मों में से, टेलीविजन विज्ञापन और विज्ञापन के अन्य रूप असमानता और लिंग आधारित रूढ़ियों को सुदृढ़ करते हैं। महिलाएं लगभग उन विज्ञापनों में दिखाई देती हैं जो खाना पकाने, सफाई या चाइल्डकैअर से संबंधित उत्पादों को बढ़ावा देते हैं। सामान्य तौर पर महिलाओं की भूमिकाओं, या विज्ञापनों में संदर्भित किया जाता है, जो संदर्भ नेतृत्व, बुद्धिमत्ता या एक संतुलित मानस। विशेष रूप से संबंधित उदाहरण हैं जब महिलाओं को अमानवीय दमनकारी तरीके से चित्रित किया जाता है। खासकर संगीत वीडियो में 50 सेंट, स्नूप डॉग और जी-यूनिट के एक गीत पिंप के लिए संगीत वीडियो दर्शाता है कि बड़े पैमाने पर मीडिया के माध्यम से हानिकारक लिंग संदेशों को प्रसारित किया जा सकता है।

### 11.3 सामाजिकीकरण की प्रक्रिया

पुरुषों और स्त्रियों के बीच जैविक और शारीरिक स्पष्ट अंतरों के कारण अक्सर यही समझा जाता है कि लैंगिक असमानता प्रकृति की ही देन है। किंतु, इस बाहरी दिखावट के बावजूद विद्वानों ने यह भी दर्शा दिया है कि पुरुषों और स्त्रियों के बीच असमानताएँ प्राकृतिक नहीं, बल्कि सामाजिक हैं। उदाहरण के लिए, ऐसे कोई जैविक कारण नहीं दिखाई देते जिनसे यह स्पष्ट हो सके कि सार्वजनिक शक्तिसंपन्न पदों पर स्त्रियाँ इतनी कम संख्या में क्यों पाई जाती हैं। और न ही प्रकृति में इस प्रश्न का कोई स्पष्ट उत्तर मिलता है कि अधिकांश समाजों में आमतौर पर स्त्रियों को पारिवारिक संपत्ति का छोटा हिस्सा क्यों मिलता है अथवा बिल्कुल नहीं मिलता। लेकिन जिन समाजों का स्वरूप 'सामान्य' से हटकर है उनकी ओर से इस असमानता के विरोध में एक प्रबलतम तर्क दिया जाता है कि यदि स्त्रियाँ परिवारों की मुखिया बनने और पारिवारिक संपत्ति को उत्तराधिकार में पाने के लिए जैविक रूप से अयोग्य थीं तो फिर मातृवंशीय समाज (जैसे केरल का नायर समाज होता था और मेघालय का खासी समाज जो आज भी मातृवंशीय है) सदियों तक सफलतापूर्वक क्यों चलते रहे? अनेक अफ्रीकी समाजों में स्त्रियाँ किसानों तथा व्यापारियों के रूप में अपना काम सफलतापूर्वक कैसे करती रही हैं? संक्षेप में, पुरुषों तथा स्त्रियों के बीच असमानता का कोई जैविक कारण नहीं है। इस प्रकार, लिंग भी जाति और वर्ग की तरह ही, सामाजिक विषमता या असमानता और बहिष्कार का एक रूप है, लेकिन इसके अपने अलग लक्षण या विशेषताएँ हैं। इस अनुभाग में हम यह देखेंगे कि लैंगिक असमानता को भारतीय संदर्भ में, असमानता क्यों और कैसे माना जाने लगा और इस मान्यता के परिणामस्वरूप किस प्रकार की प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न हुईं।

आधुनिक भारत में स्त्रियों की स्थिति का प्रश्न उन्नीसवीं सदी के मध्य वर्गीय सामाजिक सुधार आंदोलनों के एक हिस्से के रूप में उदित हुआ। इन आंदोलनों का स्वरूप सभी क्षेत्रों में एक जैसा नहीं था। उन्हें अक्सर मध्य वर्गीय सुधार आंदोलनों की संज्ञा इसीलिए दी जाती थी कि इन सुधारकों में से बहुत से लोग नए उभरते हुए पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त भारतीय मध्य वर्ग से थे। वे अक्सर आधुनिक पश्चिम के लोकतांत्रिक आदर्शों द्वारा और अपने स्वयं के अतीत की लोकतांत्रिक परंपराओं पर गर्व एवं गौरव महसूस करते हुए इन सुधारों के लिए प्रेरित हुए थे। कई सुधारकों ने तो स्त्रियों के अधिकारों के लिए संघर्ष करने के प्रयोजन से इन दोनों संसाधनों का उपयोग किया था। हम इस संबंध में यहाँ कुछ उदाहरण दे सकते हैं जैसे, बंगाल में राजा राममोहन राय ने सती-विरोधी अभियान का नेतृत्व किया; बाम्बे प्रेसिडेंसी में वहाँ के अग्रणी सुधारक रानाडे ने विधवाओं के पुनर्विवाह के लिए आंदोलन चलाया; जोतिबा फुले ने एक साथ जातीय और लैंगिक अत्याचारों के विरुद्ध आवाज उठाई और सर सैयद अहमद खान ने इस्लाम में सामाजिक सुधारों के आंदोलन का नेतृत्व किया।

समाज, धर्म और स्त्रियों की परिस्थिति में सुधार करने के लिए राजा राममोहन राय द्वारा किए गए प्रयत्नों को बंगाल में उन्नीसवीं सदी के सामाजिक सुधारों का प्रारंभिक बिंदु कहा जा सकता है। 1828 में ब्रह्म समाज की स्थापना से एक दशक पहले राय ने 'सती' प्रथा के विरुद्ध अभियान चलाया; यह पहला स्त्री संबंधी मुद्दा था जिस पर आम लोगों का ध्यान आकर्षित किया गया था। राममोहन राय के विचारों में पाश्चात्य तर्कसंगति और भारतीय पारंपरिकता का सुंदर मिश्रण था। इन दोनों प्रवृत्तियों को उपनिवेशवाद की प्रतिक्रिया के व्यापक संदर्भ में रखकर देखा जा सकता है। राममोहन ने, इस प्रकार, सती की प्रथा का विरोध मानवतावादी तथा नैसर्गिक अधिकारों के सिद्धांतों एवं हिंदू शास्त्रों के आधार पर किया।

हिंदुओं की ऊँची जातियों में विधवाओं के साथ उस समय किया जा रहा निंदनीय एवं अन्यायपूर्ण व्यवहार एक प्रमुख मुद्दा था जिसे सामाजिक सुधारकों ने उठाया। रानाडे ने इस संबंध में बिशप जोसेफ बटलर जैसे विद्वानों के लेखों का उपयोग किया, जिनकी कृति 'ऐनेलॉजी ऑफ रिलीजन' और 'श्री सरमंस ऑन ह्यूमन नेचर' को 1860 के दशक में मुंबई विश्वविद्यालय के नैतिक दर्शन संबंधी पाठ्यक्रम में प्रमुख स्थान प्राप्त था। इसी समय, एम. जी. रानाडे द्वारा लिखित ग्रंथों 'दि टेक्स्टस् ऑफ द हिंदू लॉ ऑन द लॉफुलनेस ऑफ द रीमैरिज ऑफ विडोज' और 'वेदिक ऑर्थॉरिटीज फॉर विडो मैरिज' में विधवा विवाह के लिए शास्त्रीय स्वीकृति का विशद विवेचन किया गया। रानाडे और राममोहन तो उन्नीसवीं सदी के ऐसे समाज-सुधारक थे जो तथाकथित ऊँची जातियों और मध्यवर्ग से थे; लेकिन सामाजिक दृष्टि से अपवर्जित जाति से भी एक समाजसुधारक का अविर्भाव हुआ; उनका नाम था जोतिबा फुले और उन्होंने जातीय और लैंगिक दोनों प्रकार के भेदभाव के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई। उन्होंने 'सत्यशोधक समाज' नामक संस्था की स्थापना की और उसके माध्यम से सत्य की खोज पर बल दिया। व्यावहारिक सामाजिक सुधारों के लिए फुले ने सर्वप्रथम, पारंपरिक ब्राह्मण संस्कृति में सबसे नीचे समझे जाने वाले दो समूहों, स्त्रियों एवं अछूतों को सहायता देने के प्रयत्न किए।

कुछ अन्य सुधारकों के मामले में भी आधुनिक पाश्चात्य विचारधारा और परंपरागत धर्मग्रंथों का सहारा लेने की समन्वयात्मक प्रवृत्ति दिखाई दी। इनमें एक थे-सर सैयद अहमद खान जिन्होंने मुस्लिम समाज को सुधारने के लिए प्रयत्न किए। वह चाहते थे कि लड़कियों को शिक्षित तो किया जाए पर घर की चारदीवारी के भीतर ही। आर्य समाज के संस्थापक दयानंद सरस्वती की तरह उन्होंने भी

महिलाओं को शिक्षा देने का समर्थन किया लेकिन उनका विचार था कि उनके लिए अलग किस्म की पाठ्यचर्या हो जिसके तहत धार्मिक उसूलों की शिक्षा दी जाए, घर-गृहस्थी चलाने की कलाओं और शिल्पों तथा बच्चों के पालन-पोषण का प्रशिक्षण दिया जाए। यह विचार आज बहुत ही रूढ़िवादी प्रतीत हो सकता है। लेकिन हमें यह समझना होगा कि एक बार स्त्रियों के लिए शिक्षा जैसे अधिकारों को स्वीकार कर लिया गया तो फिर इस प्रक्रिया ने एक ऐसा दौर शुरू किया जिसमें अंततः स्त्रियों को कुछ किस्मों की शिक्षा तक ही सीमित रखना नामुमकिन हो गया।

अक्सर यह मान लिया जाता है कि स्त्रियों के अधिकारों के लिए समाज सुधार की लड़ाई पूर्णरूप से पुरुष सुधारकों द्वारा ही लड़ी गयी थीं और यह भी स्त्रियों की समानता के विचार बाहर से आयातित थे। यह जानने के लिए कि ये दोनों ही धारणाएँ गलत हैं, स्त्रियों द्वारा स्त्री-पुरुष तुलना 1882 में और सुल्तानाज ड्रीम 1905 में लिखी गई थी।

'स्त्री-पुरुष तुलना' नामक पुस्तक एक महाराष्ट्रीय गृहिणी ताराबाई शिंदे द्वारा लिखी गई थी, जिसमें पुरुष प्रधान समाज द्वारा अपनाए गए दोहरे मापदंडों का विरोध किया गया था। एक जवान ब्राह्मण विधवा को न्यायालय द्वारा मृत्युदंड दिया गया था, विधवा का अपराध यह था कि उसने अपने नवजात शिशु की हत्या इसलिए कर दी थी क्योंकि वह उसकी नाजायज संतान था; लेकिन जिस पुरुष का वह बच्चा था उसका पता लगाने या उसे दंड देने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया था। जब 'स्त्री-पुरुष तुलना' पुस्तक प्रकाशित हुई तो समाज में एक खलबली-सी मच गई। बेगम रोकेया शैखावत हुसैन का जन्म एक धनी बंगाली मुस्लिम परिवार में हुआ था, और



वह इस मायने में खुशानसीब थीं कि उनके पति उदार दृष्टिकोण रखते थे और उन्होंने सर्वप्रथम उर्दू में और फिर बांग्ला तथा अंग्रेज़ी में शिक्षा प्राप्त करने के लिए बेगम रुकैया को प्रोत्साहित किया। बेगम रुकैया ने जब अंग्रेज़ी में अपनी योग्यताओं को परखने के लिए 'सुल्तानाज ड्रीम' (सुल्ताना का सपना) लिखा तो उससे पहले ही उन्हें उर्दू तथा बांग्ला की लेखिका के रूप में सफलता मिल चुकी थी। 'सुल्तानाज ड्रीम' शीर्षक नामक यह शानदार छोटी कहानी संभवतः भारत में विज्ञान कथा लेखन का प्रारंभिक नमूना है और विश्वभर में कहीं भी किसी महिला लेखिका द्वारा रचित प्रथम कृति का उदाहरण है। अपने सपने में सुल्ताना एक जादुई मुल्क के सफर पर जाती हैं। उस मुल्क में पुरुषों के कार्य स्त्रियों द्वारा और स्त्रियों के कार्य पुरुषों द्वारा किए जाते हैं। पुरुष घर से बाहर नहीं जाते और 'पर्दा' रखते हैं जबकि स्त्रियाँ व्यस्त वैज्ञानिकों के रूप में ऐसे उपकरणों का अविष्कार करने के लिए परस्पर प्रतिस्पर्धा कर रही होती हैं, जिनकी सहायता से बादलों को नियंत्रित करके इच्छानुसार वर्षा करवाई जा सकती हो और वे ऐसी मशीनें, यानी 'हवाई कारें' बनाने के लिए भी प्रयत्नशील हैं जो आकाश में उड़ सकें। प्रारंभिक नारी-अधिकारवादी दृष्टिकोण के साथ-साथ, हमारे यहाँ अनेकानेक नारी संगठन भी थे जो बीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में अखिल भारतीय एवं स्थानीय स्तरों पर उभर आए थे और फिर स्त्रियों का राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेना शुरू हो गया। यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है कि स्त्रियों के अधिकार राष्ट्रवादी परिकल्पना के अभिन्न अंग थे।

1931 में, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कराची अधिवेशन में भारत के नागरिकों के मूल अधिकारों के बारे में एक घोषणा जारी की गई जिसके द्वारा कांग्रेस ने स्त्रियों को समानता का अधिकार देने के लिए स्वयं को प्रतिबद्ध किया। यह घोषणा इस प्रकार थी:

- सभी नागरिक कानून (विधि) के समक्ष एक समान हैं चाहें उनका धर्म, जाति, पंथ या लिंग कोई भी हो।
- किसी भी नागरिक को उसके धर्म, जाति, पंथ या लिंग के कारण सार्वजनिक रोज़गार, शक्ति या सम्मान का पद दिए जाने अथवा कोई भी व्यापार या धंधा किए जाने के संबंध में निर्योग्य नहीं ठहराया जाएगा।
- मताधिकार का प्रयोग सर्वजनीन वयस्क मताधिकार के आधार पर होगा।
- स्त्रियों को मत डालने, प्रतिनिधित्व करने और सार्वजनिक पद धारण करने का अधिकार होगा।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद दो दशक बीत जाने पर, 1970 के दशक में स्त्रियों के मुद्दे फिर से उठ खड़े हुए। 19वीं सदी के सुधार आंदोलनों में स्त्री प्रथा, बाल विवाह जैसी परंपरागत कुरीतियों अथवा विधवाओं के साथ बुरे बर्ताव को रोकने पर विशेष बल दिया गया था। 1970 के दशक में 'आधुनिक' मुद्दों, पुलिस अभिरक्षा में स्त्रियों के साथ बलात्कार, दहेज के लिए हत्या, लोकप्रिय माध्यमों में स्त्रियों का प्रतिनिधित्व और असमान विकास के लैंगिक परिणाम आदि की ओर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित किया गया। 1980 के दशक में और उसके बाद कानून सुधार का विशेष मुद्दा बना, खासतौर पर उस समय जब यह पाया गया कि स्त्रियों से सरोकार रखने वाले बहुत-से कानूनों को 19वीं सदी से अब तक अपरिवर्तित रूप में ज्यों का त्यों रखा गया है। अब जबकि हम 21वीं सदी में प्रवेश कर रहे हैं, लैंगिक अन्याय के नए रूप उभर कर सामने आ रहे हैं। आप को याद होगा कि हमने बाल लैंगिक अनुपात में तेजी से गिरावट जो आ रही है और बालिकाओं के विरुद्ध अव्यक्त रूप से जो सामाजिक पक्षपातपूर्ण रवैया उत्पन्न हो रहा है वह लैंगिक असमानता की नई चुनौतियाँ पेश करता है।

स्त्रियों के अधिकारों अथवा अन्य किसी भी मुद्दे पर लाया गया सामाजिक परिवर्तन सदा-सर्वदा के लिए स्थायी नहीं होता; यह लड़ाई तो बार-बार लड़नी होगी और आगे भी जारी रखनी होगी। अन्य सामाजिक मुद्दों की तरह यह संघर्ष लंबा चलेगा। भारत में नारी आंदोलन को बड़ी मुश्किल से प्राप्त किए गए अधिकारों की रक्षा के लिए लड़ना होगा और नए उभरते हुए मुद्दों को भी उठाना होगा।

---

## सारांश

---

लिंगीकरण सामाजिकीकरण के चार प्रमुख एजेंटों के माध्यम से होता है : परिवार, शिक्षा, सहकर्मी समूह और बड़े पैमाने पर मीडिया। प्रत्येक एजेंट लिंग-विशिष्ट व्यवहार के लिए अपेक्षाओं को बनाने और बनाए रखने के द्वारा लिंग भूमिकाओं को पुष्ट करती है। बच्चों की फिल्मों में भी यही असमानता व्याप्त है। अनुसंधान इंगित करता है कि 101 शीर्ष-सकलद कमाई के बीच, जी रेटेड फिल्मों 1990 और 2005 के बीच रिलीज हुईं, प्रत्येक चार पात्रों में से तीन पुरुष थे। उन फिल्मों में से, टेलीविजन विज्ञापन और विज्ञापन के अन्य रूप असमानता और लिंग आधारित रूढ़ियों को सुदृढ़ करते हैं। महिलाएं लगभग उन विज्ञापनों में दिखाई देती हैं जो खाना पकाने, सफाई या चाइल्डकैर से संबंधित उत्पादों को बढ़ावा देते हैं। कई सुधारकों ने तो स्त्रियों के अधिकारों के लिए संघर्ष करने के प्रयोजन से इन दोनों संसाधनों का उपयोग किया था। प्रारंभिक नारी-अधिकारवादी दृष्टिकोण के साथ-साथ, हमारे यहाँ अनेकानेक नारी संगठन भी थे जो बीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में अखिल भारतीय एवं स्थानीय स्तरों पर उभर आए थे।

---

## अभ्यास प्रश्नोत्तर

---

### बहुविकल्पीय प्रश्न

- सामाजिककरण का पहला और प्रभावशाली एजेंट कौन-सा है?
 

(a) व्यक्ति	(b) परिवार
(c) समुदाय	(d) जाति
- प्रारंभिक जीवन में सामाजिकीकरण कहाँ से शुरू होता है?
 

(a) पड़ोस से	(b) कक्षाओं से
(c) परिवार से	(d) उपरोक्त में से कोई नहीं
- लड़के किस प्रकार की गतिविधियों में शामिल होते हैं?
 

(a) बड़े समूहों में	(b) व्यस्को से दूर
(c) जोरदार खेल	(d) उपरोक्त सभी
- लैंगिक सामाजिककरण का प्रमुख एजेंट कौन-सा है?
 

(a) पड़ोसी समूह	(b) सहकर्मी समूह
(c) ग्रामीण समुदाय	(d) टेलीविजन

5. मातृवंशीय समाज भारत में कहाँ पर पाया जाता है?
 

(a) केरल का नायर समाज	(b) तमिलनाडु का नयनार समुदाय
(c) कर्नाटक का वीरशैव समुदाय	(d) तमिलनाडु का वेल्लार समाज
6. स्त्रियों के लिए सुधारों की शुरुआत भारत में किसने की थी?
 

(a) राजा राममोहन राय	(b) स्वामीदयानंद सरस्वती
(c) स्वामी विवेकानंद	(d) परियार
7. 'स्त्री-पुरुष' की तुलना किसने लिखी थी?
 

(a) ताराबाई शिंदे	(b) रोकेया हुसैन
(c) ज्योतिबा फूले	(d) पेरियार

### लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सामाजिकरण से क्या अभिप्राय है? इसके एजेण्टों का उल्लेख कीजिए।
2. लिंग भूमिका पर टिप्पणी कीजिए।
3. सामाजिकीकरण की प्रक्रिया को समझाइए।
4. भारत में महिलाओं के अधिकारों तथा उनकी स्थिति में किस प्रकार परिवर्तन हुआ है?

---

### संदर्भ पुस्तकें

---

1. समाजशास्त्र कक्षा-11 एनसीईआरटी
2. समाजशास्त्र कक्षा-12 एनसीईआरटी
3. जनसंख्या भूगोल, आर.सी. चांदना
4. समाज की समझ, योगेश अटल
5. समाजशास्त्र-अवधारणा एवं सिद्धांत, जे.पी. सिंह

# भारत में ग्रामीण समुदाय

- 12.1 परिचय
- 12.2 भारत में ग्रामीण समुदाय का अध्ययन
- 12.3 समुदाय के प्रकार
- 12.4 ग्रामीण परिदृश्य की विशेषताएं

---

### 12.1 परिचय

---

इस तथ्य के बावजूद कि ग्रामीण आर्थिक रूप से मजबूत नहीं हैं, उनका जीवन बहुत ही सादगी के कारण संतुष्टि की एक लहर में जारी है। हालांकि, यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि उपर्युक्त विशेषताएँ ज्यादातर सैद्धान्तिक हैं। वर्षों से, इन विशेषताओं ने आंशिक रूप से या पूर्ण रूप से खो दिया है, उनकी कुछ शुद्धता, क्योंकि औद्योगिकीकरण, शहरीकरण आदि जैसे सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं के प्रभाव के बावजूद, इन विशेषताओं को अच्छी तरह से और बड़े रूप से पकड़ लिया जाता है, यदि उनकी संपूर्णता में नहीं। जजमनी प्रणाली भारत में ग्राम जीवन की एक और विशिष्टता है। इस प्रणाली के तहत, एक जाति या कई जातियों के सदस्य अन्य जातियों के सदस्यों को अपनी सेवाएँ प्रदान करते हैं। कृषीय वर्ग और श्रेणियाँ वे समाज हैं जो अपने जीवन निर्वाह के मुख्य स्रोत के रूप में अधिकतर कृषि पर निर्भर करते हैं। कृषीय बस्तियाँ और लोगों के समूह अपनी जीविका के लिए भूमि पर खेती तथा इससे सम्बन्धित गतिविधियों जैसे पशुपालन करके निर्भर करते हैं। अन्य आर्थिक गतिविधियों की तरह ही कृषि उत्पादन भी स्पष्टतः एक आर्थिक गतिविधि है

---

### 12.2 भारत में ग्रामीण समुदाय का अध्ययन

---

सांख्यिकी की शाखा, जिसे प्रतिदर्श सिद्धांत कहा जाता है, की खोजों का लाभ उठाते हुए प्रतिदर्श सर्वेक्षण चयन के मामले में सावधान होने के बावजूद परिणामों का सामान्यीकरण कर सकता है। इस 'सरल उपाय' का महत्वपूर्ण कारण प्रतिदर्श का प्रतिनिधित्व है। हम एक दी गई जनसंख्या में से प्रतिनिधि प्रतिदर्श का चयन कैसे करेंगे? व्यापक रूप में प्रतिदर्श की चयन प्रक्रिया दो मुख्य सिद्धांतों पर आधारित है। पहला सिद्धांत यह है कि जनसंख्या में सभी महत्वपूर्ण उपसमूहों को पहचाना जाए तथा प्रतिदर्श में उन्हें प्रतिनिधित्व दिया जाए। अधिकतर बड़ी जनसंख्याएँ एक समान नहीं होती, उनमें भी स्पष्ट उप-श्रेणियाँ होती हैं। इसे स्तरीकरण कहा जाता है। उदाहरण

पार्थ; जब भारत की जनसंख्या के बारे में बात करते हैं तो हमें इस बात को ध्यान रखना होगा कि यह जनसंख्या शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों में बँटी हुई है जोकि एक दूसरे से काफी हद तक अलग है। किसी भी एक राज्य की ग्रामीण जनसंख्या पर विचार करते समय हमें इस तथ्य का ध्यान रखना होगा कि यह जनसंख्या विभिन्न आकार वाले गाँवों में रहती है। इसी तरह से किसी एक गाँव की जनसंख्या भी वर्ग, जाति, लिंग, आयु, धर्म या अन्य मानदंडों के आधार पर स्तरीकृत हो सकती है। संक्षिप्त में स्तरीकरण की धारणा हमें बताती है कि प्रतिदर्श का प्रतिनिधित्व दी गई जनसंख्या के सभी संबद्ध स्तरों की विशेषताओं को दर्शाने की सक्षमता पर निर्भर है। किस प्रकार के प्रतिदर्शों को प्रासंगिक माना जाए यह अनुसंधान के अध्ययन के विशिष्ट उद्देश्यों पर निर्भर है। उदाहरण पार्थ; धर्म के प्रति मनोवृत्तियों के बारे में अध्ययन करते समय यह महत्वपूर्ण हो सकता है कि सभी धर्मों के सदस्यों को शामिल किया जाए। मजदूर संघों के प्रति मनोवृत्तियों पर अनुसंधान करते समय कामगारों, प्रबंधकों तथा उद्योगपतियों को शामिल करना चाहिए। प्रतिदर्श चयन का दूसरा सिद्धांत है वास्तविक इकाई, अर्थात् व्यक्ति या गाँव या घर का चयन पूर्णतया अवसर आधारित होना चाहिए। इसे यादृच्छीकरण कहा जाता है जोकि स्वयं संभावितता की संकल्पना पर आधारित है। आपने अपने गणित पाठ्यक्रम में संभावितता के बारे में पढ़ा होगा। संभावितता का आशय घटना के घटित होने के अवसरों (या विषमताओं) से है। उदाहरण के लिए, जब हम सिक्का उछालते हैं तो यह या तो चित की ओर पड़ता है या फिर पट की ओर। सामान्य सिक्कों में चित या पट आने का अवसर या संभावितता लगभग एक समान है अर्थात् प्रत्येक का 50 प्रतिशत होता है। वास्तव में जब आप सिक्का उछालते हैं तो दोनों में से कौन सी घटना होती है अर्थात् चित आता है या पट, यह पूरी तरह से अवसर पर निर्भर करता है और किसी बात पर नहीं। इस प्रकार के अवसरों को यादृच्छिक अवसर कहा जाता है। हम एक प्रतिदर्श को चुनने में समान विचार का उपयोग करते हैं।

हम सुनिश्चित करने का प्रयास करते हैं कि प्रतिदर्श में चयन किए गए व्यक्ति या घर या गाँव पूर्णतः अवसर द्वारा चयनित हों, किसी अन्य तरह से नहीं। अतः प्रतिदर्श में चयन होना किस्मत की बात है, जैसे कि लॉटरी जीतना। यह तभी हो सकता है जब यह सच हो कि प्रतिदर्श एक प्रतिनिधित्व प्रतिदर्श होगा। यदि कोई सर्वेक्षण दल अपने प्रतिदर्श में केवल उन्हीं गाँवों का चयन करता है जो मुख्य सड़क के निकट हों तो यह प्रतिदर्श यादृच्छिक या संयोगवश न होकर पूर्वाग्रहित होंगे। इसी तरह से यदि हम अधिकतर मध्यमवर्ग के घरों का या अपने जानकार घरों का चयन करते हैं तो प्रतिदर्श पुनः पूर्वाग्रहित होंगे। मुख्य बिंदु यह है कि जनसंख्या से संबंधित स्तरों का पता लगाने के बाद प्रतिदर्श घरों या उत्तरदाताओं का वास्तविक चयन पूर्णतया संयोग के आधार पर होना चाहिए। इसे विभिन्न तरीकों से सुनिश्चित किया जा सकता है।

इसे प्राप्त करने के लिए विभिन्न तकनीकों का प्रयोग किया जाता है। इनमें सामान्य रूप से लॉटरी निकालना, पाँसे फेंकना, इस उद्देश्य हेतु विशेष रूप से बनाई गई प्रतिदर्श नंबर प्लेटों का प्रयोग तथा हाल ही में गणकों या संगणकों द्वारा बनाई गई प्रतिदर्श संख्याएँ शामिल हैं। एक प्रतिदर्श सर्वेक्षण का चयन कैसे किया जाता है इसे जानने के लिए आइए हम एक ठोस उदाहरण लें। मान लीजिए हम उस परिकल्पना की जाँच करना चाहते हैं जिसमें यह कहा गया है कि छोटे, आपस में अधिक घनिष्ठता वाले समुदाय बड़े, अधिक अवैयक्तक समुदायों की तुलना में ज्यादा अंतःसामुदायिक समन्वय की उत्पत्ति करते हैं।

सरलता से समझने के लिए आइए मान लेते हैं कि हम भारत के किसी एक राज्य के ग्रामीण क्षेत्र में रुचि रखते

हैं। प्रतिदर्श चयन करने की सरलतम संभावित प्रक्रिया राज्य के सभी गाँवों की उनकी जनसंख्या के साथ सूची बनाने से प्रारंभ होगी (यह सूची जनगणना आँकड़ों से भी प्राप्त की जा सकती है)। तत्पश्चात् हमें छोटे तथा बड़े गाँवों के मानदंडों को परिभाषित करना होगा। गाँवों की मूल सूची से अब हमें सभी मध्यम गाँवों अर्थात् जो न तो छोटे हैं और न ही बड़े हैं, उनको हटाना होगा। अब हमारे पास गाँव के आकार के अनुसार एक संशोधित सूची है। हमारे अनुसंधान संबंधी प्रश्नों के अनुसार हम प्रत्येक स्तर अर्थात् छोटे तथा बड़े गाँवों को समान महत्त्व देना चाहते हैं, अतः हमने प्रत्येक स्तर से 10 गाँवों को चुनने का निर्णय लिया। इसके लिए हम छोटे तथा बड़े गाँवों की सूची को क्रम प्रदान करेंगे तथा प्रत्येक सूची से लॉटरी द्वारा दस-दस गाँवों का चयन यादृच्छिक विधि द्वारा करेंगे। अब हमारे पास राज्य के 10 छोटे तथा 10 बड़े गाँवों वाले प्रतिदर्श हैं तथा हम इन गाँवों का अध्ययन यह जानने के लिए प्रारंभ कर सकते हैं कि हमारी प्रारंभिक परिकल्पना सही थी या नहीं।

वास्तव में यह एक अत्यधिक सरल रूपरेखा है। वास्तविक अनुसंधान अध्ययनों में सामान्यतया अधिक जटिल रूपरेखा होती है जिसमें प्रतिदर्श चयन प्रक्रिया अनेक चरणों में विभाजित होती है तथा इसमें अनेक स्तर शामिल होते हैं। परंतु मूल सिद्धांत समान रहता है—एक लघु प्रतिदर्श का सावधानीपूर्वक चयन किया जाए ताकि यह पूरी जनसंख्या का प्रतिनिधित्व कर सके। तत्पश्चात् प्रतिदर्श का अध्ययन किया जाता है और इससे प्राप्त परिणामों का सामान्यीकरण कर इसे संपूर्ण जनसंख्या पर लागू किया जाता है। वैज्ञानिक ढंग से चयन किए गए प्रतिदर्श की सांख्यिकीय विशेषताएँ सुनिश्चित करती हैं कि प्रतिदर्श की विशेषताएँ उस जनसंख्या की विशेषताओं से घनिष्ठ रूप से मिलती हों जिससे इसे लिया गया है। इनमें सूक्ष्म अंतर हो सकते हैं परंतु ऐसे विचलन की संभावना को निर्धारित किया जा सकता है। इसे सीमांत त्रुटि या प्रतिदर्श की त्रुटि कहा जाता है। यह अनुसंधानकर्ताओं की गलती से नहीं, अपितु इस बात से उत्पन्न होती है कि हम बहुत बड़ी जनसंख्या के लिए छोटे प्रतिदर्श प्रयोग कर रहे हैं। प्रतिदर्श सर्वेक्षणों के परिणामों की सूचना देते समय अनुसंधानकर्ताओं को अपने प्रतिदर्श के आकार तथा रूपरेखा तथा सीमांत त्रुटि के बारे में अवश्य बताना चाहिए।

सामाजिक संरचना क्या है? मानव संसार व्यक्तियों से निर्मित है तथा व्यक्ति अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए एक दूसरे से व्यवहार-आचार की अन्तर्क्रिया करते हैं। इस प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति समाज में प्रतिष्ठा एवं परिस्थिति तथा भूमिकाओं का निर्माण करता है। इनके साथ व्यक्ति के अधिकार एवं कर्तव्य दोनों जुड़ जाते हैं। उनका सामाजिक व्यवहार एक विशिष्ट ढाँचे का हो जाता है तथा सामाजिक अन्तर्क्रिया व व्यवहार कुछ विशिष्ट मूल्यों एवं व्यवहारों से जुड़ जाते हैं। जिसके परिणामस्वरूप समूहों, समुदायों, समाजों आरै संस्थाओं जैसे सामाजिक इकाईयों का जन्म होता है तथा व्यक्ति के समाज में आपसी सम्बन्ध अपेक्षाकृत अधिक स्थाई होते हैं जो कुछ कतव्यों, अधिकारों, सम्बन्धों के एक व्यवस्थित समुच्चय का निर्माण करते हैं। इस ढाँचे को ही सामाजिक संरचना कहा जाता है। भारत में ग्रामीण सामाजिक संरचना-सिन्धु घाटी सभ्यता के विकास से लेकर जो कि 3000 ई० पूर्व से विद्यमान रही तथा वैदिक युग में भारतीय ग्रामीण संरचना तथा सिन्धु घाटी सभ्यता के ग्रामीण एवं शहरी सामाजिक संरचना या व्यवस्था एक साथ विद्यमान रहे। ग्रामीण तथा शहरी केन्द्रों में जीवन के कुछ समान पहलू होते हैं जो अन्तर निर्भरता के आधार पर एक-दूसरे से जुड़े हुए होते हैं। ये अन्तर निर्भरता अर्थव्यवस्था एवं शहरोन्मुख प्रवजन में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।

1. ग्रामीण जनता बसे हुए गाँवों में निवास करती है तथा यह निवासपद्धति अलग-अलग प्रकार से दिखाई देती है।

(i) सर्वाधिक प्रचलित निवास पद्धति केन्द्रीकृत गाँवों की है जो लगभग पूरे देश में पायी जाती है। इसमें घरों के सघन समूह होते हैं तथा चारों ओर से ग्रामवासियों के खेत होते हैं। कुछ गाँव से जुड़े हुए छोटे गाँव के समूह होते हैं जिन्हें पुरवा कहा जाता है जो आपस में जुड़े हुए होते हैं।

(ii) देश के कुछ भागों जैसे-केरल, कोंकण तथा बंगाल के डेल्टाई क्षेत्रों में कम चौड़ाई संकीर्ण निवास स्थान तथा बस्ती देखने को मिलती है जिनमें मकान अपनी ही चहारदीवारी से घिरा हुआ होता है।

(iii) कुछ ग्रामीण निवास स्थान मात्र दो तीन घरों के समूह का भी होता है। ऐसी बस्तियाँ प्रायः पहाड़ी क्षेत्रों तथा गुजरात के पठार एवं महाराष्ट्र के सतपुड़ा पहाड़ी क्षेत्रों में बसे गाँव में देखी जा सकती है।

2. गाँव की जनसंख्या शहरों की तुलना में कम होती है तथा जनसंख्या घनत्व भी कम होता है। ग्रामीण जीवन मुख्यतः कृषि प्रधान होता है जिसके कारण उनका भूमि, पशु तथा वनस्पति जीवन से सीधा सम्पर्क देखने को मिलता है।

3. परिवार, नातेदारी, जाति, वर्ग आदि प्रमुख ग्रामीण सामाजिक संस्थाएँ होती हैं। ये संस्थाएँ ग्रामीण जनता के जीवन के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन को समेटते हैं तथा उनको प्रभावित करते हैं। इनमें सामाजिक प्रतिमानों, मूल्यों, परिस्थितियों, भूमिकाओं, अधिकारों और दायित्वों की जटिलताएँ प्रतिबिम्बित होती हैं।

**भारतीय ग्राम का विचार एवं ग्राम अध्ययन**—1803 ई० में प्रकाशित विलियम टेनेण्ट की पुस्तक ग्रामीण अध्ययन की दृष्टि से पहली महत्वपूर्ण पुस्तक थी। इसके बाद हेनरीमेन की पुस्तक में भारतीय ग्रामों की सामाजिक-आर्थिक समस्या एवं भूमि-व्यवस्था पर प्रकाश डाला। प्रारम्भ में किये गये भारतीय-ग्रामीण अध्ययन जिसमें मेटकॉफ तथा बैडल पावेल ने गाँव की स्वायत्ता से सम्बन्धित एक अतिशयोक्तिपूर्ण धारणा प्रस्तुत की जिसमें भारतीय ग्राम को बंद एवं पृथक व्यवस्था के रूप में चित्रित किया गया। ब्रिटिश प्रशासक चार्ल्स मेटकॉफ ने भारतीय गाँव के विषय में लिखा कि—“ भारतीय ग्राम समुदाय छोटे गणराज्यों की तरह हैं जिनके पास प्रायः वे सारी चीजें उपलब्ध हैं जिन्हें वे अपने बीच जरूरी समझते हैं और जो प्रायः किसी भी बाहरी सम्पर्क से स्वतंत्र है।”

उपर्युक्त अवधारणा को गलत सिद्ध करने हेतु भारतीय ग्रामों का एक नवीन अध्ययन प्रारम्भ किया गया।

1958 ई० प्रकाशित मजूमदार की पुस्तक ‘कास्ट एण्ड कम्यूनिकेशन इन इण्डियन विलेज’, अय्यपन की ‘सोसाईटी इन इण्डिया’, आस्कर की ‘विलेज लाइफ इन नार्दन इण्डिया’ के प्रकाशित होने के साथ ही ग्रामीण अध्ययन की एक परम्परा सी आरम्भ हो गयी। कुछ महत्वपूर्ण अध्ययन निम्नलिखित हैं—

1. ग्रामीण सामाजिक शक्ति संरचना जिनमें शक्ति का विकेन्द्रीकरण, पंचायती राज, सामुदायिक विकास योजना के आधार पर विश्लेषण, प्रस्तुत किया गया। ग्रामीण सामाजिक संरचना के अध्ययन में ए.आर. देसाई की महत्वपूर्ण पुस्तक है। इसके साथ ही सामुदायिक विकास योजना के सम्बन्धित अध्ययनों में एस.सी. दूबे द्वारा सम्पादित पुस्तक महत्वपूर्ण है। दूबे की पुस्तक ‘इण्डियन विलेज’ में सर्वप्रथम ग्रामीण सामाजिक संरचना पर आधारित वृहत पुस्तक का निर्माण किया जिसमें अन्वेषणात्मक गवेषणात्मक प्रारूप का उपयोग किया गया।

2. ग्रामीण अध्ययन की परम्परा में 60 तथा 70 के दशक में प्रकाशित के. एल. शर्मा की पुस्तक ‘चेंजिंग रूरल स्ट्राटिफिकेशन सिस्टम’ जिसमें राजस्थान के गाँव का अध्ययन प्रस्तुत किया गया महत्वपूर्ण है। योगेन्द्र सिंह की

ग्रामीण समुदाय की शक्ति संरचना का अध्ययन योगेश अटल द्वारा मध्य प्रदेश के गाँवों के अध्ययन पर प्रकाशित पुस्तक 'चेजिंग फ्रंटियर ऑफ कास्ट' तथा चुनाव से सम्बन्धित अध्ययन का विश्लेषण किया गया। इसके अतिरिक्त श्रीनिवास द्वारा मैसूर के रामपुरा गाँव का अध्ययन, एस.सी. दूबे द्वारा समीरपेट गाँव का अध्ययन तथा आंद्रे बेते द्वारा श्रीपुरम गाँव के अध्ययन का विश्लेषण महत्वपूर्ण है।

3. प्रारम्भिक ग्रामीण अध्ययन जो कि संरचनात्मक पक्ष पर अधिक केन्द्रित था वहीं 70 के दशक में ग्रामीण अध्ययन की एक नयी प्रवृत्ति का विकास हुआ जिसमें कृषक-वर्ग संरचना, स्तरीकरण की नवीन संरचना, सामाजिक गतिशीलता आदि पर ध्यान केन्द्रित किया गया जिसमें सूक्ष्म विश्लेषण के स्थान पर वृहत स्तर का विश्लेषण आरम्भ हुआ। जिसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण है ए.आर. देसाई द्वारा 'रूरल सोशियोलॉजी' आन्द्रे बेते की 'कास्ट: ओल्ड एण्ड न्यू' तथा 'स्टडीज इन एग्रीगेरियन सोशल स्ट्रक्चर' रजनी कोठारी का 'जाति के आधुनिकीकरण तथा राजनीतिकरण का अध्ययन' के.सी. एलेक्जेंडर द्वारा 'सोशल मोबिलिटी इन केरला' तथा हैदराबाद के तंजौर गाँव का अध्ययन इत्यादि महत्वपूर्ण है।

4. आन्द्रे बेते ने तंजौर गाँव के अध्ययन में वेबर के उपागम पर आधारित 'कास्ट क्लास एण्ड पावर' की रचना की तथा जाति में परिवर्तन एवं गतिशीलता के तीन आयामों में विश्लेषित किया।

(i) सांस्कारिक परिस्थिति (संरचनात्मक रूप से परिभाषित)

(ii) वर्ग स्थिति (आर्थिक संसाधनों पर नियन्त्रण)

(iii) राजनैतिक शक्ति।

ड्यूमा ने 1970 में 'होमोहैरारिकस' की रचना की जिसमें भारतविद्याशास्त्रीय उपागम का प्रयोग करते हुए संरचनात्मक सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भारतीय समाज का विश्लेषणात्मक निष्कर्ष निकाला जिसमें भारतीय समाज को ड्यूमा ने 'कास्ट मॉडल' की संज्ञा दी।

### ग्रामीण अध्ययन के पक्ष

टी.एल.स्मिथ ने ग्रामीण अध्ययन के लिए निम्न पक्षों का होना आवश्यक बताया है-

1. जनसंख्या

2. ग्रामीण-सामाजिक संगठन-

(i) मानव का भूमि से संस्थात्मक सम्बन्ध

(ii) सामाजिक शरीर रचना

(iii) प्रमुख सामाजिक संस्थाएँ

3. सामाजिक प्रक्रिया

ग्रामीण अध्ययन के उपागम

1. ऐतिहासिक उद्विकासवादी उपागम-ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर सामाजिक परिवर्तन का उद्विकास अर्थात् एक निश्चित दिशा एवं अवस्थाओं से गुजरते हुए स्वतः परिवर्तन पर आधारित विश्लेषण उद्विकासीय उपागम कहलाता है। वेडेन पावेल ने अपनी पुस्तक 'विलेज कम्युनिटीज इन इण्डिया' में इसी उपागम का प्रयोग



करते हुए भारतीय ग्राम के अध्ययन का विश्लेषण किया है।

**2. संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम**—सामाजिक संरचना, घटनाओं तथा इसके विभिन्न में प्रकार्यात्मक सम्बन्धों के आधार पर प्रस्तुत भारतीय ग्रामीण अध्ययन संरचनात्मक उपागम कहलाता है। जिसका प्रयोग एम.एन. श्रीनिवास का कुर्ग का अध्ययन, दूबे का समीरपेट, मजूमदार का मोहाना तथा दुद्दी गाँव के अध्ययन में किया गया है।

**3. मार्क्सवादी उपागम**—इसके अन्तर्गत ग्रामीण अध्ययन में समाज में कृषक सम्बन्धों, जाति सम्बन्धों में निहित असमानता शोषण, एवं अन्तर्विरोध को दिखाने का प्रयास किया जाता है। जैसे-ए.आर. देसाई का भारतीय ग्रामीण समाज का अध्ययन।

**4. अन्तर अनुशासनात्मक पद्धति**—सामाजिक घटनाओं का विश्लेषण प्रस्तुत करने के लिए विशिष्ट सामाजिक तथ्यों के आधार पर की गयी अध्ययन पद्धति अन्तर अनुशासनात्मक पद्धति कहलाती है। दूबे द्वारा सामुदायिक विकास योजनाओं के प्रभाव का अध्ययन करने के लिए इस पद्धति का प्रयोग किया गया।

**5. तुलनात्मक पद्धति**—विभिन्न समाजों की तुलना करके सामाजिक संरचना में पायी जाने वाली समानताओं तथा असमानताओं पर आधारित विश्लेषण को तुलनात्मक पद्धति कहते हैं। जैसे-लेविस ने मैक्सिको के गाँव टोपोजलान की तुलना भारत के रानीखेड़ा गाँव से की। धुर्ये के बिहार के तालुक्का ग्रामों का अध्ययन में इसी पद्धति का उपयोग किया गया।

एस. सी. दूबे द्वारा ग्रामीण अध्ययन में गाँव के वर्गीकरण-दूबे के अनुसार गाँव का वर्गीकरण के 6 आधार हो सकते हैं-

- (i) आकार जनसंख्या तथा भू-क्षेत्र के आधार पर
- (ii) प्रजातीय तत्व तथा जाति के आधार पर
- (iii) भूमि के स्वामित्व
- (iv) दूसरे समुदाय से दूरी के आधार पर
- (v) अधिकार व सत्ता के आधार पर।
- (vi) स्थानीय परम्परा के आधार पर।

उन्होंने भारतीय सामाजिक संरचना को दो दृष्टिकोण से समझने का प्रयास किया है-

- (i) भारतीय ग्राम एक विशिष्ट पृथक इकाई के रूप में।
- (ii) भारतीय ग्राम समुदाय में छोटी-छोटी सम्बन्धित इकाई के रूप में।

गाँव की सामाजिक संरचना में दूबे नातेदारी, जाति तथा भागैलिक सीमा के सम्बन्ध को महत्वपूर्ण मानते हैं।

जैसा कि मेटकॉफ ने लिखा है कि-भारतीय गाँव बंद और विलगित रहे। वह आगे लिखता है कि युद्ध इनके ऊपर होकर गुजरते रहे। शासनों का भी उत्थान और पतन हुआ परन्तु एक समाज के रूप में गाँव हमेशा 'अपरिवर्तित', अप्रभावित तथा स्वावलम्बी बने रहे हैं।

परन्तु हाल में किये गये ग्रामीण अध्ययन के विषय में मानवविज्ञानी समाजशास्त्रियों अध्ययनों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि भारतीय गाँव शायद ही कभी गणराज्य रहा हो और न ही यह कभी स्वावलम्बी रहा है।

इसका सम्पर्क वृहत्तर समाज से रहा। जैसे-प्रवजन, वैवाहिक सम्बन्ध कार्य और व्यापार के लिए संचलन, प्रशासनिक सम्पर्क अन्तर-क्षेत्रीय बाजार प्राचीन समय में भी अन्तर गाँव आर्थिक और जाति सम्पर्क और धार्मिक तर्थाटन मौजूद थे जो गाँव को पड़ोसी गाँवों और वृहत्तर समाज से जोड़े रहते थे।

मेण्डलबॉम ने भारतीय ग्रामों के विषय में अपने अध्ययन में बताया कि बाहरी दुनिया से बढ़ते हुए सम्पर्कों के बावजूद भी गाँव अभी भी एक मौलिक सामाजिक इकाई है। गाँव में रहने वाले लोगों के बीच एक आपसी आम पहचान की भावना होती है। उनमें पारिवारिक, सामाजिक आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में जाति तथा वर्ग स्तर पर अतः गाँव सम्बन्ध होते हैं तथा ग्रामीण जीवन परस्पर आदान-प्रदान, सहयोग, प्रभुता और प्रतिस्पर्धा की विशेषताओं से जुड़ा हुआ है। कृषिक सामाजिक संरचना-ग्रामीण समाज में कृषि उत्पादन और कृषि संरचना के बीच एक सीधा सम्बन्ध होता है। ऐसे क्षेत्र जहाँ सिंचाई की पर्याप्त व्यवस्था होती है, जहाँ काफी वर्षा होती है जहाँ सिंचाई के कृत्रिम साधन हों (जैसे-चावल उत्पादन करने वाले क्षेत्र जो नदी के मुहाने (डेल्टा) पर होते हैं जैसे तमिलनाडु में कावेरी बेसिन।) वहाँ गहन कृषि के लिए अधिक श्रमिकों की आवश्यकत होती है। यहाँ बहुत असमान कृषिक संरचना विकसित हुई।

बड़ी संख्या में भूमिहीन मजदूर जो कि अधिकांशतः बंधुआ और निम्न जाति के होते हैं इस क्षेत्र की कृषीय संरचना के लक्षण थे। भूमि स्वामित्व के विभाजन अथवा संरचना सम्बन्ध के लिए अक्सर कृषिक संरचना का उपयोग किया जाता है। क्योंकि ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि योग्य भूमि ही उत्पादन का सबसे महत्वपूर्ण स्रोत है; भूमि रखना ही ग्रामीण वर्ग संरचना को आकार देता है।

ग्रामीण समाज के अध्ययन में कृषक समाज को प्रायः उनकी वर्ग संरचना द्वारा पहचाना जाता है जो कि जाति व्यवस्था द्वारा संरचित होता है। ग्रामीण क्षेत्रों में जाति और वर्ग के सम्बन्ध प्रायः जटिल माने जाते हैं परन्तु अधिकांशतः समाजों में यह सम्बन्ध स्पष्ट रूप से दृष्टिगत नहीं होता है। प्रायः यह अवधारणा प्रचलित होती है कि ऊँची जाति वाले लोगों के पास अधिक भूमि तथा धन होता है तथा जाति एवं वर्ग में पारस्परिक सम्बन्ध पाया जाता है परन्तु यह पूर्णतः सत्य नहीं है। जैसे कई जगहों पर वर्ण व्यवस्था में स्थापित उच्च श्रेणीक्रम में ब्राह्मण जाति बड़े भू-स्वामी नहीं है। अतः वे कृषिक संरचना से बाहर हो गये परन्तु फिर भी वे ग्रामीण समाज का अंग है। भारत में अधिकांशतः भूस्वामी वर्ग वाले समूह के लोग 'शूद्र' या 'क्षत्रिय' वर्ण के हैं। एम०एन० श्रीनिवास ने अपने सामाजिक अध्ययन में यह स्पष्ट किया कि सामान्यतः भारतीय ग्रामीण समाज में एक या दो जातियों के लोग ही भूमि स्वामी होते हैं जिन्हें श्रीनिवास ने प्रबल जाति का नाम दिया तथा अपने अध्ययन में उन्होंने दर्शाया कि प्रायः यह प्रबल जाति समूह अपने क्षेत्र में काफी शक्तिशाली होता है तथा स्थानीय लोगों पर आर्थिक-राजनीतिक रूप से प्रभुत्व बनाए रखता है।

जैसे-उत्तर प्रदेश में जाट और राजपूत, कर्नाटक के वीक्कालिंगास और लिगांयत, आन्ध्र-प्रदेश के कम्मास तथा रेड्डी और पंजाब में जाट सिख प्रबल भूस्वामी समूहों के उदाहरण हैं। प्रायः देखा जाता है कि प्रबल भूमि-स्वामी समूह ऊँची तथा मध्य जातियों के होते हैं। अधिकांश सीमान्त किसान तथा भूमिहीन लोग निम्न जाति के होते हैं।

प्रायः प्राचीन समय में भारत के कई भागों में देखा जाता था कि अछूत अथवा दलित जाति के लोगों को भूमि रखने का अधिकार नहीं होता था। वे अधिकांशतः प्रबल जातियों जो कि भू-स्वामी समूह हुआ करता था के यहाँ कृषि मजदूर रहते थे।

जाति तथा वर्ग में प्रायः खराब अनुरूपता थी। सबसे अच्छी जमीन प्रायः कुछ भूस्वामियों के पास होती थी। अतः ग्रामीण आर्थिक एवं शक्ति का नियन्त्रण तथा विशेषाधिकार इन्हीं के पास होता था तथा मजदूर वर्गों पर इनका नियन्त्रण होता था। उत्तराधिकार के नियमों तथा पितृवंशीय नातेदारी व्यवस्था के कारण भारत के अधिकांश भागों में महिलाएँ जमीन की मालिक नहीं होती थीं। ग्रामीण परिवारों में प्रायः देखा जाता है कि श्रम विभाजन में प्रायः पुरुषों की प्रधानता होती है। श्रीनिवास ने अपने अध्ययन में प्रायः बताया कि ऊँची जाति की महिलाएँ चहारदीवारी के भीतर सीमित थी। स्त्री का सामाजिक संसार प्रायः परिवार एवं नातेदारी तक सीमित होता है जबकि पुरुष का संसार बाहरी दुनिया में भी असीमित था।

**कृषक वर्ग संरचना**—कृषीय वर्ग और श्रेणियाँ वे समाज हैं जो अपने जीवन निर्वाह के मुख्य स्रोत के रूप में अधिकतर कृषि पर निर्भर करते हैं। कृषीय बस्तियाँ और लोगों के समूह अपनी जीविका के लिए भूमि पर खेती तथा इससे सम्बन्धित गतिविधियों जैसे पशुपालन करके निर्भर करते हैं। अन्य आर्थिक गतिविधियों की तरह ही कृषि उत्पादन भी स्पष्टतः एक आर्थिक गतिविधि है और इस प्रकार यह सामाजिक सम्बन्धों के ढांचे के अन्तर्गत की जाती है। भूमि की खेती में संलग्न व्यक्ति विभिन्न सामाजिक सामर्थ्यों में से एक-दूसरे से अन्तर्क्रिया करते हैं। लोगों की विभिन्न श्रेणियों तथा वर्गों की सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक अन्तःक्रिया एक संस्थात्मक संरचना के अन्तर्गत होती है। कृषीय समाजों की संस्थागत व्यवस्था का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू है—भू-स्वामित्व के स्वरूप और जिन व्यक्तियों के पास भूमि है तथा जो लोग भूमि पर जोत करते हैं या वास्तविक खेती करते हैं उनके बीच सम्बन्धों का स्वरूप। किसी भी कृषीय संरचना में सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू है मजदूर की नियुक्ति का रूप और मजदूर का अपने नियोजक किसानों या भू-स्वामियों के साथ सम्बन्ध का स्वरूप कैसा है? भूमि के स्वामियों और उनको विविध प्रकार की सेवाएँ प्रदान करने वाले या मजदूरों के बदले काम करने वाले व्यक्तियों के बीच सम्बन्धों के ये स्वरूप कृषीय वर्ग संरचना कहलाते हैं। परन्तु कृषीय समाजों की सामाजिक संरचना में विभिन्न प्रकार की विविधताएँ देखी जाती हैं। कृषीय वर्ग संरचना का स्वरूप प्रत्येक क्षेत्र में अलग-अलग होता है। आजकल अधिकांश समाजों में कृषीय संरचनाओं में परिवर्तन हो रहे हैं। पश्चिम के सर्वाधिक विकसित समाजों में कृषि एक सीमान्त सेक्टर बना गया है तथा उनकी कामकाजी जनसंख्या का छोटा अनुपात इस सेक्टर को क्रियान्वित करता है परन्तु विकासशील देशों (भारत) में आज जनसंख्या का एक बड़ा अनुपात कृषि-क्षेत्र को नियोजित करता है। कृषि-वर्ग संरचना के अध्ययन में विद्वानों के एक समूह द्वारा कृषि समाजों का वर्ग के सन्दर्भ में विश्लेषण करने की आलोचना प्रस्तुत करता है।

उनके अनुसार कृषक समाज जनसमूह का 'एक प्रकार' है जो आधुनिक शहरी औद्योगिक समाजों से मूल रूप से भिन्न है। कुछ विचारकों के समूह द्वारा यह धारणा प्रस्तुत की गयी कि कृषक-समाज पूर्व-औद्योगिक स्वरूप (1945) है। औद्योगिक क्रान्ति के प्रारम्भ के साथ-साथ जब अर्थशास्त्र विकसित हुआ, पारम्परिक 'कृषक जीवन शैली' में धीरे-धीरे परिवर्तन होने लगा तथा इनकी जीवन शैली आधुनिक जीवन शैली ने ले ली। थेओडोर शानीन (1987) ने कृषक समाज का एक 'आदर्श प्रारूप' विकसित किया। उन्होंने किसानों को 'लघु-कृषक उत्पादकों के

रूप में परिभाषित किया, जो साधारण उपकरणों और अपने परिवार के सदस्यों के श्रम की सहायता से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तौर पर, अधिकतर अपने स्वयं के उपभोग के लिए राजनीतिक तथा आर्थिक शक्ति के धारकों के आभार की पूर्ति के लिए उत्पादन करते हैं। कृषीय समाज विभिन्न स्तरों में आन्तरिक रूप से विभेदित भी था जैसे-भारत में, ग्रामीण समाज विभिन्न जाति समूहों में विभाजित था और केवल कुछ समूहों को ही भूमि पर खेती करने का अधिकार प्राप्त था जबकि अन्य जातियाँ उनको सेवाएँ प्रदान करने को बाध्य थीं। समकालीन कृषि समाज में परिवर्तन होने से कृषि में बढ़ते मशीनीकरण, उच्च-प्रौद्योगिकी और संचार सभी के कारण अन्तःक्रिया के सामाजिक जालतंत्र के स्वरूप में बदलाव हुआ है। 'नकदी फसल' का भाव प्रारम्भ किया गया है जिसने अमीर-गरीब के बीच की दूरी को बढ़ावा दिया है इसलिए सामाजिक असमानताएँ बढ़ी हैं, सामन्ती महत्व समाप्त हुआ है लेकिन फिर भी बाजार सम्बन्ध ग्रामीण कृषि क्षेत्र में प्रारम्भ हो गये हैं। पारम्परिक रूप से भारत में कृषीय समाजों में 'जजमानी प्रथा' नामक सम्बन्धों का एक प्रतिरूप विद्यमान था जिसमें कार्य के सन्दर्भ में विभिन्न वर्ग एक दूसरे पर परस्पर आश्रित थे। भूस्वामी संरक्षक या जजमान थे तथा सेवा प्रदान करने वाली जातियाँ 'बामिन' थी जैसे- बड़ई, लोहार आदि। धीरे-धीरे स्वतंत्रता के पश्चात् इस प्रथा का हास हो गया। यह हास दो महत्वपूर्ण कारणों से हुआ।

### 1. हरित क्रान्ति

2. जमींदारी प्रथा का उन्मूलन स्वतंत्रता के पश्चात् भारत-सरकार द्वारा प्रारम्भ की गयी आधुनिकीकरण और विकास की प्रक्रिया ने पारम्परिक सामाजिक संरचना को कमजोर कर दिया। समकालीन भारतीय समाज में जाति एक महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था तो बनी हुयी है लेकिन आर्थिक जीवन को व्यवस्थित करने की प्रणाली के रूप में इसका महत्व लगभग समाप्त हो गया है। कृषीय वर्ग/संरचना अभी भी वही है लेकिन यह पारम्परिक रूप की भाँति अब जाति द्वारा परिभाषित नहीं की जाती। नीची जातियों के भूमिहीन सदस्य कृषि मजदूरों के रूप में अब कृषि करने वाले किसानों के साथ काम करते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि इस अर्थ में भारतीय ग्रामीण क्षेत्र में जाति ने वर्ग को जगह दे दी है। थोर्नर ने भारत के कृषि जनसमूह को विभिन्न श्रेणियों में विभाजित करने के तीन मानक लिए-

1. भूमि से कमाई गये आय का प्रकार-किराया, मजदूरी।
2. भूमि में निहित अधिकारों का स्वरूप -स्वामित्व, काश्तकार
3. निर्धारित कृषि कार्य की सीमा-मजदूरी कमाने के लिए दूसरों के लिए किया कार्य। उपर्युक्त मानकों के आधार पर।

---

## 12.3 समुदाय के प्रकार

---

डेनियल थोर्नर ने कृषि वर्ग संरचना (भारत) का मॉडल दिया-

1. **मालिक**-जिनको भूमि से आय प्राप्त होती है जिनकी रूचि यह होती है कि किरायों का उच्च स्तर बना रहे परन्तु मजदूरी का स्तर कम रहे। इनकी दो श्रेणियाँ हैं-(क) बड़े भू-स्वामी-जिनका बड़े भू-भागों पर अधिकार होता है। जो कई गांवों में फैले हुए होते हैं। (ख) धनी भू-स्वामी-जिनके पास पर्याप्त मात्रा में जोत क्षेत्रों का

स्वामित्व होता है लेकिन यह सामान्यतः उसी गांव में होता है।

2. **किसान**—वे कामकाजी किसान जो भूमि के लघुखण्डों के स्वामी होते हैं और अधिकतर अपने परिवार के सदस्यों के परिश्रम से खेती का कार्य करते हैं। ये दो श्रेणियों में विभाजित हैं—(क) लघु भू-स्वामी-जिनके पास परिवार की सहायता के लिए पर्याप्त होता है। (ख) वास्तविक काश्तकार-जिनके पास किसी भी भूमि का स्वामित्व तो नहीं होता पर वे पर्याप्त रूप से बड़े जोतक्षेत्र पर खेती करते हैं।

3. **मजदूर**—जिनके पास अपनी कोई भूमि नहीं होती है जो अन्य लोगों के साथ मजदूर या बटाईदार के रूप में काम करके अपनी जीविका कमाते हैं।

**औद्योगिक वर्ग संरचना**—1. आधुनिक उद्योगों का आरम्भ भारत में अंग्रेजी शासन से हुआ लेकिन यह विदेशी पूंजी द्वारा नियंत्रित किया जाता था। इस प्रकार भारत की सामाजिक संरचना में पूंजीपतियों के एक नये वर्ग का जिसमें वाणिज्यिक एवं वित्तीय पूंजीपति थे उद्भव हुआ।

2. अंग्रेजी शासनकाल के दौरान धीरे-धीरे भारतीय पूंजीपतियों ने संचित पूंजी को उन्नत होते देशी उद्योगों में निवेश किया तथा स्वतंत्र औद्योगिक वर्ग का निर्माण किया।

3. नगरीय क्षेत्रों में दो और भी हैं—(क) छोटे व्यापारियों एवं दुकानदारों का जो आधुनिक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था से जुड़ा हुआ है। (ख) नई शिक्षा एवं प्रशासनिक व्यवस्था के फलस्वरूप शिक्षित मध्यम वर्ग का है जिनमें पेशेवर लोग-वकील, डॉक्टर इंजीनियर, तकनीकीविद्, प्रोफेसर, शिक्षक, क्लर्क एवं कार्यकर्ता समूह।

4. नगरीय श्रमिक दो भागों में विभाजित हैं— (क) वे श्रमिक जो संगठित क्षेत्र में हैं। (ख) वे श्रमिक जो असंगठित क्षेत्र में हैं। संगठित क्षेत्र की विशेषताएँ हैं—बड़ी मात्रा में पूंजी, मजदूरी, आधुनिक तकनीक, सार्वजनिक एवं स्वामित्व, उत्पादन एवं श्रमिकों के लिए नियंत्रित एवं सुरक्षित बाजार, कुशल श्रम इत्यादि। असंगठित क्षेत्र की विशेषताएँ हैं—छोटे स्तर की क्रियाएँ निजी या छोटे स्वामित्व, श्रम पर आधारित और पिछड़ी तकनीक, अकुशल या अर्धकुशल श्रमिक, अनियमित बाजार तथा असुरक्षित श्रम इत्यादि।

5. औद्योगिक वर्ग संरचना में व्यवसायी वर्ग की उत्पत्ति, भारत में औद्योगीकरण एवं शहरीकरण के परिणामस्वरूप जटिल आर्थिक गतिविधियों के उपरान्त हुयी। इसी के साथ देश में बनी जटिल संस्थात्मक संरचना के निर्माण के कारण योग्यता आधारित व्यवसायिक वर्ग जिसमें—प्रबन्धक चिकित्सक, वकील, शिक्षक आदि का जन्म हुआ है जिनकी सामाजिक स्थिति शारीरिक श्रम करने वालों की अपेक्षा अधिक अच्छी है।

1. **उपभोक्ता सहकारी समितियाँ**—इस प्रकार की समितियाँ उपभोक्ताओं को उचित मूल्य पर उपभोक्ता वस्तुएँ उपलब्ध करवाती हैं। ये समितियाँ आम उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा के लिए बनायी जाती हैं। ये सीधे उत्पादकों तथा निर्माताओं से सामान खरीदकर विवरण शृंखला से मध्यस्थी का उन्मूलन कर देती हैं। कुछ सहकारी समितियों के उदाहरण हैं जैसे—केन्द्रीय भण्डार, अपना बाजार, सुपर बाजार आदि।

**2. उत्पादक सहकारी समितियाँ**—ये समितियाँ छोटे उत्पादक को उत्पादन के लिए कच्चा माल, मशीन, औजार उपकरण आदि की आपूर्ति करके उनके हितों की रक्षा के लिए बनायी जाती हैं। हरियाणा हैण्डलूम, बयानिका एपको आदि उत्पादक सहकारी समितियाँ हैं।

**3. सहकारी विपणन समितियाँ**—ये समितियाँ उन छोटे उत्पादकों और निर्माताओं द्वारा बनायी जाती हैं जो अपने माल को स्वयं बेच नहीं सकते। समिति सभी सदस्यों से माल इकट्ठा करके उसे बाजार में बेचने का उत्तरदायित्व लेती है। अमूल दुग्ध पदार्थों का विपणन करने वाली ऐसी ही समिति है।

**4. सहकारी वित्तीय समितियाँ**—इस प्रकार की समितियों का उद्देश्य सदस्यों को वित्तीय सहायता उपलब्ध कराना है जैसे— ग्राम सेवा सहकारी समिति, सहकारी ऋण समिति।

**5. सहकारी सामूहिक आवास समितियाँ**—ये आवास समितियाँ अपने सदस्यों को आवासीय मकान उपलब्ध कराने हेतु बनायी जाती हैं। इसके अतिरिक्त भारत में सहकारी साख समितियाँ सहकारी कृषि समितियाँ तथा बहुउद्देशीय जनजातीस सहकारी समितियाँ कार्यरत हैं।

## 12.4 ग्रामीण परिदृश्य की विशेषताएं

भारत में ग्राम समुदाय की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

**1. सामाजिक सगठन के मामले :** भारत में साढ़े पाँच लाख से अधिक गाँव हैं। भारत की अस्सी फीसदी आबादी इन गाँवों में रहती है। इसलिए, हर मामले में भारत का भविष्य गाँवों के विकास से बहुत जुड़ा हुआ है।

**2. लोगों का समूह :** ग्राम समुदाय लोगों के एक समूह को दर्शाता है जिसमें लोग किसी विशेष हित में भाग नहीं लेते हैं। दूसरी ओर, वे एक आम जीवन की बुनियादी शर्तों को साँझा करते हैं।

**3. निश्चित इलाके :** स्थानीयता ग्राम समुदाय का भौतिक आधार है। लोगों का एक समूह ग्राम समुदाय तभी बनाता है जब वह एक निश्चित इलाके में निवास करने लगता है।

**4. छोटे आकार :** ग्राम समुदाय आकार में छोटे होते हैं। भारत में जनगणना 5000 निवासियों के साथ एक स्थान को एक ग्राम समुदाय के रूप में नामित करती है। 80% भारतीय गाँवों में प्रत्येक की आबादी 1000 से भी कम है।

**5. पड़ोस का महत्व :** पड़ोस का रिश्ता गाँव के जीवन की एक और महत्वपूर्ण विशेषता है। ग्रामीण कारकों की ओर से छोटी निकटता में रहने वाले दो कारक और ग्रामीण सेटिंग में उपलब्ध साथी भावना, दोस्ती, सहानुभूति और प्रेम का माहौल, गाँव में पड़ोस के रिश्ते को बढ़ावा देते हैं। जहाँ तक ग्राम समुदाय का संबंध है, प्रत्येक व्यक्ति अपने पड़ोसी से प्रेम करता है क्योंकि वह स्वयं से प्रेम करता है। वह वास्तव में, अपने पड़ोसी को उससे दूर रहने वाले रिश्तेदारों से अधिक महत्वपूर्ण मानता है। वह हमेशा किसी भी मुश्किल स्थिति का सामना करने में अपने

पड़ोसी का साथ देता है।

**6. सामुदायिक भावना :** सामुदायिक भावना ग्राम समुदाय का बहुत सार है। ग्रामीण लोग अपनेपन और भावना की एक मजबूत भावना प्रदर्शित करते हैं। अक्सर “मेरा अपना गाँव” ऐसी सामुदायिक भावना की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। इसके अलावा, सदस्यों को शारीरिक और मनोवैज्ञानिक संतुष्टि दोनों के लिए समुदाय परनिर्भरता की भावना है।

**7. प्राथमिक संबंधों का मुख्य विषय :** एक ग्राम समुदाय को अक्सर एक प्राथमिक समूह माना जाता है। यह व्यक्तिगत और इस तरह के अपेक्षाकृत टिकाऊ संबंधों की प्रबलता की विशेषता है। मानवीय संबंधों में तुलनात्मक सरलता और ईमानदारी है। गाँव समुदाय के संदर्भ में रिश्तेदारी समूह महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

**8. संयुक्त परिवार प्रणाली :** संयुक्त परिवार प्रणाली अभी भी गाँव समुदाय में बुनियादी संरचनात्मक इकाई बनाती है। सभी सदस्य एक ही छत के नीचे एक साथ रहते हैं, आम चूल्हा में पकाया गया भोजन लेते हैं, एक साथ संपत्ति रखते हैं, आम पूजा में भाग लेते हैं और एक-दूसरे से कुछ विशेष प्रकार के संबंध रखते हैं। यह पाया जाता है कि गाँवों में संयुक्त परिवारों की संख्या कस्बों और शहरों की तुलना में बहुत अधिक है।

**9. विवाह :** अधिकांश भाग के लिए ग्रामीण, एंडोगैमी का अभ्यास करते हैं। गेट के चयन के मामलों में लड़के और लड़कियों दोनों की ओर से या तो बहुत कम या बिल्कुल ही नाममात्र की स्वतंत्रता है।

**10. कृषि अर्थव्यवस्था :** ग्रामीण भारत में कृषि सबसे बड़ा व्यवसाय है। यह अनिवार्य रूप से ग्रामीणों के लिए उनके सामाजिक जीवन की पूरी विद्या, दैनिक दिनचर्या, आदतें और दृष्टिकोण के रूप में जीवन का एक दौर है। ग्रामीण आबादी का एक छोटा वर्ग गैर-कृषि व्यवसायों पर निर्भर करता है जैसे कि उनकी आजीविका के लिए बड़ईगीरी, मिट्टी के बर्तन, टोकरी बनाना आदि लेकिन ये व्यवसाय भी अप्रत्यक्ष रूप से कृषि के प्रमुख व्यवसाय से संबंधित हैं।

**11. जाति व्यवस्था :** जाति व्यवस्था भारतीय ग्राम समुदाय की एक अनूठी विशेषता है। यह ग्रामीण लोगों की भूमिका, स्थिति, व्यवसाय और वैवाहिक संबंधों को निर्धारित करता है। जाति व्यवस्था ग्रामीणों पर ऐसे निर्णायक प्रभाव डालती है कि इसे ग्राम जीवन का “अल्फा और ओमेगा” कहा जाता है।

**12. जजमनी प्रणाली :** जजमनी प्रणाली भारत में ग्राम जीवन की एक और विशिष्टता है। इस प्रणाली के तहत, एक जाति या कई जातियों के सदस्य अन्य जातियों के सदस्यों को अपनी सेवाएँ प्रदान करते हैं। जिन लोगों को ऐसी सेवाओं की पेशकश की जाती है, उन्हें ‘जजमान’ कहा जाता है और जो लोग अपनी सेवाएँ देते हैं, उन्हें ‘परजन’ या ‘कमिंस’ के रूप में जाना जाता है।

कमिंस का भुगतान फसलों का अनाज के रूप में सालाना या अर्ध-वार्षिक रूप से किया जाता है। शादी, जन्म और मृत्यु जैसे अनुष्ठान अवसरों पर, कमिंस को अतिरिक्त मजदूरी का भुगतान किया जाता है। जजमनी संबंध विभिन्न जातियों के परिवारों को एक वंशानुगत, स्थायी और कई रिश्तों में बांधता है। देर से, भारत में

सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों से प्रणाली बहुत कमजोर हो गई है।

**13. सरल जीवन :** यह देखना दिलचस्प है कि आज के भौतिकवादी युग में भी, गाँव में आम तौर पर स्वीकृत आदर्श सरल जीवन और उच्च सोच में से एक है। ग्रामीण एक सरल और सादे लोग हैं। उनका जीवन शांत और शांतिपूर्ण है।

**14. धर्म में आस्था :** गाँव के जीवन में धर्म एक सर्वोपरि भूमिका निभाता है। गाँव के जीवन की प्रत्येक महत्वपूर्ण गतिविधि जैसे बुवाई, फसलों की कटाई, जन्म, विवाह, बीमारी, मृत्यु इत्यादि में धार्मिक प्रभाव स्पष्ट है। ऐसे सभी अवसरों पर, ग्रामीण 'पूजा', 'मेला' या के रूप में धार्मिक अनुष्ठान करते हैं। कीर्तन। इस तरह, गाँवों में धर्म के प्रति आस्था बहुत मजबूत है।

**15. पंचायत :** एक राजनीतिक और सामाजिक इकाई के रूप में गाँव के कामकाज ने विभिन्न जातियों के सदस्यों को एक साथ लाया। कानून और व्यवस्था के रख-रखाव, विवादों का निपटारा, त्योहारों का उत्सव और सड़कों, पुलों और टैंकों के निर्माण सहित विभिन्न ग्राम पंचायत ने पारंपरिक ग्राम पंचायत का गठन किया। दूसरी ओर, जाति के नियमों, संपत्ति और पारिवारिक विवादों और गंभीर प्रकृति की अन्य गतिविधियों से संबंधित मामलों को जाति पंचायत द्वारा निपटा दिया जाता था।

**16. समरूपता :** जनसंख्या की एकरूपता ग्राम समुदायों की एक और महत्वपूर्ण विशेषता है। एक गाँव के सदस्य अपने पहनावे, भाषण, विश्वास, मूल्य, दृष्टिकोण और व्यवहार में समानता प्रदर्शित करते हैं।

**17. अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण :** ग्राम समुदायों में, सामाजिक नियंत्रण अनौपचारिक और प्रत्यक्ष है। परिवार, पड़ोस जैसे प्राथमिक समूह गाँवों में सामाजिक नियंत्रण की शक्तिशाली एजेंसियों के रूप में कार्य करते हैं। पारंपरिक ग्राम पंचायत और जाति पंचायत भी समुदाय के धर्मपरायण सदस्यों पर अधिक नियंत्रण रखते हैं।

**18. गतिशीलता :** ग्रामीण आबादी की क्षेत्रीय, व्यावसायिक और सामाजिक गतिशीलता सीमित है। इसका कारण ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा के संतोषजनक प्रसार की कमी को माना जाता है।

**19. महिलाओं की स्थिति :** आमतौर पर गाँवों में महिलाएँ ज्यादा शिक्षित नहीं हैं और उनकी सामाजिक स्थिति कस्बों में उनके समकक्षों की तुलना में कम है। बाल विवाह की व्यापकता, संयुक्त परिवार प्रणाली, पारंपरिक आदर्श, पुराने मूल्य और महिलाओं में शिक्षा की कमी जैसे कारक महिलाओं की निम्न स्थिति के लिए जिम्मेदार हैं।

**20. जीवन स्तर :** सकल गरीबी और पर्याप्त रोजगार के अवसरों की कमी के कारण, ग्रामीण लोगों के जीवन स्तर बहुत कम है। इसलिए उनमें से ज्यादातर के पास घर की सुविधाएँ और मनोरंजक सुविधाएँ नहीं हैं।

**21. संस्कृति :** जहाँ तक ग्राम समुदाय का संबंध है, शहरों की तुलना में संस्कृति अधिक स्थिर है। धर्म और अनुष्ठानों से अधिक महत्व जुड़ा हुआ है। ग्रामीण लोग शहरी लोगों की तुलना में अधिक घातक पाए जाते हैं।

**22. प्राचीन संस्कृति के संरक्षक :** समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से, गाँव महत्वपूर्ण हैं क्योंकि वे भारतीय समाज की प्राचीन संस्कृति को संरक्षित करते हैं। भारत में ग्रामीण अभी भी पुरुषार्थ के सिद्धान्त और कर्म के सिद्धान्त के



उदात्त आदर्शों में विश्वास रखते हैं।

**23. स्थिरता और निरंतरता :** भारत में ग्राम समुदाय अपेक्षाकृत अधिक स्थिर हैं। इसका कारण संभवतः ग्रामीण जीवन के सापेक्ष स्थिर चरित्र को माना जाता है—व्यवहार के मानदंड, पारिवारिक संबंधों के रीति-रिवाज, सामुदायिक जीवन की परंपराएँ आदि। ठीक है, ये एक ग्राम समुदाय की सबसे महत्वपूर्ण विशेषताएँ हैं। गाँव में जीवन अधिक प्राकृतिक और व्यवस्थित है।

---

## सारांश

---

व्यापक रूप में प्रतिदर्श की चयन प्रक्रिया दो मुख्य सिद्धांतों पर आधारित है। मानव संसार व्यक्तियों से निर्मित है तथा व्यक्ति अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए एक दूसरे से व्यवहार-आचार की अन्तर्क्रिया करते हैं। इस प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति समाज में प्रतिष्ठा एवं परिस्थिति तथा भूमिकाओं का निर्माण करता है। ग्रामीण सामाजिक शक्ति संरचना जिनमें शक्ति का विकेन्द्रीकरण, पंचायती राज, सामुदायिक विकास योजना के आधार पर विश्लेषण, प्रस्तुत किया गया। ग्रामीण सामाजिक संरचना के अध्ययन में ए.आर. देसाई की महत्वपूर्ण पुस्तक है। योगेन्द्र सिंह की ग्रामीण समुदाय की शक्ति संरचना का अध्ययन योगेश अटल द्वारा मध्य प्रदेश के गाँवों के अध्ययन पर प्रकाशित पुस्तक 'चेजिंग फ्रंटियर ऑफ कास्ट' तथा चुनाव से सम्बन्धित अध्ययन का विश्लेषण किया गया। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर सामाजिक परिवर्तन का उद्द्विकास अर्थात एक निश्चित दिशा एवं अवस्थाओं से गुजरते हुए स्वतः परिवर्तन पर आधारित विश्लेषण उद्द्विकासीय उपागम कहलाता है।

---

## अभ्यास प्रश्नोत्तर

---

### बहुविकल्पीय प्रश्न

- ग्रामीण समुदाय की प्रथम महत्वपूर्ण पुस्तक किसने लिखी थी?
 

(a) विलियम टेनेण्ट	(b) विलियम बेंटेक
(c) डेविड	(d) मजूमदार
- अधिकतर बंधुआ मजदूर किस वर्ग से आते हैं?
 

(a) ऊँची जाति	(b) निम्न जाति
(c) प्रतिष्ठित समाज	(d) अमीर जाति
- भू-स्वामी कौन होते हैं?
 

(a) छोटे किसान	(b) बड़े किसान
(c) धनी वर्ग	(d) वास्तविक काश्तगार
- ग्रामीण समुदाय में विवाह किस प्रकार होते हैं?

- (a) अपनी जाति में (b) दूसरी जाति में  
(c) दूसरे वर्ण में (d) अपने गाँव में

5. अधिक स्थिर संस्कृति कहाँ मिलती है?

- (a) नगरीय समुदाय (b) ग्रामीण समुदाय  
(c) अर्द्धनगरीय समुदाय (d) विश्व समुदाय

### लघु उत्तरीय प्रश्न

1. भारत में ग्रामीण समुदाय का अध्ययन क्यों और किन आधारों पर किया जाता है?
2. भारतीय ग्रामीण समुदाय के अध्ययन के इतिहास पर टिप्पणी कीजिए।
3. ग्रामीण समुदाय के प्रकारों का वर्णन कीजिए।
4. ग्रामीण समुदाय की विशेषताएँ बताइए।
5. ग्रामीण समुदाय में कृषक की भूमिका समझाइए।

---

### संदर्भ पुस्तकें

---

1. समाजशास्त्र कक्षा-11 एनसीईआरटी
2. समाजशास्त्र कक्षा-12 एनसीईआरटी
3. जनसंख्या भूगोल, आर.सी. चांदना
4. समाज की समझ, योगेश अटल
5. समाजशास्त्र-अवधारणा एवं सिद्धांत, जे.पी. सिंह